गुरुकुल-पत्रिका 2007 Mar.—Aug.

॥ ओ३म् ॥

गुरुकुल पत्रिका

मार्च, अप्रैल, मई 2007

सम्पादक

प्रो० महावीर

अध्यक्ष संस्कृत-विभाग
एवं
अध्यक्ष प्राच्य-विद्या-संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार-२४९४०४

रजि0 पंजीकरण सं0 : एल - 1277

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

मार्च, अप्रैल, मई

2007

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

अध्यक्ष, प्राच्य विद्या संकाय

कुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार - २४९४०४

सम्पादक मण्डल

मुद्रक : किरण ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334 - 245975

विषयानुक्रमणिका

सम्पादकीय

प्रो0 महावीर
अध्यक्ष- संस्कृत विभाग
डीन, प्राच्य विद्या संकाय

संसार में प्रत्येक मानव दर्शनीय, महान् एवं श्रेष्ठ बनने की इच्छा रखता है। सभी प्राणी सुख की अभिलाषा रखते हुए दु:खों से दूर रहना चाहते हैं, सब शान्ति की कामना करते हैं कोई अशान्त नहीं होना चाहता, किन्तु हम देखते हैं कि चहुँ ओर दु:ख और अशान्ति की मात्रा बहुत अधिक है सुख शान्ति बहुत कम है। सुन्दर और दर्शनीय बनने के लिए मानव असंख्य भौतिक साधनों का प्रयोग करता है किन्तु कृत्रिम उपायों से प्राप्त होने वाली सुन्दरता और दर्शनीयता नितान्त अस्थायी होती है। वेदमाता ने ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऐसी साधना और ऐसे उपाय बताये हैं, जिनको अपने जीवन में उतारकर नर और नारी महान् और दर्शनीय बन सकते हैं- मन्त्र इस प्रकार है-

ओ३म् त्वं सोम! क्रतुभि: सुक्रतुर्भूस्त्वं दक्षै: सुदक्षो विश्ववेदा:।

त्वं वृषा वृषत्वेभिर्महित्वा द्युम्नेभिर्द्युम्न्यभवो नृचक्षा:। (ऋग्.1.91.2)

जब किसी नगर वा ग्राम में कोई दर्शनीय व्यक्ति आता है, तो समग्र जनता उसके दर्शनों के लिए उमड़ पड़ती है। दर्शक और दर्शनीय दोनों धन्य हो जाते हैं किन्तु जो साधना, तपस्या एवं वेदमाता के उपदेशों को अपने आचरण में उतारकर दर्शनीय हो गये हैं उनका जीवन तो पूर्णत: सफल है। सुन्दर--सुन्दर वस्त्रों आभूषणों या कृत्रिम प्रसाधन साधनों से कोई दर्शनीय नहीं होता, अपितु आन्तरिक गुणों से वह सबकी आंखों का नूर बनता है। वेदमाता कहती है-

सोम! त्वं क्रतुभि: सुक्रतुर्भू:-यहाँ प्रभु ने मानव को सोम कहकर पुकारा है। सम्बोधन में बड़ी शक्ति होती है। प्यार भरा सम्बोधन अपरिचित को भी मित्र बना देता है। सोम अर्थात् सौम्य, शान्त, शीतल बनकर ही किसी से कुछ प्राप्त किया जा सकता है, अत: कहा गया-सोम-चन्द्रमा- चन्द्रमा के समान शीतल स्वभाव वाला।

सोम! तुम क्रतुओं से सुक्रतु बनो। क्रतु का अर्थ है कर्म, प्रज्ञा और यज्ञ। अभिप्राय हुआ-यज्ञीय अर्थात् परोपकार की भावना से प्रज्ञा अर्थात् बुद्धिपूर्वक, सोचविचारकर श्रेष्ठ कर्म करने वाले बनो। इदन्न मम की भावना से विवेक पूर्वक किया हुआ सुकर्म, मानव को महान् बनाता है।

त्वं-दक्षै: सुदक्ष:- तुम दक्षताओं से सुदक्ष बनो। दक्ष का अर्थ है - उदारता, कुशलता। अपने कर्मों की कुशलता तथा हृदय की उदारता, विशालता से सुदक्ष बनो। कर्म करने में सुदक्ष गृहिणी साधनों के अभाव में भी अपने घर को दर्शनीय बना देती है। चन्डीगढ का रॉक गार्डन

इसका एक उत्तम उदाहरण है जहाँ एक कुशल शिल्पी ने अपनी दक्षता से घर की टूटी-फूटी वस्तुओं से विश्व का दर्शनीय स्थान बना दिया है, जो लाखों, करोड़ों पर्यटकों का मन मोह लेता है।

त्वं वृषत्वेभि: वृषा विधाता ने तुम्हें जो कुछ भी दिया है विद्या, धन, शारीरिक बल आदि उसकी उन्मुक्त रूप से वर्षा करते हुए जीवन सफल बनाओ। सृष्टिकर्त्ता परमात्मा ने प्रत्येक प्राणी को कुछ न कुछ देकर इस संसार में भेजा है अत: यदि तुम्हारे पास ज्ञान है तो ज्ञान के दीप जलाकर अविद्या अन्धकार को भगाओ, धन है तो निर्धनों को भोजन, वस्त्र औषधि आदि प्रदान कर दरिद्र नारायण की सेवा से अपना जीवन सफल करो। यदि ज्ञान और धन नहीं है तो अपने तन से पीड़ितों की सेवा करते हुए जीवन का आनन्द प्राप्त करो। वही मेघ प्रशंसनीय है जो गरजकर और फिर बरसकर धरती की प्यास बुझाता है, केवल गरजने वाला बादल किस काम का?

विश्ववेदा: अधिक से अधिक ज्ञानार्जन का प्रयत्न करते रहें, वैदुष्य प्राप्त कर कभी अभिमान न करें। ज्ञान की कोई सीमा नहीं, वह अनन्त है। इसीलिए कहा गया है-**कणश: क्षणशश्चैव विद्यामर्थं च संचिनुयाद्। 'अकृतार्थ: पतञ्जलि: मामदृष्ट्वा गत:''** मुझसे बिना मिले जाने वाले पतञ्जलि का जीवन व्यर्थ हुआ ऐसा कहकर अपनी विद्वत्ता का अहंकार प्रदर्शित करने वाले भर्तृहरि अभिमान रूपी ज्वर दूर हो जाने पर अत्यन्त विनीत भाव से कहते हैं-

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्ध: समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिदप्तं मम मन:।
यदा किञ्चित् किञ्चित् बुधजन सकाशादवगतं,
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगत:।।

अहंकार मानव का सबसे बड़ा शत्रु है। सद्‌गुणों एवं दैवी संपत्ति से परिपूर्ण जीवन सदैव नम्रता से झुका होता है, अत एव दर्शनीय होता है।

द्युम्नेभि: द्युम्न: अपने अन्दर की द्युति-कान्ति अर्थात् चारित्रिक, नैतिक उज्ज्वलता से जीवन को दीप्तिमान् बनायें। उच्च कुलोत्पन्न होने से अथवा किसी बड़े माता-पिता के पुत्र, पुत्रियां होने से महान् नहीं हो सकते, अत: ज्ञान, चरित्र और साधना से द्युतिमान बनें।

महित्वा अपनी महिमा से महिमाशाली बने। प्रभु ने मानव का जीवन पशुओं की तरह केवल जीवन यापन के लिए नहीं दिया है। **'मानवस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते'**। यह देह रूपी अयोध्या श्रेष्ठ कर्म करने के लिए है, इससे हम उत्तमोत्तम कर्म करते हुए लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि नर नारियों की आंखों के नूर बनकर मानव-जीवन सफल करें।

वर्तमान अंक आपके पावन कर कमलों में अर्पित करते हुए यही प्रार्थना और कामना है कि आप सच्चे अर्थों में परमात्मा के अमृत-पुत्र बनकर महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और रक्त साक्षी पं0 लेखराम की तरह अमर हो जायें।

वेदमञ्जरी

✸ मम दिनानि सुदिनानि सन्तु ✸

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि, चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां, स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्।।

ऋग्0 2.21.6

ऋषि : गृत्समदः। देवता इन्द्रः। छन्दः त्रिष्टुप्।

(इन्द्र) हे ऐश्वर्याधिपते परमेश! (अस्मे) अस्मासु (श्रेष्ठानि द्रविणानि) प्रशस्यतमानि धनानि (धेहि) धारय। किञ्च, (दक्षस्य) बलस्य (चित्तिं) चेतनाम्, (सुभगत्वम्) सौभाग्यम्, (रयीणां पोषं) ऐश्वर्याणां पुष्टिम्, (तनूनाम् अरिष्टिं) शरीराणां नैरोग्यम् अक्षीणतां च, (वाचः स्वाद्मानं) वाण्याः माधुर्यम्, (अह्नां सुदिनत्वं) दिनानां सुदिनतां चापि (धेहि) धारय।

अयि इन्द्र प्रभो! त्वम् अपारस्य ऐश्वर्यस्य अधिपतिः असि, मह्यमपि अपारम् ऐश्वर्यं प्रयच्छ। त्वं मां प्रचुरायाः धनसम्पदः राजानं कृणुहि। परन्तु एषा प्रार्थना तु अपूर्णा वर्तते। किम् एतादृशि उदाहरणानि जगति न सन्ति यद् अनेके जनाः सम्पत्तिं प्राप्य विनाशोन्मुखाः सञ्जाताः। अतो मया एषा प्रार्थना कार्या यत् त्वं मह्यं श्रेष्ठं धनं देहि। मम धनं श्रेष्ठं चेद् भवति तदा तन्मां पतनोन्मुखं न, प्रत्युत उन्नतिशीलं कर्त्तुं सहायकं भविष्यति। किन्तु एकाकिना धनेनाहं जीवने सफलो भवितुं न शक्नोमि, धनेन सह बलमपि इष्यते। बलेन विना अहं नापि धनस्य रक्षां कर्तुं शक्नोमि, न चापि धनस्य सत्कार्येषु उपयोगं कर्तुं पारयामि। अतो मह्यं बलस्य चेतनामपि प्रदेहि। त्वं मां सौभाग्यशालिनमपि कुरु। सर्वतो विपद्भिः हतं, सर्वत्र ताडनाः प्राप्नुवन्तं भाग्यहीनं न कृत्वा एतादृशं कुरु यद् दुर्भाग्यं मम संपद्भ्यः ईर्ष्यां कुर्यात्। त्वं मह्यम् ऐश्वर्याणां पुष्टिमपि प्रयच्छ। मदीयम् ऐश्वर्यं दिने दिने वृद्धिमाप्नुयात्। ममैश्वर्यं चेद् दिने दिने वृद्धिं न गच्छति तर्हि अहं कामं कोटिस्वर्णमुद्राणामपि सम्राड् भवेयम्, एकस्मिन् दिने पुनः दरिद्रो भविष्यामि। परं बाह्यैश्वर्यातिरिक्तम् एकम् आन्तरम् ऐश्वर्यमपि वर्तते, यद् ऐश्वर्याणाम् ऐश्वर्यं प्रोच्यते। मदीयम् एतद् आध्यात्मिकम् ऐश्वर्यमपि वृद्ध्युन्मुखं कुरु। किञ्चाहं त्वां तनूनां नैरोग्यम् अक्षीणत्वं चापि याचे, यतोहि यदि मम शरीरं रोगग्रस्तं दुर्बलं च भविष्यति तर्हि कथमहं धर्मकर्माणि कर्तुं शक्ष्यामि, कथञ्च विपद्ग्रस्तानां साहाय्यं कर्त्तुं पारयिष्यामि।

हे इन्द्र प्रभो! त्वं मह्यं वाचो माधुर्यमपि देहि। वाचः कटुत्वेन जगति महान्तः अनर्थाः उत्पादिताः, अतो मम वाचं कटुत्वात् त्रायस्व। मदीयां वाचं त्वं प्रियां सत्यां मधुरां च विधेहि। अन्ते चाहं प्रार्थये यद् मह्यं दिनानां सुदिनत्वमपि देहि। मम जीवनस्य प्रत्येकं दिनं शिवं सुन्दरम् आह्लादमयं प्रीतिदायकं सुख वर्धकम् उत्साहप्रदं च स्यात्। मम राष्ट्रस्य प्रत्येकं दिनं गौरवमयं विजयोल्लासेन परिपूर्णं च भवेत्।

आचार्यः रामनाथ वेदालंकारः

अन्तारािष्ट्रिय वेद-वेदाङ्ग-विद्वन्महासम्मेलन के उद्घाटन समारोह में स्मारिका का विमोचन करते हुए
मुख्य अतिथि महामण्डलेश्वर स्वामी अवधेशानन्द जी गिरी, पद्मश्री श्री बृजमोहन मुंजाल, वेदभाष्यकार
डॉ. रामनाथ वेदालंकार, कुलपति प्रो. स्वतन्त्रकुमार, आचार्य प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री एवं संयोजक डॉ. महावीर।

अन्तर्राष्ट्रिय योग महासम्मेलन के समापन एवं हैरिटेज ऑफ इंडिया द्वारा आयोजित 'उत्तर भारत सांस्कृतिक सम्मेलन' के उद्घाटन अवसर पर मुख्य अतिथि उत्तराखण्ड के महामहिम राज्यपाल श्री सुदर्शन अग्रवाल जी, कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी, श्री जिन्दल जी, आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री जी, स्वामी अनन्तभारती जी, स्वामी सन्तमुनि जी, श्री ए.सी. ओहरी जी एवं कुलसचिव प्रो. आर. डी. शर्मा जी।

अन्तर्राष्ट्रिय योग महासम्मेलन के उद्घाटन अवसर पर मुख्यअतिथि आचार्य बालकृष्ण जी, कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी, विशिष्ट अतिथि माँ योग शक्ति जी, पद्मश्री भारत भूषण जी, स्वामी रसानन्द जी महाराज, मोरारजी देसाई राष्ट्रिय योग संस्थान निदेशक डा. ईश्वर बसव रेड्डी जी, आचार्य एवं उपकुलपति प्रो. वेदप्रकाश शास्त्री, प्रो. मैत्रेय, कुलसचिव प्रो. आर. डी. शर्मा जी तथा संयोजक प्रो. ईश्वर भारद्वाज।

अन्ताराष्ट्रिय वेद-वेदाङ्ग-सम्मेलन के उद्घाटन समारोह में मुख्य अतिथि विशिष्ट अतिथि एवं कुलपति महोदय से प्रमाण पत्र एवं पुरस्कार प्राप्त करते हुए बी. टेक. के छात्र श्री प्रतीक अग्रवाल

अन्तर्राष्ट्रिय योग महासम्मेलन के अवसर पर बोलते हुए विश्व योग संघ के अध्यक्ष पद्म श्री भारत भूषण जी, आचार्य बालकृष्ण जी, कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी, माँ योग शक्ति जी, स्वामी रसानन्द जी, प्राच्य विद्या संकाय के अध्यक्ष प्रो. महावीर अग्रवाल तथा संयोजक प्रो. ईश्वर भारद्वाज।

अन्तर्राष्ट्रिय योग महासम्मेलन के समापन तथा उत्तर भारत सांस्कृतिक सम्मेलन के उद्घाटन के अवसर पर बोलते हुए महामहिम राज्यपाल श्री सुदर्शन अग्रवाल जी।

सर्वांग सुन्दर तथा शतशारद कैसे बनें

मनोहर विद्यालंकार

वेदमन्त्रों के विनियोगकर्ताओं की धारणा रही है कि अथर्ववेद के 8वें काण्ड के प्रथम दो सूक्तों का प्रयोग मनुष्य की मृत्यु और उसके शत शत कारणों से रक्षा करने वाला है। अत: उन्होंने ऐसा विधान किया है कि इन 21 मंत्रों में से प्रत्येक के प्रारम्भ में गायत्री मंत्र और अन्त में महामृत्युञ्जय मंत्र के द्वारा सम्पुट बनाकर, तथा वेद में वर्णित, अपामार्ग, कुष्ठ, गुग्गल, पिप्पली तथा सोम आदि औषधियों की सामग्री बनाकर यज्ञ में आहुतियाँ देने से रोगी को लाभ पहुँचता है।

इसके साथ इन मंत्रों में आए निर्देशों का जीवन में पालन करने से मनुष्य रोगों से बचा रहेगा, और उसकी असमय में मृत्यु नहीं होगी, इस धारणा की पुष्टि आयुर्वेद के विज्ञ भिषक् भी करते हैं। यहाँ उन निर्देशों का संकेत किया जाता है।

1. अन्तकाय मृत्यवे नम: प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुष: सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके।।

अथर्व0 8/1/1

हे मानव! तू सबका अन्त करने वाली मृत्यु पर विनम्रतापूर्वक वज्रप्रहार कर, जिससे तेरे इस जीवन में प्राण अपान तुझे सदा आराम प्रदान करते रहें। इसका उपाय है, सूर्य का अधिक से अधिक सेवन कर। परिणामत: तू सदा प्राणवान् बना रहेगा, सब रोग तुझ से दूर रहेंगे, और अमृत लोक (जीवन) में जीवित (स्वस्थ) रहेगा। स्वास्थ्य के नियमों का व्रतपूर्वक पालन ही मृत्यु पर विनम्र वज्रप्रहार है।

2. मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य संदृशः।

अथर्व0 8/1/4

हे मानव! तू सूर्य के दर्शन और अग्नि के प्रकाश व तापप्रद लोक से अपने को कभी छिन्न (पृथक्) मत होने दें।

प्रात: उदित हो रहे सूर्य का दर्शन सब रोगों का नाश करता है। जाठर लोक की अग्नि के बिगड़ने पर ही रोगों का प्रादुर्भाव होता है।

3. तुभ्यं वात: पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्रमेष्ठाः।।

अथर्व 8/1/5

अन्तरिक्ष में चलने वाली वायु तुझे सदा पवित्र रक्खे, और जल सदा तेरे लिये अमृत की वर्षा करते रहें। सूर्य के सेवन, और जाठराग्नि को ठीक रखने के साथ यदि तू शुद्ध वायु और पवित्र जल का सेवन करेगा, तो मृत्यु तुझ पर सदा दयालु रहेगी, शारीरिक स्वास्थ्य के उपरान्त मानसिक

स्वास्थ्य के लिये निर्देश

4. मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा

जीवेभ्य: प्रमुदो मानुगा: पितृन्।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह।। अथर्व 8/1/7

मा गतानामादीधीथा ते नयन्ति परावतम्। 8/1/8

हे मानव! तू मृत लोगों के सम्बन्ध में, (मा) हर समय मत सोचा कर। क्योंकि यह सोच मनुष्य को अपने कर्तव्यों से दूर कर देती है। केवल अपने सहयोगियों के सम्बन्ध में ही नहीं, अपने पूर्व पितरों के सम्बन्ध में अधिक मत सोच; बारम्बार तेरा मन वहाँ न जाए, क्योंकि इससे निराशा आती है। मा अत्र तिष्ठ पराङ्मना: 8/1/9 मन में सदा उनका ही विचार मत करता रह, प्रत्युत जीवित व्यक्तियों के प्रति अपना कर्तव्य निभाने में कभी प्रमाद मत कर।

यदि तू ऐसा करेगा तो सभी प्राकृतिक देव, सभी इन्द्रियाँ, और सभी विद्वान् तुझे सहयोग प्रदान करेंगे, तेरी रक्षा करेंगे, तू स्वस्थ रहेगा।

5. उत्त्वा मृत्योरोषधय: सोमराज्ञीरपीपरन्। अथर्व0 8/1/17

औषधियों के सेवन में संकोच मत करना। लेकिन यह याद रखना कि औषधियों का राजा सोम-वीर्य है। ये औषधियाँ तुझे मृत्यु के कारण भूत रोग के द्वारा आई न्यूनता को दूर करके तुझे इस घेर से पार कर देगी।

अयं देवा इह एव अस्तु, अयं मा अभुव गाद् इत:।

इमं सहस्रवीर्येण मृत्योर् उत् पारयामसि।।

अथर्व0 8/1/19

देवा ! = इन्द्रियों, प्राकृतिकों देवों और चिकित्सकों! आप इस रोगी को ऐसा और इतना सहयोग दो कि यह यहीं जीवित बना रहे। यह इस लोक से परलोक को न चला जावे। चिकित्सक कहते हैं कि वीर्य, (सहस्) सहन शक्ति और साहस तथा (स-हस्र) हास व उत्साह को देने वाला है। हम सब इसमें वीर्य को बढ़ा कर और स्थिर करके, इसे मृत्यु की दल दल से पार ले जा रहे हैं।

7. जीवतां ज्योतिर् अभ्येहि अर्वाङ् आ त्वा हरामि शतशारदाय।

अवमुञ्चन्मृत्युपाशान् अशस्तिं द्राधीय आयु: प्रतरं ते दधामि।। अथर्व 8/2/2

हे रोगिन् ! तुझ में जीवन्त व्यक्तियों जैसी चमक आ रही है, मैं तुझे शत वर्ष तक जीने के लिये, मृत्यु से अपहरण कर लाया हूँ। मृत्यु के सब कारणों और तज्जन्य निराशा के बन्धनों से मुक्त करा कर तेरी आयु को दीर्घतर बना रहा हूँ।

इन मंत्रों के विनियोग अथवा प्रयोग का परिणाम

1. अयं जीवतु मा मृतेम समीरयामसि।

कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः।।5

भिषग् रूप में जन्म और जीवन का नियन्ता ब्रह्मा मृत्यु को सम्बोधित करता है- हे मृत्यो! मैंने भेषज देकर इसकी चिकित्सा कर दी है। अब इस पुरुष का वध मत करना। मैंने इसे प्राण शक्ति से भर कर वायु की तरह प्रगतिशील बना दिया है। अब यह पूर्ण आयु तक जीवित रहे, उससे पूर्व न मरे।

2. अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुत्-जरसा शतहायन आत्मना भुज मश्नुताम्। अ0 8/2/8

अब इसे कोई क्लेश न हो, इसके सब अंग स्वस्थ रहें, वृद्धावस्था तक सुनता रहे, और पराश्रित हुए बिना अपने सामर्थ्य से शत वर्ष पर्यन्त उचित भोग भोगता रहे।

3. ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि।।0। आरादरातिं निऋर्तिं परः।

रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि।। अ0 8/2/12

अब हमने इसे जीने के ढंग का ज्ञानरूपी कवच पहना दिया है। इस के रोग रूप शत्रुओं को दूर कर दिया है, मानसिक क्लेशों और उपद्रवों को शान्त कर दिया है। दुःखमय स्थिति उत्पन्न करने वाले सभी राक्षसी रोगों और भावों को वैसे ही नष्ट कर दिया है जैसे प्रकाश अन्धकार को नष्ट कर देता है।

4. शिवौ ते स्ता ब्रीहियवौ अबलासौ अदोमधौ। 8/2/18

धान और जौ, निर्बलता को दूर करने वाले और खाने में मधुर व तृप्तिकर होते हैं। इन दोनों का प्रयोग तेरा कल्याण करे, रोगों से बचाए और पुष्ट करे।

5. सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा विभेः। अ0 8/2/24

यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्। अ0 8/2/25

(अरिष्ट) हे क्लेश और रोग मुक्त पुरुष! अब तू पूर्णतया निश्चित हो जा, किसी प्रकार का भय मत कर, क्योंकि जब (कम्) सुखपूर्वक जीवन जीने के लिये (इदं ब्रह्म) इस आयुर्वेद विज्ञान को (परिधिः) परिखा अथवा कवच बना लिया जाता है, तब पशु-पक्षी तथा पुरुष सभी पूर्ण आयु तक जीवित रहते हैं।

6. अभभ्रिर्भव अमृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुर् असवः शरीरम्।। अ0 8/2/26

हे रोगमुक्त पुरुष! अब तू (अमृतः) नीरोग और स्वस्थ हो चुका है। (अमभ्रिः भव) मरने का विचार ही छोड़ दे (अतिजीवो भव) मनुष्य की वाञ्छित शत शारद आयु को अतिक्रमण करके 'भूयश्च शरदः-शतात्' जीने का संकल्प कर। तेरे प्राण तेरे शरीर को तेरी इच्छा से पूर्व न छोड़ें।

अभिज्ञानशाकुन्तले व्यंजनाशक्तिः

डॉ0 महेश दत्त शर्मा
उपाचार्यः स्नातकोत्तर
संस्कृत विभाग,
ने.मे. शिनारायण दास-महाविद्यालयः, बदायूँ

1. अभिधा, लक्षणा व्यंजना चेति शब्दानामर्थावधारणे शक्तित्रयम्। सर्वासु एतासु व्यंजनाया एव प्रधानता। सहृदयैः सा एव 'ध्वनिः' इति काव्यमार्गे व्यवह्रियते। वाच्यार्थो लक्ष्यार्थो व्यंग्यार्थश्चेति यशाशक्ति अर्थाणामपि त्रयत्वं भवति। यस्मिन् काव्ये व्यंजनायाः प्राधान्यं तत्काव्यं ध्वनिकाव्यमुताहो व्यंग्यकाव्यमिति लक्षणकारैः स्वीक्रियते। ध्वनिमेव प्रतीयमानत्वेन निर्दिशन्तो ध्वनिप्रशंसाविषये ध्वनिकारा एवमामनन्ति-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत् यत् प्रसिद्ध्यावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। (ध्वन्या. 1.4)

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत् यत् सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्तेभ्य व प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु। यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतम्, तत्त्वान्तरम्, तद्वदेव सोऽर्थः। (ध्वन्यालोकः, वृत्तिभागः 1.4)

1.1 अधीतकालिदासा इदं सम्यक् प्रकारेणावगच्छन्ति कालिदासीये शृङ्गाररसस्यैव प्रधानता तथापि भारतस्य प्रायेण सर्वास्वपि शिक्षासंस्थासु तस्य काव्यं न्यूनाधिकरूपेण सर्वत्र पाठ्यते। शृङ्गाररसप्रधानकाव्यस्य अध्यापनं कोमलधियां बालानां दोषााय एव भविष्यति। तत्कथमेतादृशस्यापि काव्यस्याध्यापनं क्रियते कार्यते च, परीक्षापाठ्यक्रमेषु च तदेव निर्धार्यते? अधस्ताद् इदं विचार्यते।

1.2 कालिदासो मितशब्दैः सारशब्दैश्च वस्तुतत्त्वमुपब्रूते। तस्य कवितायां विकटाक्षरबन्धानां पदानां प्रायेण अभाव एवं दृश्यते। स अध्येतृणां हृदयगतं सरलेन प्रकटय्य सरल-सरस शब्दव्यपदेशेन तेषां हृदयं प्रविश्य स्वीकीर्तिं वितनुते। तस्य महाकवेः साधुकाव्यनिषेवणं पाठकानां कीर्तिं प्रीतिं च करोति। अतः शृङ्गाररसयुक्तमपि तत् सर्वत्राधीयतेऽध्याप्यते च। अस्य कृते कानिचित् स्थलानि तस्य कृतेरभिज्ञानशाकुन्तलाद् उदाह्रियन्ते।

2. तृतीयेऽङ्के यदा राजा दुष्यन्तः कण्वाश्रमस्य रक्षणार्थं पुनराश्रमपदं गच्छति तदा अनुमालिनीतीरं स एकस्मिन् लतामण्डपे सखीभ्यां सह शकुन्तलां पश्यति। तां प्रपश्य स तदा कथयति-

अये, लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। (अभि.शा. 3.6 श्लोकादनन्तरो गद्यभागः) (सौभाग्यमेतद् यद् मे नेत्राभ्यां निर्वाणं प्राप्तम्।)

2.1. सर्वेषां दर्शनानां मोक्षप्राप्तिरेव प्रधान्येन लक्ष्यम्। नानापथजुषां दर्शनानां कानिचित् तामेव निर्वाणप्राप्तिः', कैवल्यप्राप्ति, दुःखेभ्यः सततं विरतिः, इति वा नानाभिधानैरुपवर्णयन्ति। यदा केवलं जीवात्मा ज्ञानानन्तरं शुद्धचैतन्यतया प्रकाशते, ब्रह्मणि च प्रविलीयते, परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं ब्रह्म समधितिष्ठति, तदा जन्ममरणसंसारचक्रं स्वयमेवोपशाम्यति। एवं मुमुक्षोः सर्वासां स्पृहाणां विनाशात् केवलं तस्य कृते आनन्दस्वरूपं ब्रह्म एव अत्र विराजते, तद् एव तस्य महान् उपाधिः।

2.2 उपरिदर्शिते स्वल्पशब्दविन्यासात्मके वाक्ये कालिदास इदमेव तत्त्वमुपवर्णयितुकामः। यथा मोक्षे सति मुमुक्षोः संसारगमनागमनाद् उपशमः स्वयमेव भवति तथैव शकुन्तलाया एतादृशे अन्यत्र दुष्प्राप्ये रूपदर्शने जाते सति, दुष्यन्तस्य नेत्रयोः किमपि दर्शनीयं वस्त्वन्तरं नावशिष्टं वर्तते, अतस्ताभ्यां शकुन्तलादर्शनेन निर्वाणप्राप्तिः कृतेति ध्वन्यते।

3. पंचमेऽङ्के नेपथ्ये स्थिता राज्ञी हंसपदिका गीतवर्ण-परिचयं करोति। सा स्वरसंयोगमुखेन अन्यकलत्रासक्तं राजानमुपालभते-

अभिनवमधुलोलुपो भवाँस्तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम्।

कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥ (अभि.शा. 5.1)

(हे मधुकर त्वम् अभिनवमधुलोलुपः। परम आम्रमंजर्यास्तथा पानं कृत्वा कमलवसतिमात्रेण सन्तुष्टः सन् एनां साम्प्रतं विस्मृतोऽसि।)

3.1. राजा दुष्यन्तोऽत्र भ्रमरसदृशः। भ्रमरो यथा नवविकसिताया आम्रमंजर्याः प्रथमं मधु पीत्वा अनन्तरम् अभिनवमधुप्राप्तिलोभेन तां परित्यज्य अन्यं कमलादिपुष्पं निषेवते तथैव राज्ञा दुष्यन्तेन यौवनारूढाऽहं प्रथमं तावद् अधरपानादिना उपभुक्ता परं साम्प्रतम् अन्याभिः सरोजवदनाभिः सह रममाणेन तेनाहं विस्मृताऽस्मि, इत्युक्तवचनविन्यासभावः।

3.2 राज्ञो दुष्यन्तस्येयम् अवस्था जाग्रत्सुषुप्तेः प्रतीतिकरी। राजा अभिशप्ततया विवेकपरिभ्रष्टः, कालिदासेन राज्ञ एतादृशमाचरणं मुनेर्दुर्वाससः शापस्य महिम्नो द्योतनार्थमेवोपवर्णितम्, यतो मुनेः शापस्य भवितव्यता बलवती।

3.3 अनुरागरंजितोऽविनयः सर्वदा दण्डार्हो भवति। शाकुन्तलायाः प्रत्याख्यानेनापि राजा पापकर्मा। पापकर्मा चापि दण्डभाग् भवति। अस्य कृते कविः कामपि अनिर्वचनीयाम् उपालम्भपूर्विकां वृत्तिमाश्रयन् हंसपदिका-वचनबाणैः राजानं विध्यति। अहो, कालिदासस्य एतावान् शब्दमहिमा।

3.4 हंसपदिकाया उपालम्भानन्तरं यदा राजा विदूषकमिदं कथयति सकृत्कृतप्रणयोऽयं जनः, तदस्या देवीवसुमतीमन्तरेण मदुपालम्भमवगतोऽस्मि इति वचनेन राजा इदं स्वीकरोति, यतोऽल्पप्रेमाचारानन्तरं मया हंसपदिका परित्यक्ता। एतेनापि राजा प्रेमविषयेऽविश्वसति, इतश्च वर्तते, अविश्वस्तश्च दुःखं निषेवते।

3.5 अनेन घटानाद्वयसंघटनेन कालिदास इदं वक्तुकामो यद् दुर्वाससः शापाद् या घटना घटिता तस्याः प्रभावो मानवे प्राकृतिके च जीवने युगपद् विद्यते। शकुन्तला प्रकृतिसखी, अतः प्रेमाधिक्यात् प्रकृतिर्यदि शकुन्तलाम् अनुवर्तते तर्हि किमत्र चित्रम्। इति सर्वमेव अनेन श्लोकेन ध्वन्यते।

4. प्रथमेऽङ्के शकुन्तलाया रतिसर्वस्वस्वरूपमधरं भ्रमरो यदा पिबति तदा नृपो दुष्यन्तस्तस्मै ईर्ष्यति। यथा-

चलापाङ्गा दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबति रतिसर्वस्वमधरम्,
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।। (अभि. शा. 1.21)

(हे भ्रमर त्वं चंचलनेत्रां वेपमानां मुहुर्मुहुः स्पृशसि। तस्याः कर्णयोः समीपे मधुरं गुंजन् त्वं कोऽपि रहस्यवक्ता इव प्रतीयसे। तव निवारणार्थं करौ व्याधुन्वत्या इतस्ततः करौ चालन्त्याः सहजसौकुमार्यत्रासकातरायाश्च तस्या रतिसर्वस्वभूतमधरं पिबसि। अतो हे भ्रमरः? वयं 'इयं क्षत्रियक्षत्रसंभवा काचिदन्या वा' इति यथार्थवृत्तान्वेषणेन विनष्टाः, परं त्वमेव खलु भाग्यशाली येन सर्वं स्वकीयं खलु साधितमधरपानेन।)

4.1 कालिदास ग्रन्थावल्यास्तृतीयखण्डे अष्टत्रिंशत्तमे पृष्ठे श्रीदामोदरलालगोस्वामिमहाभागैरिदं पद्यं महता प्रबन्धेन चर्चितम्। तेषां मतेन 'वक्तृप्रभृतिवैशिष्ट्यस्य साहाय्यं प्राप्य स्पर्शहेतुना आलिङ्गनेच्छाया अनुमितिः, अत्र ध्वनिः। तस्माद् अनुमानालङ्कारोऽत्र व्यंग्यः। मृदु कर्णान्तिकचरः इत्यनेन चुम्बनेच्छाया अनुमितिः, अतोऽनेनापि अनुमानालङ्कारो व्यंग्यः। करौ व्याधुन्धत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरम् इत्यनेन शकुन्तलाया मुग्धात्वं वस्तुव्यंग्यम्। (अपि च यथा कोऽपि कामुको बलात्कारेण कस्याश्चित् करौ व्याधुन्वत्या तरुण्या अधरपानादिक्रियां करोति, तथैव त्वमसि, अतो लम्पटोऽजितेन्द्रियश्च भवान् इति ध्वन्यते। भ्रमर इति पदेनापि अजितेन्द्रियपुरुशषस्य लोलुपत्वं ध्वनितम्।)

4.2 कला-विज्ञानयोर्मूलगतभेदस्यापि कविना सङ्केतोऽत्र कृतः। काव्यकारः कलाकारो वा जीवने रसम् अन्विषति, तस्य चर्वणायां च स आत्मानमपि विस्मरति। वैज्ञानिकस्तत्त्वान्वेषणे कृतश्रमो भवति, तस्यानुशीलने च जीवनं यापयति। प्रथमः सौन्दर्यमुपासते, द्वितीय सत्यम्। प्रथमस्य साधना रागाश्रिता द्वितीयस्य च तर्कारूढा। प्रथमोऽन्तःकरणस्य प्रवृत्तीः प्रमाणीकृत्य जीवनं सफलं करोति, द्वितीयो व्यभिचारिण्या बुद्धेः प्रश्रयं गृहीत्वा जीवनस्य आनन्दाद् वंचितो भवति। अतः काव्यमार्गो संवेदनशीलहृदयस्यैव विषयः, न तु तर्काश्रिताया बुद्धिरिति सत्यं वस्तु।

5 एतादृशानि कालिदासप्रणीतेऽभिज्ञानशाकुन्तलेऽन्यानि बहूनि स्थलानि व्यंजनाशक्तेर्विद्यन्ते।

संस्कृत नाटकों में वर्णित तपोवन-संस्कृति

डॉ0 पद्मजा अमित
रीडर; संस्कृत विभाग
मु. ला. ज. ना. खं0 गर्ल्स कॉलेज,
सहारनपुर

भारतीय संस्कृति के ज्ञान, विकास एवं प्रसार में आर्यों के तपोवन, आश्रमों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति अपने आरम्भिक काल में एकान्त अरण्यों में ही प्रतिफलित हुई। निविड वनों में विद्यमान ऋषियों के ये आश्रम नगर के कोलाहल से सर्वथा दूर होते थे। तपस्वियों के तप: स्थल होने के साथ-साथ ये आश्रम शिक्षा के भी महत्वपूर्ण केन्द्र रहे। जहाँ सामान्य जन के साथ-साथ राजपुत्र भी प्रकृति के शान्त वातावरण में आचार्यों की चरणवन्दना करते हुए प्रथमाश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य का उत्तम से उत्तम लाभ उठाने के साथ-साथ गुणों का संकलन एवं ज्ञानार्जन किया करते थे।

इन्हीं वनस्थलियों के सुरम्य एकान्त में लौकिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं पर गहन चिन्तन, दार्शनिक विचारों का विवेचन, आचार शास्त्र तथा धर्म की गहन गुत्थियों को सुलझाने का कार्य कुशलतापूर्वक किया जाता था। शिष्यों को उच्च नैतिकता एवं धर्म की दीक्षा देने का दायित्व भी बनवासी ऋषियों ने बखूबी सम्भाल रखा था। संभवत: यही उनकी राष्ट्रसेवा थी। सर जदुनाथ सरकार का कथन इसी बात को पुष्ट करता है, ''इस आश्रम प्रथा के द्वारा शान्तिमय उपवनों में हमारे दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई, उन्नति हुई। आचार शास्त्र, नीतिशास्त्र एवं साहित्य की शाखाओं को जीवन मिला। यहीं पर हमारी प्राचीन सभ्यता विद्यमान थी और इन सब बातों का श्रेय हमारे प्राचीन आचार्यों को था।''

तपस्वियों के तप में प्रकृति भी सहयोग देती थी। संस्कृत नाटककारों ने अपनी कृतियों में आश्रमों का प्राणमय एवं सुन्दर वर्णन किया है। जीवन के लिए उपयोगी सामग्री यथा जल, फल, फूल आदि जहाँ सरलता से प्राप्त हों, ऐसे स्थलों पर ही ये आश्रम बनाये जाते थे। सामान्यत: ये आश्रम प्रसिद्ध नदियों के तटों पर विद्यमान वनों में स्थित थे। तमसा के तट पर वाल्मीकि का; गंगा यमुना के संगम पर भारद्वाज ऋषि का आश्रम इसी का प्रमाण है। कुलपति कण्व का आश्रम भी मालिनी नदी के तट पर विद्यमान था। नाटकों की कथावस्तु में इन आश्रमों को बहुतायत से स्थान प्राप्त हुआ है।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला का लालन पालन कण्व ऋषि के आश्रम में होता है तथा प्रत्याख्यान के पश्चात् मारीच ऋषि के आश्रम में वह रहती है। कुन्दमाला नाटक की घटनायें वाल्मीकि आश्रम में घटित होती हैं। उत्तररामचरितम् में वाल्मीकि ऋषि ही लवकुश के समस्त कार्य सम्पन्न कराते हैं। वानप्रस्थ मुनियों के उदात्त जीवन चरित्र का आदर्श बाण ने प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार अनाथ का पालन करना मुनियों का धर्म है। कालिदास की शकुन्तला, उत्तरामचरित की सीता का अधिकांश समय कण्व, मारीच एवं वाल्मीकि के आश्रम में ही व्यतीत होता है। पति के द्वारा परित्यक्ता नायिकाओं को ऋषि के आश्रम में ही स्थान मिलता है। मुनियों

के लिए सब कुछ साध्य है। इनका प्रभाव भी अचिन्त्य है। प्रभाव की दृष्टि से भी तपस्वी असाधारण कहे जा सकते हैं। भगवान् राम ऋषियों को सिद्धवाक् बतलाते हुए उन्हें भूत, भविष्य, वर्तमान का दर्शन करने वाला कहते हैं।

तपोवन में स्थित आश्रमों में अग्नि शरण अर्थात् यज्ञशाला सर्वाधिक पवित्र स्थान होती थी। शकुन्तला के गर्भवती होने की सूचना अग्निशाला में ही अशरीरी वाणी के द्वारा कण्व ऋषि को प्राप्त होती है। तपोवन में अनेक पर्णशालायें होती थी जहाँ नित्य प्रज्जवलित रहने वाली अग्नियाँ वातावरण को शुद्ध बनाती थी। यज्ञशालाओं में वेदमंत्रों का उच्चारण किया जाता था। काश्यप मुनि शकुन्तला को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि यज्ञीय अग्नियाँ हव्य सामग्री की सुगन्ध से तुम्हारे पापों को नष्ट करती हुई तुम्हें पवित्र करें।

स्नान, संयम, ध्यान, तप में संलग्न रहना ही तपस्वियों की दिनचर्चा थी। एकान्त जीवन के अभ्यासी आश्रमवासियों को नगर की जीवन शैली उद्विग्न सा कर देती थी। राजभवन की भीड़ को देखकर शार्ङ्गख कहता है कि अशान्त एवं कोलाहल पूर्व राजगृह ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों अग्नि ज्वालाओं से घिरा है। आश्रम में प्रवेश करते समय राजा को भी सादा वेष धारण करना होता था।

विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम। अभि0 पृ0-42

संस्कृत नाटकों में अनेक ऋषियों के तपोवनों का वर्णन प्राप्त होता है यथा कण्व, वाल्मीकि, अगस्त्य, मरीचि, अत्रि आदि। दस सहस्र ब्रह्मचारियों को शिक्षा देने वाला वयोवृद्ध मुनि कुलपति कहलाता था। कण्व, वाल्मीकि, अगस्त्य आदि ऐसे ही विख्यात कुलपति थे।

महर्षि कण्व सिद्ध महात्मा थे तथा भविष्य द्रष्टा भी थे। लोकोत्तर व्यक्तित्व के साथ ही कवि ने उन्हें वात्सल्यपूर्ण पिता के स्वरूप में भी दिखलाया है। शकुन्तला की विदाई पर वे अत्यधिक चिन्तित तथा स्नेह से विकल हो जाते हैं। आध्यात्मिक शक्ति के चरमोत्कर्षक प्रतीक के रूप में ऋषि मारीच का तपोवन उनकी दिव्यता को सूचित करता है। उनके आश्रम में बालक सिंहशावक के साथ क्रीडा करते हैं। उनके आश्रम में शांति एवं पवित्रता का वास था। ऋषि के दर्शन से पूर्व ही वहाँ मनोरथ सम्पूर्ण हो जाते हैं। वाल्मीकि यौगिक सिद्धियों से सम्पन्न महर्षि हैं। कुन्दमाला नाटक की कथा इन्हीं के तपोवन की भूमि पर विस्तार पाती है। सीता निर्वासन के लिए वह राम की भी आलोचना करते हैं। भगवान राम के हृदय में ऋषि के लिए अत्यधिक गौरव का भाव दिखलाया गया है। वाल्मीकि के द्वारा रचित नाटक को श्रद्धा एवं विश्वास के साथ देखते हैं। राम कथा पर आश्रित नाटकों में महर्षि अगस्त्य एवं ऋष्यशृंग का भी पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। तपस्विनी आत्रेयी वाल्मीकि के आश्रम से वेदाध्ययन के लिए अगस्त्य के पास आती है। ऋष्यशृंग 12 वर्षों तक चलने वाले यज्ञ का आयोजन करने वाले ऋषि कहे गये हैं।

संयमित जीवन के लिए तपोवन प्रसिद्ध थे। तपस्वियों के जीवन में शम ही प्रधान था। ऋषियों में शाप देने की शक्ति होती थी; जिससे राजा तक भयभीत रहते थे। मृग का पीछा करते हुए राजा दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में पहुँचकर तपस्वियों के कहने पर मृगशिकार से विमुख हो जाता है। तपस्या का प्रभाव आश्रम के जीव जन्तुओं एंव वनस्पतियों आदि पर भी दिखलाई देता

है। विरोधी प्राणी वैरभाव का परित्याग करते दिखलाई देते हैं। वेद मंत्रों की ध्वनि पर ध्यान देने लगते हैं। तपोवन की प्रकृति मानव परिवार के अंग के रूप में वर्णित है। कन्या की विदाई पर माता, पिता सगे सम्बन्धी सभी व्यथित होते हैं; उसी प्रकार शकुन्तला की विदाई की वेला में, मृग मयूर, लता वन ज्योत्स्ना सभी नेत्रों में अश्रु भर लाते हैं। वन देवता कोकिल की ध्वनि के द्वारा गमन की अनुमति प्रदान करते हैं। कुन्दमाला नाटक की नायिका सीता के लिए वनदेवता उत्तरीय देते हैं, जो उनके स्नेह को सूचित करता है। शकुन्तला का शृंगार भी वनदेवियों के द्वारा प्रदत्त वस्त्र एवं आभूषणों से ही सम्पन्न हो पाता है। आश्रम के वृक्षों पर मुनि कन्याओं का पुत्रवत् स्नेह होता था। प्रकृति के साथ मानव के जीवन का ऐसा रूप संस्कृत नाटकों की विशेषता है।

आश्रम में आने वाले अतिथियों का सत्कार मुनिकन्यायें फल फूल एवं अर्ध्य से किया करती थी। आतिथ्य कर्म में प्रमाद करने पर दुष्परिणाम का भागी होना पड़ता था। दुर्वासा का शाप इसका उदाहरण है। तपोवन अतिथियों के घर कहे गये हैं। (स्वप्नवासव. प्रथम अंक पृ0 18)

ऋषियों के आश्रमों में विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरु की आज्ञा का पालन करना तथा अध्ययन शिष्य के ये ही दो प्रमुख कर्तव्य थे। महर्षि वाल्मीकि लव कुश के जातकर्म आदि संस्कार के साथ ही उन्हें वेदादि का अध्ययन भी करवाते हैं। दुष्यन्त पुत्र का जातकर्म ऋषि मारीच के द्वारा किया गया था। शिष्य के परिवार का स्तर सामाजिक आर्थिक दृष्टि से कुछ भी हो, शिष्य वृत्ति ग्रहण करने के लिए गुरु के आश्रम में ही आना अनिवार्य था। यहीं पर ब्रह्मचारी आत्मनियंत्रण का अभ्यास करते थे। आचार्य सभी शिष्यों को समान भाव से विद्यादान करते थे। शिक्षण का कार्य करने वाले आचार्यो ने समाज के उन्नयन के लिए भावीपीढ़ी को तैयार करने का गुरुतर दायित्व संभाला हुआ था।

तपस्वियों की तपस्या का षष्ठांश राजा को प्राप्त होता था; जो राजाओं के लिए धन से कहीं बढ़ कर था। नृपति का यह दायित्व था कि वह आश्रमों की रक्षा के भार को वहन करें। प्रजा के अनुरंजन से मिलने वाला यश ही राजा का परम धन कहा गया है। राजा आश्रमों में जाकर ऋषियों की तपस्या में आने वाले विघ्नों का निराकरण किया करते थे। ऋषियों के प्रति उनके हृदय में आदर का भाव विद्यमान रहता था।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि तपोवन में आश्रम बनाकर रहने वाले ऋषि आर्य संस्कृति के प्रसारक के रूप में सामने आते हैं। भारतीय संस्कृति के संरक्षण में ऋषिगणों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सुदूर अरण्यों में स्थापित ऋषियों के आश्रमों का अनार्य जातियों का उन्मूलन कर यज्ञ संस्कृति के प्रचार, प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिखलाई देता है। रामायण में राम का 14 वर्षो का वनवास इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। ज्ञान-साधना के केन्द्र इन तपोवनों में आध्यात्मिक विकास को पर्याप्त प्रश्रय मिला। मानव जीवन की उन्नति के बहुमूल्य सिद्धान्तों की प्रतिस्थापना का श्रेय भी इन्हें प्राप्त है। अतिथि सत्कार गुरुशिष्य सम्बन्ध की स्वस्थ परम्परा; प्रकृति के साथ मानव का प्रगाढ़ स्नेह, ब्रह्मचर्य, तप, संयम, अनुशासनमय जीवन का आदर्श रूप आदि तपोवन संस्कृति का वह वैशिष्ट्य है जो आज के मानव के लिए अत्यन्त उपादेय है।

वैदिक यज्ञ विज्ञान

डॉ0 (श्रीमती) वत्सला उपाध्याय
रा0 स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मालवाड़ा, राजस्थान

यज्ञ वैदिक संस्कृति का प्रधान अंग है। वेद हिन्दुओं के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। अत: वेद जितने प्राचीन हैं यज्ञ भी उतने ही प्राचीन हैं। ऐसी मान्यता है कि मानव जीवन दुर्लभ है। दुर्लभ मानव तन धारण करते ही मानव जीवन ऋणों का ऋणी हो जाता है। ये ऋण त्रय हैं:- ऋषि-ऋण, देव-ऋण एवं पितृ-ऋण। इन ऋणों से क्रमश: ब्रह्मचर्य के द्वारा यज्ञ के द्वारा एवं संतति के द्वारा मानवउऋण हो पाता है। ऋण त्रप के अपाकरण के लिए निर्धारित कर्म से ही जीवन गतिमान होता है। तीनों का अपना-अपना महत्व है। यज्ञ एक महत्वपूर्ण कर्म है।

वैदिक धर्म में यज्ञ वेद की आत्मा और प्राण कहे जाते हैं। वेदों में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड इन तीन विषयों का वर्णन मिलता है। इनमें कर्मकाण्ड प्रमुख है। कर्मकाण्ड में ही यज्ञादि क्रियाओं का ही विशेष रूप से प्रयोग होता है। इस प्रकार यज्ञ ही वेदों का मुख्य प्रतिपाण विषय है। मुख्य प्रतिपाद्य विषय होने के कारण ही यज्ञों में वेद मंत्रों का प्रयोग (उच्चारण) किया जाता है। मंत्रों का सार्थक प्रयोग यज्ञों में ही होता है। यज्ञ ही वेद मंत्रों की प्रयोगशाला है। अत: वेद और यज्ञ एक दूसरे के पूरक हैं ठीक उसी प्रकार जैसे विज्ञान में प्रयोग पहले होता है और सिद्धान्त प्रतिपादित बाद में होता है। इसी प्रकार यज्ञ का प्रयोग पहले हुआ और वेद सिद्धान्त रूप से वाद में प्रतिपादित हुए जैसा कि ऋग्वेद के प्रथम मंत्र 'अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्' में यज्ञ पद पहले आया है। अत: सिद्ध होता है कि यज्ञ वेद से भी प्राचीन है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (2/104) के 'वेदास्तु यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता:' इस वचन से तथा भगवान् मनु के

'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ ऋग्यजुस्सामलक्षणम्।।[1]

(यज्ञ सिद्धि के निमित्त प्रभु ने अग्नि, वायु और सूर्य देवताों का प्रादुर्भाव किया, फिर ब्रह्ममय व सनातनी तीन वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद की रचना की।)

इस वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि वेदों का प्रादुर्भाव यज्ञों के निमित्त ही हुआ। जिस प्रकार वेद अत्यन्त दुरूह, अपौरुषेय, नित्य और अनादि है, उसी प्रकार वेदांगभूत यज्ञ भी दुरूह, अपौरुषेय, नित्य और अनादि है। चारों वेदों में यज्ञ का का महत्व बड़े ही विस्तार से मिलता है। शुक्ल यजुर्वेद के इकत्तीसवें अध्याय के मंत्र 6,7,8,11,12 और 13वें मंत्र में कहा गया है कि यज्ञ पुरुष परमेश्वर ने यज्ञ के द्वारा ही समस्त सृष्टि को, वेदों को, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, पंचप्राण, अन्तरिक्ष द्युलोक,

पृथ्वीलोक और दश दिशाओं को उत्पन्न करके सभी को धारण कर रखा है।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत: ऋच: सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।[2]

यह मंत्र चारों वेदों में प्राप्त है। इस मंत्र में कहा गया है कि यज्ञ (यज्ञ पुरुष भगवान्) से ही समस्त वेदों की उत्पत्ति हुई। यज्ञ से उत्पन्न होने वाले वेदों में जो कुछ भी लिखा है वह सब यज्ञपरक ही है। ऋग्वेद (8/86/3) में कहा गया है कि जो मनुष्य यज्ञों को नहीं मानता और जो यज्ञ में देवताओं के निमित्त अन्न को (हवि, द्रव्य) को स्वाहा, स्वधा, वषट्कार रूप में समर्पित नहीं करता वह मनुष्य परलोक के समस्त सुखों से वंचित रहता है और उसे काक, गीध, कुत्ता, आदि की निकृष्ट योनि प्राप्त होती है। जो पुण्यात्मा यज्ञ के प्रति श्रद्धा, विश्वास रखकर यज्ञ करता है, वह यज्ञ के पुण्य प्रताप से 'देवता' बन जाता है। प्राचीन काल में सुधन्वा के तीनों पुत्र यज्ञ द्वारा मनुष्य से देवता बन गये। (ऋग्वेद 5/35/6) और मरुद्गण (जो पहले मनुष्य थे) भी यज्ञरूपी पुण्य के द्वारा देवता बन गये (ऋग्वेद 10/77/2) महर्षि भारद्वाज के यागपर: पुरुषधर्म: के अनुसार यज्ञ मानव जाति का विशेष धर्म है। मनुष्य को अपना जीवन यज्ञमय बनाना चाहिए।

यज्ञ शब्द यज् धातु यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो-नङ् (3/3/90) इस पाणिनीय सूत्र से नङ् प्रत्यय करने पर यज्ञ शब्द बनता है। कतिपय आचार्यो ने 'यज्ञदेवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'यज्' धातु का देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान इन तीन अर्थो में प्रयोग किया है अर्थात् यज्ञ में देवपूजा होती है, देवतुल्य ऋषि, महर्षियों का सङ्गतिकरण होता है और दान भी होता है।

वेद प्रतिपादित यज्ञ शब्द के तीन अर्थ निकलते हैं - 1. जहाँ पर देवताओं को उद्देश्य कर अग्नि में द्रव्य का प्रक्षेप किया जाय उसे यज्ञ कहते हैं

2. यज्ञ क्यों कहलाता है? यज् धातु का अर्थ देवपूजा आदि लोक और वेद में प्रसिद्ध ही है ऐसा निरुक्त के विद्वान् कहते हैं अथवा जिस कर्म में लोग यजमान से अन्नादि की याचना करते हैं अथवा यजमान ही देवताओं से वर्षा आदि की प्रार्थना करता है अथवा देवता ही यजमान से हवि की याचना करते हैं उस कर्म को यज्ञ कहते हैं। अथवा कृष्ण यजुर्वेद के मंत्रों की जिसमें प्रधानता हो उसे यज्ञ कहते हैं। यज्ञ में यजुर्वेद के मंत्रों का अधिक उपयोग होता है।

3. देवता के प्रति अपने द्रव्य का त्याग करना यज्ञ कहलाता है।

मत्स्य पुराण (144/44) के अनुसार यज्ञ का लक्षण है :-

देवानां द्रव्यहविषां ऋक्सामयजुषां तथा।

ऋत्विजीं दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।।

(जिस कर्म-विशेष में देवता, हवनीय द्रव्य, वेदमंत्र, ऋत्विज, और दक्षिणा इन पांचों का संयोग हो, उसे यज्ञ कहते हैं।

शास्त्रों के अनुसार यज्ञ दो प्रकार के होते हैं - एक यज्ञ और दूसरा महायज्ञ। जो अपने ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण के लिए पुत्रेष्टियाग और विष्णुयागादि करते हैं उन्हें महायज्ञ कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञ के स्वरूप तथा इसकी विशेषता का वर्णन महर्षि भारद्वाज ने इस प्रकार किया है:-

'यज्ञः कर्मसु कौशलम् समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः'

कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे यज्ञ कहते हैं/ पश्चात् समष्टि सम्बन्ध होने से उसी को महायज्ञ कहते हैं। इसी बात को महर्षि अंगिरा ने भी कहा है - यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात् व्यष्टि समष्टि सम्बन्ध से यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं। यज्ञ में स्वार्थ की प्रधानता होती है और महायज्ञ में निःस्वार्थता की प्रधानता होती है।

वैदिक यज्ञ दो प्रकार के हैं :- श्रौत और स्मार्त। श्रुतिप्रतिपादित यज्ञों को श्रौतयज्ञ और स्मृति प्रतिपादित यज्ञों को स्मार्तयज्ञ कहते हैं। श्रौतयज्ञ में केवल श्रुतिप्रतिपादित मंत्रों का प्रयोग होता है और स्मार्तयज्ञों में वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक मंत्र भी प्रयुक्त होते हैं। वैदिक युग में श्रौतयज्ञों की बहुलता थी। वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञ मिलते हैं किन्तु उनमें निम्नलिखित पांच प्रकार के यज्ञ ही प्रधान माने गये हैं -स एषः यज्ञः पञ्चविधः - अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः, सोमः (ऐतरेय ब्राह्मण) अर्थात् अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग - ये पाँच प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं। इन्हीं पांच प्रकार के यज्ञों मु श्रुति प्रतिपादित वैदिक यज्ञों की पीरसमाप्ति हो जाती है। शतपथ ब्राह्मण (1/7/1/5) में श्रौतयज्ञों को श्रेष्ठतम कर्म कहा है - यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म? कुल श्रौतयागों को 19 प्रकारों में विभक्त किया गया है, ये हैः- स्मार्तकर्म, श्रौताधान, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, निरूढ़पशुबन्धः, आग्रयणेष्टि, सौत्रामणि, सोमयाग, द्वादशाहयज्ञ, गवामयज्ञसत्र, वाजपेययज्ञ, राजसूय यज्ञ, अग्निचयन, अश्वमेधयज्ञ, पुरुषमेधयज्ञ, सर्वमेध यज्ञ, पितृमेधयज्ञ एकाहयज्ञ, अहीनयज्ञ, सत्र। ये श्रौतयाग प्रायः समाप्त हो गए हैं। वर्तमान में स्मार्तयानों की ही बहुलता है। स्मार्त यज्ञों की चर्चा वेदों में नहीं मिलती है। स्मार्तयज्ञों की चर्चा वेदों में नहीं मिलती है। स्मार्तयाग इस प्रकार है:- रुद्रपयाग, विष्णुयाग, हरिहरमहायज्ञ, शिवशक्तिमहायज्ञ इसी प्रकार रामयज्ञ, गणेशयज्ञ, प्रजापति यज्ञ (ब्रह्मयज्ञ) सूर्ययज्ञ, दुर्गायज्ञ, लक्ष्मीयज्ञ, लक्ष्मीनारायण महायज्ञ, नवग्रहमहायज्ञ, पर्जन्ययाग, गोयज्ञ, गायत्री महायज्ञ, गायत्री पुनश्चरण, शतचण्डी कोटिहोम आदि। वैदिक युग में विष्णुरूद्रशत चण्डी, सहस्रचण्डी आदि स्मार्तयज्ञों का उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता है। जबकि गर्भाधान आदि सोलह संस्कारों के स्मार्तकर्मों का नामोल्लेख किसी न किसी रूप

में वैदिक साहित्य में मिलता है। ऐसा लगता है कि स्मार्त यज्ञों का प्रचलन वैदिक साहित्य के बहुत बाद हुआ। श्रौत सूत्र में श्रौतयाग का विधान है और गृह्यसूत्रों में स्मार्तयज्ञ का विधान है।

गौतमधर्म सूत्रकार ने पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ भेद से तीन प्रकार के यज्ञों का भेद दिखलाकर प्रत्येक के सात-सात भेद करके 21 प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया है। गृह्य सूत्रोक्त पाकयज्ञों का प्रचार किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित है। गीता में सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से तीन प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं। जो यज्ञ निष्काम भाव से किया जाता हे उसे 'सात्विक यज्ञ' कहते हैं। जो यज्ञ सकाम अर्थात् फल विशेष की इच्छा से किया जाता है उसे राजसिक यज्ञ कहते हैं। जो यज्ञ शास्त्रों के विरुद्ध किया जाता है उसे तामसिक यज्ञ कहते हैं।

श्रौत स्मार्तादि सभी प्रकार के यज्ञों में कुछ यज्ञ नित्य, कुछ नैमित्तिक और कुछ काम्य होते हैं। नैमित्तिक और काम्य यज्ञ करने के लिए तो द्विज स्वतन्त्र है किन्तु नित्य यज्ञ करना तो अनिवार्य है। इस नित्य यज्ञ का नाम ही पञ्चमहायज्ञ है। गृहस्थ के पंचमहायज्ञ का वर्णन प्रायः सभी ऋषि-मुनियों ने अपने-अपने धर्म ग्रन्थों में किया है:- भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। 'इन यज्ञों का अनुष्ठान करना प्रत्येक गृहस्थ का धर्म माना गया है। पंचमहायज्ञ करने से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती किन्तु न करने से पाप का प्रादुर्भाव अवश्य होता है। ये तीन प्रकार के यज्ञ ही हमारे तीन प्रकार के कर्म हैं - त्रिकाल सन्ध्या, तर्पण, देवपूजन, व्रत, जप, तप, तीर्थयात्रा नित्यकर्म (यज्ञ) उपनयन, विवाह, संस्कार आदि नैमित्तिक कर्म (यज्ञ) एवं पुत्रेष्टि, राज्यप्राप्ति आदि काम्य कर्म (यज्ञ) स्वरूप ही हैं।

मानव जीवन को धारण करते ही द्विज ऋषि-ऋण , देव-ऋण और पितृ-ऋण इन तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी बन जाता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ऋषि-ऋण से, यज्ञ के द्वारा देव ऋण से और सन्तति के द्वारा पितृ-ऋण से मुक्ति होती है। भगवान् मनु ने भी 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य (6/35) इत्यादि वाक्यों द्वारा उपर्युक्त ऋण-त्रय के अपाकरण को ही मनुष्य का प्रधान कर्म बतलाया है। तीनों का अपना-अपना महत्व है। यज्ञ एक महत्वपूर्ण कर्म है। यज्ञ वैदिक काल में लोगों की दिनचर्या में रचा बसा था। वेदों में यज्ञ का बीज रूप से वर्णन है। यज्ञों की विधि ब्राह्मण ग्रन्थों में है। कल्पसूत्रों (श्रौतसूत्रों) में मुख्यतः ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित श्रौत अग्नि में सम्पन्न होने वाले वैदिक यज्ञों के विधि विधान का सूत्र रूप में संकलन है। गृह्यसूत्रों में यज्ञ की विधि और इयता का वर्णन है। कालिका पुराण में लिखा है कि 'सर्व यज्ञमयं जगत्' यह सम्पूर्ण जगत् यज्ञमय है। महर्षि भारद्वाज के 'यागपरः पुरुषधर्मः' के अनुसार यज्ञ मानव जाति का विशेष धर्म है। मनुष्य को अपना जीवन यज्ञमय बनाना चाहिए। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों का जीवन यज्ञमय था। वे यज्ञ-यज्ञादि की उपासना द्वारा ही दवताओं को सन्तुष्ट कर सर्वविध ऋद्धि-सिद्धियों को आत्मसात् कर अपना और विश्व का कल्याण किया करते थे।

यज्ञ के द्वारा ही समस्त संसार का कल्याण होता है। यज्ञ में लोक-कल्याण की भावना विशेष रूप से निहित रहती है। ऐतरेय ब्राह्मण (1/2/31) में कहा गया है- 'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते (यज्ञ जनता के कल्याण के लिए किया जाता है।) अतः लोक कल्याण की दृष्टि से सभी युगों में यज्ञ की नितान्त आवश्यकता है। वस्तुतः यज्ञ में अपूर्व शक्ति है। यज्ञ से जो जिस वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करता है वह उसे वही वस्तु देता है - 'यो यदिच्छति तस्य तत्' देवताओं की पूजा और तृप्ति के लिए ही यज्ञों का अनुष्ठान किया जता था। यज्ञों का अनुष्ठान व्यक्तिगत लाभ को ध्यान में न रखकर बल्कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को ध्यान में रखकर किया जाता था। इसीलिए धृत, दूध, अन्न, मांस, सोम की आहुति देते समय जो वैदिक ऋचाएं उच्चरित की जाती थी उनके साथ 'इदं न मम' का प्रयोग किया जाता था। अग्नि में जब उन-उन देवताओं को उद्देश्य करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक हवि को अर्पित किया जाता है तब अग्नि के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे उन-उन देवताओं तक उसे पहुँचा दें। ऐसा लोगों का विश्वास था कि ऊपर उठने वाली लम्बी-लम्बी लपटें हव्य को देवताओं तक पहुँचा देती है। यज्ञ के महत्व का सुन्दर स्वरूप गीता में कहा गया है:-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[8]

(समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं और अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है और वर्षा यज्ञ से होती है तथा वह यज्ञ कर्म से होता है। मनुस्मृति में भी कहा गया है:-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायतेवृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।[9]

(अग्नि में विधि-विधानपूर्वक दी हुई आहुति सूर्यदेव को प्राप्त होती है, पश्चात् उससे वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है।0

अतः स्पष्ट है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो यज्ञ के द्वारा प्राप्त न हो सके। यज्ञ से केवल ऐहलौकिक धनधान्य, सन्तति आदि वस्तुओं की ही नहीं किन्तु पार-लौकिक 'मोक्ष' आदि की भी प्राप्ति होती है। महर्षि वसिष्ठ का कथन है :-

यज्ञात् सृष्टि प्रजायन्ते अन्नानि विविधानि च।
तृणान्यौषधान्यथ च फलानि विविधानि च।
जीवानां जीवनार्थाय यज्ञः, संक्रियतां बुधैः।।

यज्ञ से सृष्टि चलती है, यज्ञ से विविध प्रकार के अन्न, घास, औषधि और फल होते हैं

अत: बुद्धिमानों को चाहिए कि वे प्राणिमात्र के जीवन के लिए यज्ञ को अवश्य किया करें।

हमारे देश में यज्ञों का इतना अधिक प्रचार-प्रसार था कि हमारा देश 'यज्ञिय देश' कहलाता था। यज्ञानुष्ठान होने से विभिन्न प्राकृतिक आपदाओं यथा भूकम्प, अकाल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी का नामोनिशान न था। लेकिन शनै:-शनै: यज्ञों का स्वरूप ब्राह्मणकाल में आकर जटिल हो गया। आर्यों का एक विशेष वर्ग ब्राह्मण ही अव याज्ञिक कर्मकाण्ड में पुरोहित का कार्य करने लगे थे। फलस्वरूप लोगों का यज्ञों के प्रति सम्मान न्यून होने लगा। याज्ञिक न्यूनता के कारण ही सम्पूर्ण संसार प्राकृतिक आपदाओं (भूकम्प, अकाल, महामारी, बाढ़, तूफान आदि) से पीड़ित है। जब तक भारत भूमि पर यज्ञों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से स्थिर थी तब तक देश में सर्वत्र सुख-समृद्धि का साम्राज्य था। सर्वत्र कल्याण ही कल्याण दृष्टिगोचर होता था। तत्कालीन समाज में लोग यज्ञों का अनुष्ठान करना अपना परम धर्म समझते थे। लोगों का यज्ञों में अटूट विश्वास था। यज्ञों में शास्त्रीय विधि के पालन का पूर्ण ध्यान रखा जाता था। यज्ञों का आयोजन होने पर वैदिक धर्म के अनुयायी सन्त, महात्मा और विद्वान् विशेष रूप से आमंत्रित किए जाते थे। जिनके द्वारा यज्ञों के महत्व का विशेष प्रख्यापन और प्रचार-प्रसार होता था।

पुरातन काल से लेकर अद्यतक काल तक यज्ञानुष्ठान अनेक प्रयोजन से किए जाते रहे हैं। लेकिन शनै:-शनै: आधुनिक युग में अर्थ के लोभ में यज्ञीय जटिलताओं को बढ़ा देने के कारण यज्ञों की परम्परा क्रमश: अविच्छिन्न प्राय हो गयी। अनेकविध प्रयोजनों और लोगों से निष्पादित किए जाने वाले यज्ञों के विषय में कालान्तर में चलकर नाना भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गयी। लोग यज्ञसे उत्पन्न होने वाले धुएँ, राख आदि को हानिकारक समझने लगें। लोगों की ऐसी धारणा बन गयी कि यज्ञ से कार्बन डाई आक्साइड़ उत्पन्न होता है। इस भ्रान्ति के निवारणार्थ हमारे देश के साथ-साथ विदेशों में अनेक प्रकार के अनुसन्धान इस विषय पर किए गए और किए जा रहे हैं। इन यज्ञीय भ्रान्तियों का निराकरण पत्रिका 'प्राथेय कण' दीपावलि विशेषांक 2001 में प्रकाशित किया गया है। जो इस प्रकार है :

साधारणत: किसी वस्तु के जलने एवं यज्ञ की अग्नि में होने वाली रासायनिक प्रक्रियाओं में काफी अन्तर है। इस विषयपर अनुसंधान अमेरिका में यज्ञ सोसाइटी नामक संस्था कर रही है। भारत में इस विषय पर अनुसन्धान हरिद्वार, मथुरा शांतिकुंज में यज्ञशालाओं में आधुनिक संयत्र लगाकर किए जा रहे हैं।

सम्भवत: जनसाधारण का यह मानना है कि यज्ञ में लकड़ी (समिधा) के जलने से कार्बन डाई आक्साइड पैदा होती है। लेकिन रसायन विज्ञान के माध्यम से यह बात सिद्ध होती है कि आम वस्तुओं को जलाने और यज्ञ के अनुष्ठान में काफी अन्तर है। यज्ञ में डालने वाले गोघृत, चावल तथा मीठे पदार्थों में वीटा कैरोटिन और कार्बोहाइड्रेट होती हैं। जब हम उन्हें यज्ञ में जलाते हैं तो

ये पदार्थ कार्बन डाई आक्साइड गैस में रूपान्तरित कर नेसेन्टहाइड्रोजन निकालते हैं और वह कार्बन तथा आक्सीजन के साथ फार्मेल्डिहाइड, इथाइल एल्कोहल और प्रोपिनाइक अम्ल बनाते हैं। ये तत्व हानिकारक नहीं है अपितु विसंक्रमणकारी हैं और वातावरण के प्रदूषण को नष्ट करते हैं।

विगत वर्षों से पश्चिम के कई देशों में यज्ञ के धुएँ और राख से वायुमण्डल पर पड़ने वाले प्रभावों पर अनुसंधान हो रहा है। जर्मनी की एक प्रयोगशाला में अनुसन्धान हुआ है कि मनुष्य में रोग विरोधी क्षमता तथा वायुमंडल के शुद्धिकरण की दृष्टि से यज्ञ के धुएँ और राख की उपयोगिता है। यज्ञ से पर्यावरणीय स्वास्थ्य बढ़ता है तथा मनुष्य, पशु और वनस्पति की साधारण विकास प्रक्रियाओं में सुधार और वृद्धि होती है। यज्ञ की राख का कई पौधों पर प्रयोग करने पर पाया गया कि इससे फलों की मात्रा स्वाद आदि में बढ़ोत्तरी होती है। अमेरिकी मनोवैज्ञानिक बेरी रैथनर जो पुणे विश्वविद्यलय में यज्ञ पर शोध का काम कर रहे थे, का कहना है कि अग्निहोत्र (यज्ञ) वायुमंडल में एक विशिष्ट ढ़ंग का प्रभाव उत्पन्न करता है ओर उसका मानव पर चिकित्सकीय प्रभाव पड़ता है। उस चिकित्सकीय प्रभाव की आयुर्वेद में स्पष्ट चर्चा है।

विश्व के चार अन्य देशों अमेरिका, चिली, पोलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी में भी अब यज्ञ होने लगे हैं। अमेरिका के पश्चिमी और पूर्वी समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में यज्ञ (अग्निहोत्र) करने वालों की संख्या काफी है। अमेरिका में 9 सितम्बर 1918 से अखण्उ हवन हो रहे हैं। जिस स्थान पर सतत् यज्ञ की प्रक्रिया जारी है उस स्थान का नाम है 'अग्निहोत्र प्रेस फार्म' वांशिगटन स्थित व्हाइट हाउस से कार द्वारा वहाँ तक मात्र दो एक घंटे में पहुँचा जा सकता है।

मैडीसन (वर्जीनिया) में प्रथम वैदिक यज्ञशाला का निर्माण हुआ। इस स्थान तक वाशिंगटन डेढ़ घंटे में पहुँचा जा सकता है। इसका प्रारम्भ 22 सितम्बर 1973 को हुआ और उसके बाद से पाश्चात्य जगत् में अग्निहोत्र (यज्ञ) का प्रचलन बढ़ा। चिली में एण्डीज पर्वत पर एक विशिष्ट यज्ञशाला है वहाँ यज्ञ से रोग मुक्ति होती है। पोलैण्ड में 17 स्थानों पर यज्ञ के केन्द्र हैं। जब वहाँ अग्निहोत्र का प्रचलन शुरू किया गया तो सबसे पहले यह घोषित किया गया कि वे ही लोग सम्मिलित हों जो नित्य यज्ञ करने को तैयार हों। यज्ञ के पहले ही दिन 200 वैज्ञानिकों ने यज्ञ में भाग लिया।

महाराष्ट्र प्रान्त के स्वामी वसंत परांजपे ने अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में एक अग्निहोत्र (यज्ञ) विश्वविद्यालय की स्थापना की है। वे अमेरिकी कृषकों को बताते हैं कि रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं के स्थान पर यज्ञ कुण्ड की राख से फसलों के सब रोग दूर किए जा सकते हैं और पैदावार में चौगुनी वृद्धि होती है। अग्निहोत्र विश्वविद्यालय (अमेरिका) के वैज्ञानिकों ने अपने-अपने खेतों पर जो प्रयोग किए हैं उससे उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि यज्ञ का प्रभाव पौधों की जड़ों तक होता है। यज्ञ के धूम से उक्त वैज्ञानिकों ने फसलों को हानि

पहुँचाने वाले 'आलुबीन' नामक कीटाणु को समूह नष्ट करने में सफलता प्राप्त की है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार यज्ञ-धूम आठ कि0मी0 तक चक्कर लगाता है और वहाँ की वायु का प्रदूषण समाप्त हो कर उस क्षेत्र की फसलों का स्वस्थ विकास करता है। शायद यही कारण था कि वैदिक काल में हमारा देश शस्य श्यामला कहा जाता था। प्लेग के टीके निर्माता डा0 हैफकिन (फ्रांस) ने लिखा है कि अग्नि में गोधृत डालने वे उत्पन्न धूम रोगाणुओं का विनाश करता है। विज्ञानी प्रो0 टिल्वर्ड ने बताया कि जलती हुई शक्कर के धुएं में वायु शोधन की विलक्षण क्षमता होती है। उन्होंने अपने प्रयोगों में क्षय आदि रोगों के विषाक्त कीटाणुओं का शक्कर के धुएँ से नाश होते पाया। इसीलिए यज्ञ में मीठे का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड के डा0 कर्नल किग ने घी, चावल ओर केशर के धुएं से कई रोगों के कीटाणुओं को मरते देखा है।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में हमारे देश में जो सुख सम्पन्नता थीं, धरती शस्य श्यामला थीं। आपदाओं का नामोनिशान न था इन सबके पीछे यज्ञीय प्रक्रियाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

यज्ञ से व्यक्तिगत मनोकामना की सिद्धि भी प्राचीन काल में की जाती थी। देवताओं ने यज्ञ के द्वारा 'देवत्व पद' और इन्द्र ने सौ यज्ञ करके देवराज पद को प्राप्त किया था। महाराज जनक ने यज्ञ के द्वारा अवर्षण को दूर किया था। महाराज दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ के द्वारा पुत्र की प्राप्ति की थी। महाराज दिलीप के 11 यज्ञों से ही प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हें 100 यज्ञ करने का फल दे दिया था। राजा दशरथ, राजा सगर द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने का विवरण रामायण में मिलता है। महाभारत में युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया था तथा रामायण में प्रभु रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया था। इन यज्ञीय अनुष्ठानों से विविध प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति होती थी। अद्यतन काल में भी अवर्षण हो जाने पर वृष्टि प्राप्ति हेतु नाना प्रकार के यज्ञीय अनुष्ठान सम्पन्न किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त पुत्र प्राप्ति, धन प्राप्ति तथा नाना प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को वैदिक वंश परम्परागत प्रतिष्ठित वेदज्ञ से ही यज्ञादि अनुष्ठान कराना चाहिए।

अन्ततोगत्वा हम कह सकते हैं कि वैदिक यज्ञ संस्था विश्व में अपने ढंग की अकेली व्यवस्था है जिसकी प्रतीकात्मकता अर्थवत्ता, आनुष्ठानिक जटिलता, जीवन और जगत् में उपादेयता तथा प्रासंगिकता को अक्षुण्ण बनाये रखना हर भारतीय नागरिक का कर्त्तव्य है।

संदर्भ संकेत

1. मनुस्मृति - 1/25
2. शुक्ल यजुर्वेद - 31/7
3. गीता 17/11
4. गीता 17/22
5. तत्रैव 17/23
6. शतपथ ब्रा0 11/5/5/1
7. कठो0 1/2/6
8. गीता - 3/14
9. तत्रैव - 3/36

वाल्मीकीय रामायण के लक्ष्मण का मूल्याङ्कन

डॉ0 किरण टण्डन

प्रो0 संस्कृत विभाग

कुमाऊँ वि.वि. (नैनीताल)

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने अपने कालजयी ग्रन्थ रामायण में प्राय: प्रत्येक वर्ग के पात्रों का समावेश किया है; और इन पात्रों का जीवन चरित अपनी विलक्षण विशेषताओं के कारण स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्यादि ब्रह्मर्षियों की लोककल्याणकारिता, दशरथ की प्रतिज्ञा, श्रीराम की मर्यादा एवं लोकरञ्जकता, सीता की पतिपरायणता, उर्मिला की सहिष्णुता, भरत की भ्रातृभक्ति, हनुमान् की प्रभुसेवा परायणता के साथ-साथ, श्रीराम के अनुज सुमित्रानन्दन लक्ष्मण की राम के प्रति समर्पणशीलता, जितेन्द्रियता, वीरता आदि अनुकरणीय विशेषताओं को वेदों तथा आर्ष ग्रन्थों के प्रति आस्था रखने वाले हम सब भारतीय बड़ी श्रद्धा भक्ति से याद किया करते हैं।

महर्षि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ रामायण में लक्ष्मण के बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही प्रकार के व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस संदर्भ मं सर्वविदित तथ्य यह है कि व्यक्ति का सुन्दर बाह्य व्यक्तित्व, उससे मिलने वाले लोगों के आकर्षण का साधन होता है, किन्तु व्यक्ति का गुणसम्पन्न आन्तरिक व्यक्त्वि ही उसे संसार में यशस्वी बनाता है। अपने इसी प्रशंसनीय आन्तरिक व्यक्तित्व से युक्त व्यक्ति जब लोकल्याणकारी कार्य करता है, तो अनायास ही लोकनायक बन जाता है। इसीलिए लोकरञ्जक मर्यादापुरुषोत्तम राम अपनी मानव जीवन लीला के समय में ही नहीं अपितु सदा सर्वदा के लिए जनमानस में लोकनायक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए और काव्यशास्त्र के मानदण्ड के अनुसार भी रामायण के प्रमुख नायक के रूप में मान्य हो गए। लोकल्याण से सम्बद्ध उनकी यात्रा के सच्चे साथी लक्ष्मण भी उन्हीं के समान गुणसम्पन्न व्यक्तित्ववाले हैं, अतएव उन्हें भी लोकनायक मानना चाहिए। दशरूपककार ने नायक के गुणों एवं स्वरूप का परिचय देते हुए कहा है-

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष: प्रियंवद:।
रक्तलोक: शुचिर्वाग्मी रूढवंश: स्थिरो युवा।।
बुद्धयुत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वित:।
शूरो दृढश्च तेजस्वीं शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक:।

दशरूपक, 2/1-2

नायकों में प्रमुख धीरोदात्त नायक के विषय में उनकी धारणा है -

महासत्त्वोऽतिगम्भीर: क्षमावानविकत्थन:।

स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रत:।।

वही, 2/4 का उत्तरार्ध, 5 का पूर्वार्ध

इसके अतिरिक्त इसी स्थल में पताकानायक के विषय में भी विद्वानों के मत प्रासङ्गिक है-

(क) पताकानायकस्त्वन्य: पीठमर्दो विचक्षण:।
तस्यैवानुचरो भक्त: किञ्चिदूनश्च तद्गुणै:।।

दशरूपक, 2/8

(ख) दूरानुवर्त्तिनि स्यात्तस्य प्रासंगिकेतिवृत्ते तु।
किञ्चित् तद्गुणहीन: सहाय एव पीठमर्दाख्य:।

साहित्यदर्पण, 3/39

(ग) अमुख्यो नायक: किञ्चिदूनवृत्तोऽग्र्यनायकात्।

नाट्यदर्पण, 4/13 का पूर्वार्ध

नायक से सम्बद्ध उपर्युक्त विशेषताओं एवं पताकानायक की परिभाषा का , लक्ष्मण की दृष्टि से, अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि राम का अनुसरण करने एवं उनके प्रति सच्ची भक्ति को धारण करने के कारण लक्ष्मण, रामायण के राम के नायकत्व की दृष्टि से पताकानायक की कोटि में आ जाते हैं -

(क) भ्राता चास्य च वैमात्र: सौमित्रिरमितप्रभ:।
अनुरागेण रूपेण गुणैश्चापि तथाविध:।।

वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड,35/22

(ख) लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रत:।।

अयोध्याकाण्ड, 37/6

और यदि स्वतन्त्र रूप से उनके चरित्र को परखा जाए तो उनमें धीरोदात्त नायक के गुण भी पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं -

(क) धीरता

धीरता का अर्थ है - संकटकाल में विचलित न होना, अर्थात् सहनशीलता और गम्भीरता। वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थलों पर लक्ष्मण के अन्दर इस गुण का प्राचुर्य देखने को मिलता है। वन में सीता जी के चुभते हुए वचनों को सुनकर भी वह कर्त्तव्यपथ से विचलित नहीं होते

(अरण्यकाण्ड, सर्ग 45); सीताहरण से विह्वल राम को समझाते हुए अपने प्रशंसनीय धैर्य का परिचय देते हैं-

शोकं विसृज्याद्य धृतिं भजस्व सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु।।

- अरण्यकाण्ड, 63/19

और उनके समझाने पर राम भी धैर्य धारण कर लेते हैं (किष्किन्धाकाण्ड, 1/115-124); समुद्र पर प्रहार करने के लिए कटिबद्ध क्रोधाविष्ट राम को भी लक्ष्मण बड़े धैर्य से समझाने में सफल हो जाते हैं (युद्धकाण्ड, 21/33, 34); मेघनाद से युद्ध करते समय भी वह धैर्य को धारण करते हैं तथा हतोत्साह नहीं होते (युद्धकाण्ड, 90/37-38)

(ख) वीरता

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ में महानायक लक्ष्मण को पराक्रमी महान् धनुर्धर, पराक्रमसम्पन्न आदि ऐसे विशेषणों से सम्बोधित किया है, जो उनकी वीरता के द्योतक हैं। राम ने भी लक्ष्मण की वीरता एवं युद्धकुशलता का परिचय दिया है; शत्रुघ्न एवं हनुमान् ने भी उनकी वीरता को सराहा है (अयोध्याकाण्ड, 78/3, सुन्दरकाण्ड, 51/19)। युद्ध में विजयी राम का अभिनन्दन करने के लिए आए हुए ऋषियों ने भी लक्ष्मण की वीरता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है; रामविजय में लक्ष्मण के सहयोग को खूब सराहा है (उत्तरकाण्ड, 1/2-6, 28)। शत्रुपक्ष के व्यक्ति भी उनकी वीरता का परिचय उन्मुक्त हृदय से देते हैं-

लक्ष्मणश्चात्र धर्मात्मा मातङ्गानामिवर्षभः।
यस्य बाणपथं प्राप्य न जीवेदपि वासवः।।

युद्धकाण्ड, 30/31

(ग) दृढ़ प्रतिज्ञता

लक्ष्मण की स्पष्ट मान्यता है कि प्रतिज्ञा पूरी न करने वाला व्यक्ति नरकगामी हो जाता है-

हीनप्रतिज्ञाः काकुत्स्थ प्रयान्ति नरके नराः।

-उत्तरकाण्ड, 106/3

वह रामकार्य में सुग्रीव की शिथिलता का अनुभव करके, उन्हें प्रतिज्ञा पालन न करने के कारण उत्पन्न होने वाले पापों के विषय में जानकारी देते हैं (किष्किन्धाकाण्ड, 34/8,9); वह स्वयं भी राम-सीता के साथ ही सदैव रहने की अपनी प्रतिज्ञा का दृढ़ता से निर्वाह करते हैं (अयोध्याकाण्ड, 21/16, 83/31); तथा मेघनाद के वध की प्रतिज्ञा को भी प्राणपण से पूरा करते हैं (युद्धकाण्ड, 83/42)।

(घ) सत्यनिष्ठा

वाल्मीकि ने लक्ष्मण को साधुवृत्त तथा सत्यमार्ग में स्थित बताया है-

साधुवृत्तेन लक्ष्मणः (किष्किन्धाकाण्ड, 31/7);

सततं सत्पथे स्थितः (अरण्यकाण्ड, 31/10)

सदाचारी व्यक्ति वह है जो सत्य बोले और सत्य का आचरण भी करे। लक्ष्मण ने सुग्रीव को भी सत्यवादिता का उपदेश दिया है और असत्य भाषण तथा प्रतिज्ञा भंग करने को पाप माना है (कि0का0 34/7-9)

(ङ) पुरुषार्थसम्पन्नता, उत्साहयुक्तता तथा भाग्यवादिता

वीर, कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति ही उत्साहसम्पन्न होते हैं। लक्ष्मण की स्पष्ट मान्यता है कि उत्साही व्यक्ति संसार में कठिन से कठिन कार्य करते समय भी निराश नहीं होते-

उतसहवन्तो हि नरा न लोके।
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु।

- अरण्यकाण्ड, 63/19

पुरुषार्थ के समक्ष वह दैव को भी तुच्छ मानते हैं -

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते।।
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति।

-अयोध्याकाण्ड 23/16-17

सीतावियोग से दुखी राम को भी वह पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते हैं (अरण्यकाण्ड, 63/16, 66/6, 67/8; किष्किन्धाकाण्ड, 1/115 120, 122)। किन्तु भाग्यवादिता को भी पूरी तरह अस्वीकार नहीं करते (अरण्यकाण्ड, 66/12)। उनके मतानुसार दैव का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। (उत्तरकाण्ड, 50/4)।

(च) कृतज्ञता तथा उदारता

लक्ष्मण के व्यक्तित्व में इन दोनों गुणों का सम्मिलित रूप दृष्टिगोचर होता है। राम ने लक्ष्मण की कृतज्ञता की प्रशंसा करते हुए कहा है कि तुम जैसे पुत्र के कारण ही हमारे धर्मात्मा पिता अभी मरे नहीं है, अपितु तुम्हारे रूप में जीवित हैं। (अरण्यकाण्ड, 15/29)। लक्ष्मण कृतघ्नता को ऐसा पाप मानते हैं, जिसका प्रायश्चित नहीं हो सकता (किष्किन्धाकाण्ड, 33/47)।

वाल्मीकि ने स्थान-स्थान पर लक्ष्मण को उदारदृष्टि, उदारचित्त आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है (अयोध्याकाण्ड, 55/33; अरण्यकाण्ड, 63/18)। लक्ष्मण का हृदय अत्यन्त विशाल है। उनके व्यक्तित्व में स्वार्थपरता लेशमात्र भी दृग्गोचर नहीं होती। वाल्मीकि ने विश्वामित्र के साथ जाते हुए राम के समान ही लक्ष्मण को भी उच्च एवं उदात्तवृत्ति वाला बताया है (बालकाण्ड, 22/8)। अपने इसी गुण के कारण लक्ष्मण ने समुद्र पर क्रोध करने वाले राम को समझाया है (युद्धकाण्ड, 29/34)। युद्ध के बाद सुग्रीवादि वीरों की प्रशंसा करना भी लक्ष्मण की कृतज्ञता एवं उदारता का द्योतक है (कि0कि0, 33/13-18)।

(छ) ईर्ष्या, असूया, क्रोध, अहंकारादि मनोविकारों का राहित्य

चूँकि लक्ष्मण एक ऐसे महापुरुष हैं, जो निष्काम सेवा पर ही विश्वास करते हैं। इसलिए राम के राज्याभिषेक के अवसर पर उपर्युक्त दोषों से सर्वथा दूर ही रहते हैं और अत्यधिक उल्लसित हो जाते हैं। कैकेयी एवं भरत के प्रति कहे गए उनके कटुवचन, ईर्ष्या, असूया, क्रोध आदि के प्रतीत न होकर, उनकी दृष्टि में राम के प्रति होने वाले अन्याय से उत्पन्न होने वाले दु:ख की प्रतिक्रियास्वरूप हैं। लक्ष्मण ने निर्बल प्राणियों के ऊपर कभी-भी क्रोध को अभिव्यक्त नहीं किया है। क्रोध का भाव उनके अन्दर तभी जागा है, जब उन्हें महसूस हुआ कि उनके राम के साथ अन्याय हो रहा है (अयोध्याकाण्ड, 17/19, 21/56)। अत: उनका क्रोध राम के प्रति स्नेह एवं भक्ति का प्रतीक तथा समयोचित है। उनका क्रोध युद्धभूमि में व्यक्त हुआ है, जो शत्रु को परास्त करते समय वीरव्यक्ति का आभूषण बन जाता है। वाल्मीकि ने कहा भी है कि कौन ऐसा वीर है, जो क्रुद्ध लक्ष्मण के बाणों के सामने ठहर सके (सुन्दरकाण्ड, 51/19)। इसके साथ ही उनका क्रोध सुग्रीव जैसे मित्र का अनिष्ट भी नहीं करता। स्थान-स्थान पर लक्ष्मण ने राम को भी क्रोध करने से रोका है-

(क) पुरा भूत्वा मृदुर्दान्त: सर्वभूतहितेरत:।
न क्रोधवशमापन्न: प्रकृतिं हातुमर्हसि।।

-अरण्यकाण्ड, 65/4

(ख) एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुं त्वमर्हसि।

- वही, 65/6।

(ग) नियम्य कोपं परिपाल्यतां शरत्
क्षमस्व मासांश्चतुरो मया सह।।

-किष्किन्धाकाण्ड, 28/48

क्रोध करने पर लक्ष्मण उसका निग्रह भी कर लेते हैं। इसीलिए महर्षि वाल्मीकि ने उन्हें

उच्चस्वभाव वाला बताया है (बालकाण्ड, 77/24, अयोध्याकाण्ड, 44/5, 55/33, अरण्यकाण्ड 34/14, 63/18, किष्किन्धाकाण्ड, 27/6)।

लक्ष्मण निगूढाहङ्कार हैं। उनके व्यक्तित्व में कहीं पर भी अहंकार दृष्टिगोचर नहीं होता, हाँ, कहीं-कहीं उनकी उक्तियों में गर्व की झलक दिखाई दे जाती है। पर वह वस्तुतः उनका गर्व या अहंकार नहीं है, अपितु रामकार्य के प्रति उनमें विद्यमान उत्साह का भाव है। इस प्रकार उनका अहंकार विनम्रता और उत्साह से आवृत हो जाता है (अयोध्याकाण्ड, 23वां सर्ग)। विश्वामित्र के प्रति राम के वचन कि हम दोनों आपके दास हैं, आप हमें करणीय कर्त्तव्य की आज्ञा दें, (बालकाण्ड (31/4) में राम की बात का मौन अनुमोदन करना और राम से कहना-

मां शाधि तवास्मि किङ्करः।

- अयोध्याकाण्ड, 23/40

(ज) भावुकता एवं सहृदयता

वाल्मीकि के लक्ष्मण का हृदय सुकुमार है, वह जीवन की हर परिस्थिति से प्रभावित हो जाता है। रामायण में उनकी भावुकता अनेक स्थलों पर देखी जा सकती है। राम के वनगमन का समाचार सुनते ही उनकी आंखों में आंसू आ जाते हैं (अयोध्याकाण्ड, 19/30), इस अवसर पर माताओं का विलाप सुनकर उनका हृदय द्रवित हो जाता है (वही, 21/1); और सहृदयता के वशीभूत होकर वह राम के साथ वन जाने को तत्पर हो जाते हैं राम भी उनकी सहृदयता की प्रशंसा करते हैं (वही 31/27); वनवास के समय पिता से आज्ञा मांगते समय भी उनकी सहृदयता देखी जा सकती है (वही 34/19,20) गुहराज निषाद के समक्ष, अपने बड़े भाई के प्रति सौहार्द्रवश ही तथा अपने माता-पिता की दीन दशा के स्मरण से व्याकुल लक्ष्मण सारी रात विलाप करते हुए तथा जागते हुए व्यतीत कर देते हैं (वहीं, 51/26, 86) और निषादराज को भी द्रवित कर देते हैं। लक्ष्मण के सौहार्द्र को अधोलिखित पद्यों के द्वारा समझा जा सकता है-

परिदेवयमानस्य दुःखार्त्तस्य महात्मनः।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत।।
तथा हि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते
नरेन्द्रसूनौ गुरुसौहृदाद् गुहः।
मुमोच वाष्पं व्यसनामिपीडितो,
ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः।।

-अयोध्याकाण्ड, 51/26, 27

राम के आदेशानुसार विवश होकर वह सीता को वन में पहुँचाने का कार्य तो करते हैं, किन्तु

भागीरथी के पास पहुँचने पर फूट-फूट कर रोने लगते हैं (उत्तरकाण्ड, 46/24)।

(फ) धर्मज्ञता

वाल्मीकि ने लक्ष्मण को धर्मज्ञ, धर्मात्मा, धर्मपरायण, महात्मा आदि विशेषणों से विभूषित किया है (बालकाण्ड, 24/11, अयोध्याकाण्ड 60/6, 112, 86/6, अरण्यकाण्ड, 15/29, 53/18, किष्किन्धाकाण्ड, 2/1, 38/50)। लक्ष्मण के आचरण में धर्म का पूर्ण समावेश है भी। उपकार का बदला चुकाना भी उनकी दृष्टि में धर्म है। (कि.का0 33/47)। वह प्रजा को अपने दु:ख से दु:खी न करने के राम के परामर्श का अनुमोदन करते हैं (कि.का. 6/128), राम के कहने पर भी राज्य को स्वीकार नहीं करते (युद्धकाण्ड, 128/92, 93)। राम को धर्मपालन में तत्पर देखकर लक्ष्मण प्रसन्न होते हैं (अयोध्याकाण्ड, 23/1) तथा राम भी लक्ष्मण को धर्मज्ञ कहकर उनकी प्रशंसा करते हैं (अयो0 53/18, अरण्यकाण्ड 15/29)। लक्ष्मण राजकीय, पारिवारिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत सभी कर्त्तव्यों का यथाशक्ति पालन करने के कारण श्रेष्ठ धर्मज्ञ की कोटि में आ जाते हैं। (अयो0 5/127)।

(ञ) वाग्मिता

वाल्मीकि ने लक्ष्मण को परिस्थिति के अनुसार बोलने योग्य वचनों का मर्मज्ञ बताया है (बालकाण्ड, 30/1)। राम ने उनके इसी गुण के कारण उन्हें हनुमान् से बात करने के लिए नियुक्त किया और उनके वचनों को सुनकर हनुमान भी अत्यधिक प्रसन्न हुए (किष्किन्धा काण्ड, 3/27, 37, 39)। वह रावण की बहिन शूर्पणखा से वार्ता करते समय अपनी वाग्मिता, विनोदप्रियता तथा व्यञ्जनाशक्ति का परिचय देते हैं (अरण्यकाण्ड, 18/9-11, 13)। स्पष्ट है कि लक्ष्मण युक्तियुक्त बात कहने में कुशल हैं।

(ट) त्याग की भावना

लक्ष्मण त्याग की प्रतिमूर्ति हैं। अपने बड़े भाई राम की सेवा का व्रत लेकर दाम्पत्य सुख तथा राजसी ठाठ-बाट को भी उन्होंने छोड़ दिया। निषादराज गुह के कहने पर भी अच्छी शैया एवं आहार को राम सीता की सेवा में रहने के कारण स्वीकार नहीं करते। राम और सीता को भूमि पर सोता हुआ देखकर अच्छी शय्या पर सोना, स्वादिष्ट खाना खाना और दूसरे-दूसरे सुखों का उपभोग उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं आता (अयोध्याकाण्ड, 51/1-12, 86/1-11)। राज्याभिषेक राम ने लक्ष्मण के सामने युवराज बनने का प्रस्ताव रखा, किन्तु उन्होंने राम के इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया (युद्धकाण्ड, 128/92-93)

(ठ) गुरुजनों के प्रति भक्तिभावना

लक्ष्मण की अपने गुरूजनों यथा-माता-पिता, शिक्षक, कुलगुरु, बड़े भाई राम के प्रति श्रद्धा एवं भक्तिभावना उनका सर्वाधिक श्लाघनीय गुण है। वह अपनी माता सुमित्रा की आज्ञा एवं

निर्देशन के बाद ही राम के साथ वन जाते हैं (अयोध्या0 31/22, 23, 51/18) और इस अवसर पर अपनी माता एवं कौसल्या माता को भी प्रणाम करते हैं (वहीं 40/3); भरत के साथ चित्रकूट पहुँची हुई सभी माताओं को समान भाव से प्रणाम करते हैं (वही, 51/14, 18, 104220); सीता के सम्बन्ध में अपनी माँ के कथन-मां विद्धि जनकात्मजाम् (वही 40/1) को बड़ी गम्भीरता से स्वीकार करते हैं, और सीता की रक्षा के लिए ही शूर्पणखा को भी दण्डित कर देते हैं (अरण्यकाण्ड, 18/21)

अपने पिता महाराज दशरथ के प्रति भक्ति भी उनमें अपने भाइयों के ही समान है। वनगमन के समय पिता को प्रणाम करने के बाद ही माताओं को प्रणाम करते हैं (अयोध्याकाण्ड 19-24, 26 सर्ग)। अपने पिता महाराज दशरथ का परिचय देते समय मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते हैं

राजा दशरथो नाम द्युतिमान् धर्मवत्सल:।
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन्॥
न द्वेष्टा विद्यते तस्य स तु द्वेष्टि न कञ्चन।
स तु सर्वेषु भूतेषु पितामह: इवापर:॥

-किष्किन्धाकाण्ड, 4/6,7

गुरु विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए वह राम का ही अनुसरण करते हैं। गुरु की सेवा वह गुरु की इच्छानुसार ही करते हैं, ताटका वध में सहयोग देते हैं, छ: दिन और छ: रात जागकर तपोवन की रक्षा करते हैं और अपने आपको गुरु का दास मानते हैं (बालकाण्ड, 22/6, 13-14, 23/1-4, 24/10-11, 26/18, 28, 29, 30/2 3,5, 31/4)।

लक्ष्मण बाल्यावस्था से ही अपने बड़े भाई राम के प्रति अनुरक्त हैं, सब प्रकार से उनका प्रिय करने में लगे रहने वाले हैं-

सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरत:।

-बालकाण्ड, 18/29

वह सेव्य-सेवक भाव से उनका अनुगमन करने वाले हैं (वहीं 3/62); राम के बिना तो वह स्वर्ग पाने, अमर होने तथा सम्पूर्ण लोकों के ऐश्वर्य को पाने की भी इच्छा नहीं रखते (अयोध्याकाण्ड, 31/5); कबन्ध को अपनी बलि देकर राम को मुक्त करना चाहते हैं-

मयैकेन तु निर्मुक्त: परिमुच्यस्व राघव।
मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्व यथासुखम्॥

-अरण्यकाण्ड, 69/39

वन गमन के लिए तत्पर वल्कलधारी राम को देखकर स्वयं भी वल्कल पहिनने में विलम्ब नहीं करते। उन्हें अच्छी शिखा एवं संस्कार अपनी माता से मिले हैं कि

एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्।।

-अयोध्याकाण्ड, 40/6

लक्ष्मण राम की आज्ञा मानकर, अनेक बार युद्ध नहीं करते, भरत के प्रति उत्पन्न रोष को भी शान्त कर लेते हैं (अयोध्याकाण्ड, 66, 67 सर्ग)। सीताजी के सम्बन्ध में राम के आचरण से उत्पन्न कष्ट को अनेक बार चुप-चाप सहन करते हैं (अरण्यकाण्ड, 24 सर्ग, युद्धकाण्ड, 114 सर्ग, 116 सर्ग, उत्तरकाण्ड 45-48 सर्ग)।

राम के प्रति उनके भक्ति भाव की प्रशंसा रामायण के अन्य पात्रों ने की है। उनके प्रति स्त्रियों के उद्‌गार हैं-

एको सत्पुरुषो लोके लक्ष्मण: सह सीतया।

योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने।।

-अयोध्याकाण्ड, 48/2

वह स्वयं भी अपने आप को, राम का दास मानते हैं (किष्किन्धाकाण्ड, 4/12)।

श्रीराम ने भी लक्ष्मण को अपना प्रियबन्धु, अनुरागी तथा भक्तिभाव से सम्पन्न माना है (युद्धकाण्ड, 49/18)। इसके अतिरिक्त अगस्त्य ऋषि (अयोध्याकाण्ड, 32/13-14) भारद्वाज मुनि (वही 54/12), अत्रिमुनि (वही, 117/6), दशरथ के सारथि एवं मंत्री सुमन्त्र (वही 32/15-23) आदि के प्रति भी लक्ष्मण का भक्तिभाव व्यक्त हुआ है।

श्रीराम के साथ-साथ चलते हुए लक्ष्मण की देशभक्ति भावनां एवं जन्मभूमिप्रेम को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आंसुरी शक्तियों के संहार एवं सज्जनों के संरक्षण में भी राम के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चले हैं। राम के वचनों की रक्षा के साथ-साथ दुर्वासा के शाप से अयोध्या की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति ही नहीं देते हैं, अपितु राम द्वारा परित्यागे जाने के दण्ड को भी सहन कहते हैं (उत्तरकाण्ड, सर्ग 105-106)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि वाल्मीकि के लक्ष्मण का व्यक्तित्व आज के युवाओं का प्रेरणास्रोत बनने की योग्यता तो रखता ही है, वेद के सिद्धान्तों एवं मानदण्डों की दृष्टि से भी खरा उतरता है। रामानुज लोकनायक लक्ष्मण के प्रति प्रणामाञ्जलि पूर्वक अपना यह शोधलेख मैं अब समाप्त करती हूँ।

विष्णु देवता- महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य के परिप्रेक्ष्य में समीक्षात्मक अनुशीलन

डॉ0 चाँद कौर मान
रा.वरि. महाविद्यालय, उदाराखेड़ी
पानीपत (हरियाणा)

विष्णु शब्द की उत्पत्ति एवं अर्थ -

विष्णु शब्द की विद्वानों ने अनेक प्रकार से निरुक्ति करते हुए इसको विविध अर्थों में प्रयुक्त किया है। आचार्य यास्क ने अपने निरुक्त नामक ग्रन्थ में 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति √विश प्रवेशने अथवा वि√अश व्याप्तौ धातु से की है।[1] आचार्य पाणिनि ने अपने शब्दकोष नामक ग्रन्थ में 'विष्णु' को व्याकरण की दृष्टि से √विष्लृ व्याप्तौ धातु से 'नु' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न माना है और उसे कित् सिद्ध किया है।[2] ब्लूमफील्ड आदि पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार विष्णु एक यौगिक शब्द है, जो कि √स्नु धातु से निष्पन्न है।[3] उनके अनुसार 'स्नु' शब्द का वही अर्थ है, जो 'सानु' अर्थात् शिखर या उपरि धरातल का होता है, जो 'वि' उपसर्ग से युक्त होकर अंग्रेजी के Through विचार का भाव व्यक्त करता है। तदनुसार इस शब्द का अर्थ 'वह देवता जो पृथ्वी के पृष्ठ भाग अर्थात् धरातल से होकर जाता है। इन सभी विद्वानों के साथ-साथ महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने वेदों का सत्यार्थ प्रकट करने के लिए यौगिक शैली का सहारा लेकर जो नवीन निरुक्तियाँ की हैं, इनमें उन्होंने विष्णु को आध्यात्मिक दृष्टि से परमेश्वर के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने विष्णु शब्द का यौगिक अर्थ **'वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् सः विष्णु ईश्वरः'** इस प्रकार किया है। इसी का समर्थन करते हुए लगभग इसी के समान भावार्थ रखने वाला विष्णु का पारमार्थिक स्वरूप यास्ककृत निरुक्त में दृष्टिगोचर होता है, यथा **'अथ यद्विषतो भवति तद् विष्णुर्विशतेर्वा।**[5]

महर्षि दयानन्दकृत वेदभाष्यों में विष्णु का स्वरूप -

महर्षि जी ने अपने वेदभाष्यों में वेदमंत्रों का भाष्य करते समय सर्वत्र उनका पारमार्थिक एवं व्यावहारिक अर्थ उजागर किया है। जिन मंत्रों के अर्थो का सीधा सम्बन्ध परमेश्वर से हो उन्होंने उनको परमार्थिक की संज्ञा प्रदान की है। उनकी दृष्टि में किसी भी मंत्र का अर्थ करते समय ईश्वर का अत्यन्त त्याग कदापि नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि कार्यरूप संसार में निमित्तकारण ईश्वर सर्वांगरूप से व्याप्त है।[6] अतः उन्होंने अग्नि, इन्द्र, मरुत्, विष्णु इत्यादि वेदमंत्रों में प्रयुक्त शब्दों का सर्वप्रथम यौगिक प्रक्रियानुसार अर्थ करते हुए प्रकृति तथा प्रत्यय के अनुरूप उनका पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से विस्तृत विवेचन किया है। इसी प्रकार वेदमन्त्रों का भाष्य करते समय भी महर्षि जी ने पारमार्थिकवाद का सर्वथा अत्याग करते हुए अनेक मंत्रों का

व्यावहारिक दृष्टि से भी अर्थ किया है। ऐसा करके उन्होंने समस्त जगत् का कल्याण ही किया है। उनकी दृष्टि में जिन मंत्रों का अर्थ समाज कल्याणार्थ किया गया हो, वही व्यवहारवाद कहलाता है। उन्होंने परमेश्वर विषय से भिन्नार्थ को व्यवहारार्थ में स्वीकार किया है। वेदमन्त्रों का व्यावहारिक विद्यापरक अर्थ ही व्यावहारिक अर्थ होता है। अत: पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से विष्णु देवता का भी अर्थ स्पष्ट करते हुए महर्षि जी ने इनका आध्यात्मिक, आधि-दैविक एवं आधिभौतिक इत्यादि तीनों प्रकार का स्वरूप स्वीकार किया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से महर्षि दयानन्द सरस्वती ने विष्णु शब्द का अर्थ ईश्वर माना है। उनकी दृष्टि में विष्णु ही सबके अन्दर व्याप्त हुए जगदीशवर अथवा प्राण हैं[9]। सर्वत्र व्याप्त होने वाला पुरुष अथवा परमेश्वर[10], शुभ गुणकर्मस्वभाव वाला व्यापक परमेश्वर[11], उत्पत्ति करने वाला सविता, जगदीश्वर[12], सर्वव्यापक जगदीश्वर अथवा व्यापनशील प्राण[13], विश्व में अन्तर्यामीश्वर[14], विश अर्थात् सब पूजा का स्वामी (पालक) चेतन परमात्मा[15] और सर्वव्यापक परमेश्वर है।[16] अत: ऐसा प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से विष्णु एक व्यापक परमेश्वर है, जिसे सम्पूर्ण जगत् का पालक देव के रूप में मान्यता प्राप्त है। महर्षि दयानन्द सरस्वती को 'ऋग्वेद' के एक मंत्र में विष्णु ही सृष्टि का कर्ता (ईश्वर) स्वीकृत है। इसी बात को प्रमाणित करते हुए उन्होंने इस ऋचा के माध्यम से यह स्पष्ट दर्शाया है कि हे मनुष्यो! जिसने पृथिवी पर प्रसिद्ध लोकों का निर्माण किया है, जो नाना वेदमंत्रों द्वारा स्तुति किया गया है तथा जिसकी प्रशंसा की गई है, वही प्रलय के पश्चात् कारण रूप प्रकृति को अपने इसी स्थान पर विशेष रूप से प्रचालित करता है और उसे धारण करता है। जैसे सूर्य अपनी आकर्षण शक्ति से सब भूगोलों को धारण करता है, वैसे यह विष्णु अर्थात् जगदीशवर तीन प्रकार से अर्थात् सूर्यादि लोकों को, कारणरूप प्रकृति को और समस्त जीवों को धारण कर रहा है। उस विष्णु के पराक्रमों का; मैं दीर्घतमा ऋषि, उपदेश करता हूँ कि उसने इन असंख्य लोकों को यथाशीघ्र बनाया है और जो प्रलयकाल में जिसमें विलीन हो जाते हैं, वहीं विष्णु सबका उपासनीय है। उसी की उपासना से सब सुख प्राप्त करते हैं।[16]

इस प्रकार अपनी इस ऋचा के भाष्य में महर्षि जी विष्णु को अत्यन्त वीर्यवान् (बलवान्) पृथिवी पर प्रसिद्ध सूर्यादिक लोकों का निर्माता, प्रलय के उपरान्त प्रकृति को धारण करने वाला, सूर्यादि लोकों, प्रकृति और जीवों का संचालन करने वाला दर्शाते हैं। अत: उनके अनुसार विष्णु ही सर्वव्यापक ईश्वर है और वही इस विचित्र सृष्टि की रचना करने में समर्थ है।

अन्यत्र एक ऋचा में उन्होंने विष्णु को ही सृष्टि का धर्ता बताते हुए यह प्रतिपादित किया है कि जिस विष्णु (जगदीश्वर) की रचना में मधुर आदि गुणों से परिपूर्ण और कभी नष्ट न होने वाले तीन पद अपने स्वरूप की धारणात्मक क्रिया से जगत को आनन्दित करते हैं, वही पृथिवी और द्युलोक को तथा सत्व, रजस्, तमस् आदि तीन धातुओं वाले सब लोकों का धारण व पोषण

करता है, जो प्रकृति अर्थात् अनादि कारण से सूर्यादि प्रकाशमान लोकों को तथा नाना पृथिवियों को उत्पन्न करके और उन्हें सब भोग्य पदार्थों से संयुक्त करके प्राणियों को आनन्दित करता है, उस विष्णु के गुण और कर्मों की उपासना (आराधना) से सदा आनन्द की वृद्धि होती है।[17]

अत: महर्षि जी के मतानुसार उस विष्णु के नाम, जन्म व स्थान ये तीन पद मधु से परिपूर्ण और कभी भी क्षीण न होने वाले हैं। वह विष्णु अकेला ही पृथिवी लोक, द्युलोक तथा सत्व, रजस्, तमस् रूपवाली तीन धातुओं से बने हुए सब लोकों को धारण करने वाला है।

ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर अपने भाष्य में महर्षि जी ने विष्णु के कार्य का विवरण देते हुए कहा कि वह विष्णु अर्थात् ईश्वर अदभ्य है और अविनाशी होने से कोई इसकी हिंसा नहीं कर सकता है। अत: इस विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक ईश्वर ने सब जगत् को धारण करते हुए तीन जानने योग्य पदों (पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक) को निर्मित किया है। इसी निमित्त कारण रूप विष्णु (सर्वान्तर्यामीश्वर) से उत्पन्न होकर सभी अपने-अपने धर्मों (गुणों) को धारण करते हैं।

अत: महर्षि जी के मतानुसार उस विष्णु (ईश्वर) के धारण के बिना किसी भी वस्तु की स्थिति सम्भव नहीं है और विष्णु की रचना के बिना किसी का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उस विष्णु अर्थात् सर्वान्तर्यामीश्वर ने ही पूर्वोक्त तीन प्रकार से इस जगत् को धारण कर रखा है। उसी की धारणशक्ति से जगत् के सभी पदार्थ अपने धर्मों को धारण किये हुए हैं अर्थात् अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त हैं।[18]

महर्षि जी ने अनेक स्थलों पर 'विष्णु' को आधिदैविक दृष्टि से विवेचित करते हुए इसे अपनी दीप्ति से व्यापक सूर्य कहा है।[19] इसी को व्यापक विद्युद्रूप अग्नि भी प्रदर्शित किया है।[20] उनके मतानुसार इसी विष्णु ने अन्तरिक्ष, स्थल और वायु आदि पदार्थों को व्याप्त किया है।[21] यज्ञ हमारा विष्णु है।[22] एवं सब देवताओं को भी विष्णु ही कहा जाता है[23] इसी प्रकार एक स्थल पर वे दर्शाते हैं कि सभी देवताओं में अग्नि अवर अर्थात् नीचा और विष्णु परम अर्थात् ऊँचा है।[24] जो यह विष्णु है, यही आदित्य है[25] और जो यह यज्ञ है, वह विष्णु है।[26] 'शतपथ' ब्राह्मणानुसार उनके मत में जो विष्णु है, वही सोम है।[27] यहीं पर सब प्रकार के यज्ञ विष्णु कहे गए हैं।[28] गोपथ 'ब्राह्मण' में तो सामान्य यज्ञ भी विष्णु ही है।[29] 'शतपथ' ब्राह्मण के मतानुसार अग्नि दिन है, सोम रात्रि है, जो माध्यन्दिन वह विष्णु है।[30] इसी ब्राह्मण में एक स्थल पर यह भी उल्लिखित है कि अग्नि यज्ञ का अवरार्ध्य है और विष्णु परार्ध्य है।[31] कौषीतकि ब्राह्मण में देवों में अग्नि को अवरार्ध्य और विष्णु को परार्ध्य कहा गया है।[32] ताण्ड्य ब्राह्मणानुसार विष्णु सभी देवताओं के अन्दर है।[33] ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार अग्नि और विष्णु देवों के अन्तिम भाग हैं।[34] तथा विष्णु सब देवों में श्रेष्ठ हैं।[35]

इस प्रकार अनेक ग्रन्थों के अनुशीलनोपरान्त ज्ञातव्य है कि महर्षि जी ने विष्णु को एक आधिदैविक दृष्टि से परिपूर्ण देव स्वीकार किया है। उनके मतानुसार विष्णु ही सर्वश्रेष्ठ देवता

दृष्टिगोचर होता है जो सभी देवों में विद्यमान है।

महर्षि दयानन्द ने विष्णु देवता के आध्यात्मिक व आधिदैविक स्वरूपों के साथ उनको आधिभौतिक दृष्टि से भी अनेक स्थलों पर दर्शाया है। 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर भाष्य करते हुए उन्होंने विष्णु को व्यापक ज्ञान वा धनञ्जय नामक प्राण अथवा हिरण्यगर्भ माना है।[36] अन्यत्र उनको विद्या के सब अंगों को व्याप्त करने वाला योग्य सेनाध्यक्ष,[37] प्रजा का स्वामी विद्वान्[38], परस्पर विशेषरूप से विद्या आदि गुणों की स्पर्धा करने वाला[39], विष्णु अर्थात् विद्या में व्याप्त विद्वानों को प्राप्त होने वाला बोध[40], विष्णु अर्थात् कृषि सम्बन्धी कार्यों से प्राप्त करने वाला मनुष्य[41], शिलल्पविद्या में व्याप्तिशील मनुष्य[42], और विशेषतः विद्वज्जनों से स्पर्धा करने वाला पुरुष[43] आदि रूप दर्शाया गया है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में विष्णु को देवताओं का द्वारपाल[44] तथा एक प्रकार का तेज कहा गया है।[45] यजुर्वेद में कुछ अन्य स्थलों पर उन्होंने इसे सब विद्या और कर्म में व्याप्त स्वभाव वाला यजमान[46] तथा परमेश्वर के समान न्यायकारी[47] और सब गुण कर्मों में व्याप्त गृहपति भी माना है।[48] 'ऋग्वेद' के अनेक स्थलों पर महर्षि जी ने विष्णु का अर्थ विविध धर्मयुक्त व्यवहारों के सदृश जीवनयापन करने वाला[49], विद्या और धर्म में व्याप्त सुशीलजन[50] सबका सत्कार करने वाला सज्जन[51], एवं सब इन्द्रियों को व्याप्त करने वाला मन अर्थात् चित्त भी किया है।[52] यजुर्वेद में एक स्थल पर उन्होंने विष्णु को शत्रुओं के ऊपर शस्त्रादि फैंकने वाला राजपुरुष कहा है।[53] तैत्तिरीयारण्यक में इस देव को आशाओं का पति अर्थात् रक्षक स्वीकृत किया गया है।[54] शतपथ ब्राह्मण में जो दीक्षा अर्थात् व्रत को धारण करता है, वह विष्णु ही है।[55] 'ऋग्वेद' में एक स्थल पर महर्षि जी ने साथ छोड़ देने वाला वित्त, धन अथवा भोग भी विष्णु को ही माना है।[56] अन्यत्र यही देव विविध रूप से प्रकाशित होने वाला[57] विभाग करने वाला[58] एवं विशेष रूप से सरण अर्थात् गति करने वाला भी कहा गया है।[59] एवमेव ऋग्वेद के षष्ठमण्डल के 69वें सूक्त की एक अन्य ऋचा में राजा और शिल्पी के प्रति उपदेश करते हुए इन्द्र और विष्णु से प्रार्थना की गई है कि हे राजा और शिल्पी जनों! जो तुम बुद्धियों को उत्पन्न करने वाले, उन्हें बढ़ाने वाले इन्द्र अर्थात् सूर्य और विष्णु अर्थात् विद्युत् हैं, उनसे सम्बद्ध तुम दोनों की मंत्र एवं सत्कार से प्रशंसित वाणियाँ और गीयमान स्तोत्र सब जनों तक पहुँचें और तुम दोनों भी सबकी सदा रक्षा किया करो।[60]

इस ऋचा पर भाष्य करते हुए महर्षि दयानन्द का यह भाव है कि यथार्थरूप में इन्द्र अर्थात् वायु और विष्णु अर्थात् विद्युत् बुद्धि को बढ़ाने वाले हैं और सब विद्याओं को धारण करने वाले हैं। राजा और शिल्पी लोग उनका यथावत् प्रयोग करते रहें। अतः ये दोनों देव इसकी विद्या, शिक्षा और उपदेश की यथावत् रक्षा करें। इस प्रकार यहाँ इन्द्र अर्थात् वायु और विष्णु अर्थात् विद्युत की उपमा से राजा और शिल्पीजनों को राजकर्म का उपदेश करते हुए विष्णु का

आधिभौतिक स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

राजा और शिल्पीजनों के कर्त्तव्य के रूप में एक स्थल पर बृहस्पति के पुत्र भारद्वाज ऋषि द्वारा दृष्ट इस मंत्र में इन्द्र और विष्णु से प्रार्थना करते हुए महर्षि जी का यह अभिप्राय है कि हे इन्द्र अर्थात् विद्युत् और विष्णु अर्थात् सूर्य के समान वर्तमान भरद्वाज और शिल्पीजन! जैसे तुम दोनों को मैं अत्यन्त अभीष्ट कर्म के निमित्त यथावत् बढ़ाता हूँ, तुम्हें समृद्ध बनाता हूँ और इस अभीष्ट कर्म की सिद्धि के लिए अन्नादि प्रदान से तुम्हें समृद्ध करता हूँ, अतः तुम दोनों भी हिंसा रहित मार्गों से हमें पार करने के लिए यज्ञ अर्थात् पारस्परिक संगतिकरण, धन और यश का सेवन करो और हमारे लिए भी उस यज्ञ और प्रतिष्ठा को धारण करो।[61] इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए दयानन्द सरस्वती ने यह मत व्यक्त किया है कि राजा और शिल्पीजनों का कर्त्तव्य है कि जैसे विद्युत् (अग्नि) तथा वायु (विमान) आदि में प्रयुक्त किये हुए गतिरूप कर्म से एक देश से दूसरे देश में पहुँचाते हैं, वैसे ही हे इन्द्र और विष्णु, उन विद्युत् आदि विषयक विद्याओं में प्रेरित करके हमें धन और यश को प्राप्त कराओ और हम लोग आपकी सेवा करते रहें। व्यावहारिक दृष्टि से यहाँ इन्द्र और विष्णु देवता का द्वन्द्वरूप में उल्लेख करके इन्द्र अर्थात् सूर्य (वायु) और विद्युत् की उपमा से राजा और शिल्पीजनों के साथ-साथ विष्णु के व्यावहारिक कृत्यों का संकेत किया गया है।

सभापति और सेनापति के रूप में विष्णु देवता को दर्शाते हुए पूर्वोक्त ऋचा के समान इस ऋचा में भी प्रकारान्तर से इन्द्र और विष्णु की स्तुति करते हुए यह उपदेश दिया गया है कि हे इन्द्र अर्थात् वायु और विष्णु अर्थात् विद्युत के तुल्य सभापति और सेनापति लोगों! तुम नाना प्रकार के आनन्दों में से आनन्द विशेष की रक्षा करने वाले और धन तथा यश को धारण करने वाले हो। तुम दोनों सोम-ऐश्वर्य को प्राप्त होओ। तुम दोनों को मानव समाज के मध्य, दिन-रात वैदिक स्तोत्रों से की गई तुम्हारी स्तुतियाँ तुम्हें लोक में प्रसिद्ध करें, जिससे तुम दोनों हमें यथावत् प्राप्त होते रहो, मिलते रहो।62

प्रस्तुत मंत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि जी ने सभापति और सेनापति के माध्यम से इन्द्र और विष्णु के व्यावहारिक कर्मों पर प्रकाश डाला है। ये दोनों सभापति और सेनापति, सबके आनन्द को बढ़ाने वाले होते हैं और मानव समाज में प्रशंसित होते हैं और प्रजा को विद्या धन और यश प्रदान करते हैं, वे राजकर्म के योग्य हैं अतः इसमें इन्द्र और विष्णु दोनों देवताओं का द्वन्द्वरूप दृष्टिगोचर होता है तथा इन्द्र अर्थात् वायु और विष्णु अर्थात् विद्युत् की उपमा से सभापति और सेनापति के राजकर्मों का भी उपदेश किया गया है।

एवमेव अग्रिम ऋचा में भी इन्द्र अर्थात् वायु और विष्णु अर्थात् सूर्य से उपमित करते हुए सभापति और सेनापति लोगों को उपदेश दिया गया है कि जो महान् पुरुष अभिमानी शत्रुओं का

मर्षण (विनाश) कर सकते हैं, वे तुम्हारे सधमाद=समान स्थान (दरबार) में प्राप्त होवें, उपस्थित रहें और तुम दोनों उन महान् पुरुषों के सब आदान-प्रदान योग्य धनों को उन्हें प्रदान करो तथा मुझ भरद्वाज ऋषि की वाणी का निकटता से श्रवण करो।[63] वस्तुतः इस मंत्र की व्याख्या में भी महर्षि जी ने यह प्रतिपादित करना चाहा है कि यदि राजा को बुद्धिमान्, अति बलवान् और शत्रुबल का मर्षण करने वाले महान् पुरुष प्राप्त हों तो वे ही समस्त ऐश्वर्य और विद्या का जगत् में प्रसार कर सकते हैं। इसी कारण बुद्धिमान्, अत्यन्त बलशाली शत्रु को परास्त करने वाले समग्र ऐश्वर्य और विद्या का जगत् में प्रसार करने वाले इन्द्र और विष्णु से उस राजा को उपमित किया गया है साथ ही सभापति एवं सेनापति के राजकर्मों का उपदेश भी किया गया है।

इसी प्रकार एक अन्य ऋचा के भाष्य में भी परमैश्वर्यवान् विष्णु और इन्द्र की समानता सभापति और सेनापति से करते हुए महर्षि जी ने यह उपदेश दिया है कि तुम दोनों असंख्य सैन्य समूह से उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तथा आदि मध्य और अन्त भेद से तीन प्रकार के शत्रुओं को संघर्ष के लिए तैयार करो और उसे विवध प्रकार की प्रेरणा प्रदान करो तभी तुम दोनों विजय प्राप्त कर सकते हो, पराजित नहीं हो सकते तथा तुम दोनों में कोई भी पराजित नहीं हो सकता।[64] इस ऋचा पर भाष्य करते हुए स्वामी जी ने सभापति (राजा) और सेनापति (बालाध्यक्ष) के माध्यम से सेना की उन्नति, युद्धविद्या की वृद्धि आदि कृत्यों के द्वारा सर्वत्र विजय श्री प्राप्त करवाने वाले इन्द्र और विष्णु के व्यावहारिक कर्मों का संकेत किया है। तथा सभापति और सेनापति के राजकर्मों का उपदेश भी किया है।

अनूचान अध्यापक के रूप में विष्णु देवता को सकल विद्याओं में व्याप्त विद्वान् के रूप में दर्शाया गया है। यहाँ दीर्धतमा ऋषि द्वारा दृष्ट इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि जी का मन्तव्य है कि हे समस्त विद्याओं की स्तुति करने वाले सज्जनों। जैसे तुम विद्या प्राप्ति रूप जन्म से पूर्वजों के द्वारा बनाये हुए उस आप्त विद्वान् अध्यापक को जानते हो असत्य की विद्या से उत्पन्न बोध कर विचार पूर्वक पालन करते हो। इस प्रत्यक्ष विद्वान् के नाम आदि भी यथावत् जानते हुए इससे वार्तालाप करते हो तथा इससे उपदेश ग्रहण करते हो, वैसे तुम लोग भी इस प्रत्यक्ष विद्वान् को यथावत् जानें और इसका यथावत् पालन करें, इसकी सेवा करें। हे विष्णो! अर्थात् सकल विद्याओं में व्याप्त विद्वान्! हम लोग आपके जिस महती सुमति का सेवन करते हैं, उसे ग्रहण करते हैं अतः आप हमें सुशिक्षित बनाएँ।[65] प्रस्तुत मंत्र पर भाष्य करते हुए महर्षि जी का यह अभिप्राय है कि सब मनुष्य विद्या की प्राप्ति के लिए शास्त्रों के प्रवक्ता विद्वान् अध्यापक को प्राप्त करके उसकी अत्युत्तम सेवा करें और अपने पूर्ण पुरुषार्थ से सत्य विद्याओं को ग्रहण करके विद्वान् बनें, क्योंकि आधिभौतिक दृष्टि से यहाँ अनूचान अध्यापक के रूप में निरुपित किया है।

महर्षि जी ने अपने ऋग्वेद भाष्य में एक स्थान पर ऋचा का भाष्य करते हुए विष्णु को

अति विद्वान् के रूप में प्रशंसित करते हुए यह उपदेश दिया है कि हे विष्णो! अर्थात् सब विद्याओं में व्यापक! आपका जो अध्यर्य अर्थात् बढ़ाने योग्य और स्तोम अर्थात् स्तुति करने योग्य व्यवहार है और यज्ञ अर्थात् संगति के योग्य ब्रह्मचर्य है, वह विद्यादान और ग्रहण रूप व्यवहार से साध्य है, संशोधन के योग्य है। उस ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करके सुख देने वाले मित्र के समान रक्षकजनों को प्राप्त करने वाला और यशस्वी बनकर आप्तविद्वान् की सहायता से तू घृतादि उत्तम पदार्थों का सेवन करने वाला और यशस्वी बन।[66] इस ऋचा के भाष्य में महर्षि जी ने यह समझाया है कि जो लोग ब्रह्मचर्य पालन रूप यज्ञ की वृद्धि, स्तुति और सिद्धि करना चाहते हैं, वे उसका पालन करके, विद्वान् होकर सबके साथ मित्र तुल्य व्यवहार करके उनका उपकार करें। एवमेव विष्णु को यहाँ विद्या आदि शुभ गुणों से व्याप्त अति विद्वान् के रूप में निर्दिष्ट किया है।

इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से विष्णु को महर्षि जी ने ईश्वर, जगदीश्वर एवं परमेश्वर स्वरूप माना है। आधिदैविक दृष्टि से उन्होंने इसे अग्नि, विद्युत, सूर्य एवं यज्ञ बतलाया है। एवमेव आधिभौतिक दृष्टि से यही देव योगी, योगिराज, सेनाध्यक्ष, सेनापति, न्यायाधीश, राजा, सज्जन विद्वान्, यजमान, रक्षक एवं विविध विद्याओं के व्यापनशील मनुष्य भी है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से विष्णु सदैव उन्नति भावना वाला परमेश्वर, आधिदैविक दृष्टि से आगे जाता हुआ सूर्य एवं आधिभौतिक दृष्टि से समाज सुधारक भी विष्णु देवता ही बताया गया है।

संदर्भ संकेत

1. या0नि. 12.18 : विष्णुर्विशतेर्वा - व्यश्नोते र्वा
2. पा0अ0 3.3.39 : विपेः क्विच।
3. ब्लूमफील्ड दि रिलीजन ऑफ दि वेद : पृ0 168 तथा अमेरिकन जर्नल ऑफ फिलालोजी : भाग 27 पृ0 428
4. द्र0 ऋग्वेदादि भा0भू0; पृ0 352
5. पा0नि0 12.18 : पृ0 355
6. द्र0 ऋग्वेदादि भा0भू0
7. द्र0 ऋग्वेदादि 1.22.20 : (दया0भा0) वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् सः ईश्वरः।
8. ऐ0ब्रा0 5.16 : (दया0भा0) सर्वाऽन्तः प्रविष्टः (जगदीश्वर)
9. द्रवं यजु0 31.4 : (दया0भा0) यो विषु सर्वत्राञ्चति प्राप्नोति सः (पुरुषः परमेश्वरः)
10. ऐ0ब्रा010.30 : (दया0भा0) व्यापकेन परमेश्वरेण शुभगुणकर्मस्वभावेन।
11. द्र0ऋ0 7.38.2 : (दया0भा0) उत्पादयन् सविता=जगदीश्वरः।

12. यजु0 5.19 : (दया0भा0) सर्वव्यापिन् जगदीश्वर व्यापनशील: प्राणो वा।

13. द्र0 ऋ0 1.22.18 : (दया0भा0) विश्वान्तर्यामीश्वर:

14. तत्रैव 3.38 : (दया0भा0) विश: सर्वस्या:प्रजाया: पालकं स्वामिनम् (चेतनम् परमात्मनम्)

15. यजु0 33.97 : (दया0भा0) व्यापकं परमेश्वरं।

16. द्र0ऋ0 1.154.1 : (दया0भा0) विष्णो: वेवष्टिव्याप्नोति सर्वत्र स विष्णुस्तस्य नु-सद्य:, कम्-सुखम्, वीर्याणि-पराक्रमान्, प्रवोचम् - वदेयम्, य: पार्थिवानि पृथिव्यां विदितानि, विममे, रजांसि लोकान् य: अस्कभायत्-स्तभ्नाति उत्तरम्-प्रलयादनन्तरं कारणाख्यम, सधस्थम्-सहस्थानम् विचक्रमाण:-विशेषेण प्रचालयन्, त्रेधा-त्रिभि: प्रकारै:, उरुगाय: - य ऊरूभिर्वहुभिर्मन्त्रैर्गीयते स्तूयते वा।

17. द्र0ऋ0 1.150.4 : (दया0भा0) यस्य जगदीश्वरस्य मध्ये त्री-त्रीणि, पूर्णा-पूर्णानि, मधुना मधुराद्येन गुणेन, वदानि प्राप्तुमर्हाणि, अक्षीयमाणा क्षयरहितानि, स्वधया-स्वस्वरूपधारणया क्रियया, मदन्ति य: उ त्रिधातु-त्रय: सत्व रजस्तम आदि धातवो येषु तानि, पृथिवीम्-भूमिम्, उत-अपि, द्याम्-सूर्यम्, एक:-अद्वैत:, दाधार-धरति पोषयति वा, भुवनानि विश्वा-सर्वाणि।

18. द्र0ऋ0 1.22.18 : (दया0भा0) त्रीणि-त्रिविश्वानि, पदा-पदानि, वेद्यानि प्राप्तव्यानि वा, वि-विविधार्थे, चक्रमे-विहितवान् 'विष्णु:'-विश्वान्तर्यामी, गोपा:-रक्षक:, अदाभ्य:- अविनाशित्वान्नैव केनापि हिंसितु शक्य:, अत: कारणादुत्पद्य, धर्माणि - स्वस्वभावजन्यान् धर्मान्, धारयन्-धारणं कुर्वन्।।

19. द्र0ऋ0 1.156.4 : (दया0भा0) स्वदीप्त्या व्यापक: सूर्य:।

20. द्र0यजु0 22.6 : (दया0भा0)व्यापकाय विद्युद्रूपाय (अग्नये)

21. तत्रैव 2.25 : (दया0भा0)यो वेवष्टि व्याप्नोत्यन्तरिक्षस्थलवाय्वादिपदार्थान् स यज्ञ:।

22. ऐ0ब्रा0 1.15 : (दया0भा0) विष्णु वैं यज्ञ:।

23. ऐ0ब्रा0 1.1 : (दया0भा0) विष्णु: सर्वा: देवता:।

24. ऐ0ब्रा0 1.1 : (दया0भा0) अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु: परम:।

25. द्र0श0ब्रा0, 14.1.1.6 : स य: स विष्णुर्यज्ञ: स:। स य: स यज्ञाऽसौ स आदितय:।

26. तत्रैव, 14.1.1.13 : स उ एव मख: स विष्णु:।

27. तत्रैव, 3.3.4.21 : यो वै विष्णु सोम स:।

28. तत्रैव, 4.6.7.3 : यजूꣳषि विष्णु:।

29. गो0ब्रा0, 1.12 : विष्णुर्यज्ञ:।

30. शवब्रा0, 3.4.4.15 : अग्निर्वाऽअह: सोमो रात्रिरथ यदन्तरेण तद् विष्णु:।

31. तत्रैव 5.2.3.6 : अग्निर्वै यज्ञस्यावराध्यों विष्णुः पराध्र्यः।
32. कौ0ब्रा0 7.1 : अग्निर्वै देवानामवराध्यों विष्णुः पराध्र्यः।
33. ता0ब्रा0. 21.4.6 : अन्तो विष्णुर्देवानाम्।
34. कौ0ब्रा0. 7.1 : अग्नाविष्णू वै देवानामन्तभाजौ।
35. श0ब्रा0 14.1.1.5 : तस्माद् आहुर्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठ इति।
36. द्र0 ऋ0 6.21.9: (दया0भा0) व्यापकं व्यानं धनञ्जयं वा हिरण्यगर्भम्
37. तत्रैव 1.61.7 : (दया0भा0) सर्वविद्याङ्गव्यापनशील: (योग्य: सेनाध्यक्ष:)
38. तत्रैव 6.1.10 : : (दया0भा0) प्रजास्वामिन् (विद्वज्जन:)
39. तत्रैव 1.173.10: : (दया0भा0) परस्परं विशेषत: स्वर्द्धमाना: (विद्वांस:)
40. तत्रैव 1.1.16.23 : : (दया0भा0) विष्णान् विद्या व्यापिनो विदुष आप्नोति बोधस्तम्।
41. तत्रैव 1.117.7 : : (दया0भा0) विष्णानि कृपिव्याप्तानि कर्माण्याप्नोति येन पुरुषेण तम्।
42. तत्रैव 1.85.7 : : (दया0भा0) शिल्पविद्या व्यापनशीलो मनुष्य:।
43. तत्रैव 5.87.4 : : (दया0भा0) ये विशेषेण स्पर्द्धन्ते तान् (विद्वज्जनान्)
44. ऐ0ब्रा0 1.30 : : (दया0भा0) विष्णुर्वै देवानां द्वारप:।
45. तत्रैव 10.25 : : (दया0भा0) विष्णुस्तंजनम्।
46. द्र0यजु0 5.1 : : (दया0भा0) सर्वविद्या कर्मव्यापन स्वभावाय (यजमानाय)
47. तत्रैव 9.31 : : (दया0भा0) परमेश्वर इव न्यायकारी
48. तत्रैव 8.17 : : (दया0भा0) सर्वशुभ गुणकर्मसुव्याप्त: (गृहपति:)
49. तत्रैव 8.113.6 : : (दया0भा0)विविध धर्म्यव्यवहारैस्तुल्यानि (जीविता-जीवितानि)
50. तत्रैव 7.18.6 : : (दया0भा0) व्याप्त विद्या धम्र सुशीलयोर्द्वयो: (सुहज्जनयो:)
51. तत्रैव 6.6.3 : : (दया0भा0) य: सर्वमञ्चति (सज्जन:)
52. तत्रैव 7.25.1 : : (दया0भा0) यद् विष्वगञ्चति व्याप्नोति तत् (मन: चित्तम्)
53. द्र0यजु0 16.23 : : (दया0भा0) शत्रूणामुपरि शस्त्रादिकं त्यजद्म्य: (राजजनेभ्य:0
54. द्र0 तै0आ0 3.1.1-4 : : (दया0भा0) विष्ण्वाशानां पते।
55. द्र0श0ब्रा0 3.2.1.17 : : (दया0भा0) यदह दीक्षते तद् विष्णुर्भवति।
56. द्र0ऋ0 5.42.9 : : (दया0भा0) यो विसृजति तम् (वित्तं धनं भोगं वा)

57. तत्रैव 10.71.4 : : (दया0भा0) विविधतया प्रकाशयति।

58. तत्रैव 5.45.2 : : (दया0भा0) विभजति।

59. तत्रैव 7.36.1 : : (दया0भा0) विशेषेण सरति गच्छति।

60. द्र0 ऋ0 6.69.2 : : (दया0भा0) या-यौ विश्वासाम् सर्वासाम्, जनितारा-उत्पादकौ मतीनाम्-प्रज्ञानाम्, इन्द्राविष्णू-सूर्य्यविद्युतौ, कलशा-कुम्भाविव, सोमधाना सोमं दधति ययास्तौ, प्र वाम् गिर:-वाच:, शस्यमाना: स्तूयमाना:, अवन्तु-रक्षन्तु, प्र स्तोमास: ये स्तूयन्ते ते, गीयमानास:-सुगीता:, अर्कै-मन्त्रै: सत्कारैर्वा।

61. तत्रैव 6.69.1 : : (दया0भा0)सम्-सम्यक्, वाम्-युवाम् कर्मणा-ईप्सिततमेन व्यापारेण, सम्-सम्यक्, इषा अन्नादिना, हिनेमि वर्धयामि इन्द्राविष्णू-सूर्यविद्युतौ, अपस: कर्मण:, पारे अस्य जुषेथाम्-सेवेथाम्, यज्ञम्-सङ्गतिकरणम्, द्रविणम् धनं यशो वा, च धत्तम् अरिष्टै: - अहिंसितैर्हिंसकरहितै:, न: अस्माकमस्मभ्यं वा, पथिभि: - मार्गै:, पारयप्ता-पारं गमयन्तौ।।

62. द्र0 ऋ0 6.69.3 : : (दया0भा0) इन्द्राविष्णू-वायुविद्युताविव सभासेनेशौ, मदस्य आनन्दस्य पालकौ मदानाम्-आनन्दानाम्, आ, सोमम्-ऐश्वर्यम्, यातम्-गच्छतम, द्रविणो धनं ययवा, दधानाधरन्तौ, सम् वाम्-युवाम् अञ्जन्तु-प्रकटीकुर्वन्तु, अक्तुभि: रात्रिभि:, मतीनाम् मनुष्याणाम्, सम् स्तोमास:-स्तुतय:, शस्यमानास: प्रशंसिता:, उक्थै: वेदस्थै: स्तोत्रै:।

63. तत्रैव 6.69.4 : : (दया0भा0) आ समन्तात्, वाम्-युवाम्, अश्वास:-महान्त:, अभिमाति पाह:- ये अभिमानयुक्ताञ्छत्रून् सोढुं शक्नुवन्ति, इन्द्राविष्णू-वायुसूर्य्यौ, सधमाद: - समानस्थानानि, वहन्तु, जुषेथाम्, विश्वा-सर्वाणि, हवना-दातुमादातुमर्हाणि, मतीनाम्-मनुष्याणाम, उप-सामीप्ये, अर्हाणि धनानि, शृणुतम्, गिर:-वाणी:, मे-मम।।

64. द्र0ऋ0 6.69.8. : (दया0भा0) उभा सभासेनेशौ, जिग्यथु:-विजयेथे, न निषेधे, पततमेये पराजयं प्राप्नुथ:, न परा जिग्ये पराजितो भवति, कतर:-अनयोर्मध्ये एक:, चन-अपि, एकम् अनयोर्मध्ये, इन्द्र:-परमैश्वर्यवान्वायुवद्वर्त्तमान:, च विष्णो विद्युद्वद्व्यापनशील, यत् अस्पृधेथाम् सपर्द्धेथाम्, त्रेधा- त्रिविधम्, सहस्रम्-असंख्यं सैन्यम्, वितत् ऐरयेथाम्-प्रेरयेताम्।

65. तत्रैव 1.156.3 : (दया0भा0) तमाप्तमध्यापकं विद्वांसम्, उ-वितर्के, स्तोतार:-सर्वा विद्यास्तावका:, पूर्व्यम्-पूर्वै: कृतम्, यथा विद-विजानीत्, ऋतस्य-सत्यस्य, गर्भम्-विद्यार्जं बोधम् जनुना विद्याजन्मना, पिपर्त्तन-पिपृत विद्याभि: संवया वा पूर्ण कुरुत, आ अस्य जानन्त: नाम प्रसिद्धिम-चित् अपि, विवक्तन-वदतोपदिशत, मह: महतीम्, ते-तव, 'विष्णो सकलविद्याव्याप्त', सुमतिम् शोभनां प्रज्ञाम्, भजामहे सेवामहे।

66. ऋ0 1.156.1 : (दया0भा0) ते तव, विष्णो सर्वासु विद्यासु व्यापिन्, विदुषाआप्तेन विपश्चिता, चित्-अपि, अर्घ्य:-वर्द्धितुं योग्य:, स्तोम: स्तोतुमर्हो व्यवहार:, यज्ञ-सङ्गन्तुमर्हो ब्रह्मचर्याख्य:, च राध्य संशोधितुं योग्य:, हविष्मता-प्रशस्तविद्यादान ग्रहणयुक्तेन व्यवहारेण।

वाल्मीकि रामायण में वैदिक आश्रम-व्यवस्था

डॉ0 योगेश शास्त्री
कृते मुख्याध्यापक विद्यालय विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

वर्ण और आश्रम भारतीय जीवन की वैज्ञानिक व्यवस्था रही है तथा भारतीय संस्कृति के सुदृढ़ आधार स्तम्भ भी हैं। हमारे ऋषियों ने जीवन के लिए चार आश्रमों का निर्माण किया। सूत्र साहित्य में इन आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[1] इनका विधान मनुष्य की आयु को 100 वर्ष मानकर किया गया और हर आश्रम के लिए 25 वर्ष का काल निर्धारण किया गया। वेदों में अनेक स्थलों पर ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन मिलता है। विशेष रूप से तो अथर्ववेद में, जहाँ ब्रह्मचर्य पर एक पूरा सूक्त मिलता है।[2] ब्रह्मचर्य और तप से ब्रह्मचारी उत्तम लोकों को प्राप्त करता है।[3] ब्रह्मचर्य केवल बाह्य आचार भर नहीं है, वरन् एक अर्जित दिव्य क्षमता है जिसके बल पर राजा राष्ट्र की रक्षा करता है और आचार्य नयी पीढ़ी में दायित्व एवं प्रतिभा के संस्कारों का आधान करता है।[4] आचार्य नयी चेतना और क्षमता से ब्रह्मचारी को संयुक्त करता हुआ उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता है।[5] वह नवयुवक को वह सूत्र देता है, जो पूरे जीवन तक उत्कर्ष का मूल सिद्ध होते हैं। यथा-

कर्म कुरु। दिवा मा स्वाप्सीः।
आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात्।
नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव।

श0ब्रा0 11.5.4

छान्दोग्योपनिषद् और शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय पर बल देते हुए ब्रह्मचर्य आश्रम के आचारों का उल्लेख किया गया है।[6] वेद और परवर्ती ग्रन्थ में ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश के लिए उपनयन[7] कर, मृगचर्म आदि धारण करने की परम्परा का कथन किया गया है।[8] ब्रह्मचारी के लिए महर्षियों के दिव्य व सात्विक तपोवन थे, जो उस समय शिक्षा निकेतन थे।

ब्रह्मचर्य के प्रसंग में उपनयन का उल्लेख हुआ है। आचार्य के द्वारा ब्रह्मविद्या की शिक्षा देने के लिए स्वीकार किये जाने की विधि का नाम उपनयन है। उपनयन संस्कार के द्वारा आचार्य विद्यार्थी को नया जन्म देता है। यथा-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।। 11.5.3

यहाँ उपनयन करते हुए आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को गर्भ में प्रतिष्ठित करने की बात कही गई है। इस प्रकार आचार्य उस विद्यार्थी को आरम्भ में दैवी विभूतियों से सम्पन्न करता था। सूत्र और स्मृतिकाल में उपनयन के सम्बन्ध में विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की गई। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के लिए आयु तथा विधान व्यवस्थित किये गए।[9]

उपनयन संस्कार से ही ब्रह्मचारी यज्ञोपवीत धारण करता था, किन्तु वैदिक काल में जनेऊ धारण करने की प्रथा न थी। उस समय उत्तरीय धारण किया जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम का समय दीर्घ सत्र माना गया है।[10] यह ब्रह्मचर्य यज्ञ का प्रतीक है। अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है।[11] उपनिषदों में अनेक दार्शनिक स्त्रियों की उच्चकोटि की विद्वता का परिचय मिलता है।[12] सूत्र साहित्य में भी विदुषी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है।[13]

ब्रह्मचारी के लिए दैनिक आचार के विधान हमें वेदोत्तर साहित्य में मिलते हैं जिनमें भोजन, वस्त्र, मेखला और कमण्डल आदि सम्मिलित हैं। मनु के अनुसार विद्यार्थी को नित्य समिधा से हवन करना चाहिए और पृथ्वी पर सोना चाहिए।[14] समावर्तन सम्बन्धी स्नान करने वाले व्यक्ति को स्नातक कहा जाता था। स्नातक की प्रशंसा में अथर्ववेद का कथन है- स स्नातो बभ्रुः पृथिव्यां बहु रोचते ब्रह्मचारी।[15] इसके साथ ही ब्रह्मचारी को समुद्र के समान गम्भीर तथा उत्तम व्रत में स्थिर होकर महातप को धारण करने वाला भी बताया गया है।[16] स्पष्ट है कि वैदिक काल में इस आश्रम में पवित्र जीवन तथा आचरण के द्वारा बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक शक्तियों का विकास करने का विधान एवं व्यवस्था थी। इस प्रकार जीवन के इस प्रथम खण्ड में सर्वांगीण क्षमताओं की वृद्धि की जाती थी, जो जीवन के शेष तीन आश्रमों का आधार बनती थी।

स्नातक के सम्बन्ध में सूत्र साहित्य भी प्रेरक है, जिसमें तीन प्रकार के स्नातकों का उल्लेख मिलता है। वे हैं व्रतस्नातक, विद्या स्नातक तथा उभय स्नातक। गृहस्थाश्रम सामायिक जीवन के मेरुदण्ड था, अन्य तीन आश्रम इसी पर अवलम्बित थे। विवाह संस्कार ही गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ था, उसका प्रवेश द्वार था। ऋग्वेद में 'जाया ही घर है', शतपथ में यह वर्णन है।

वानप्रस्थाश्रम को एकान्त वास कहा गया है। उपनिषदों के अनुसार - जो विद्वान् शान्तमन से कर्मों को नियमपूर्वक सम्पादित कर कष्टों को सहन करता हुआ शुभ अन्तःकरण से अरण्यवास करता है, वह परमेश्वर को प्राप्त करके परमानन्द का अधिकारी होता है। उपनिषद् साहित्य में अरण्यवास वानप्रस्थ का ही प्रतीक है। सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम समाज गृही भवेत - गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।।

संन्यास आश्रम के लिए भिक्षाचर्या और प्रवजन तथा परिव्रजन शब्दों को निरूपित किया गया है। इस आश्रम में योगसाधना द्वारा संन्यासी ब्रह्मसाक्षात्कार कर मोक्ष का लाभ प्राप्त करता है। छान्दोग्य, मुण्डकोपनिषद् एवं शतपथ ब्राह्मण आदि में इसका विवेचन प्राप्त होता है।

वाल्मीकि रामायण में ब्रह्मचर्याश्रम

आश्रम की वैदिक व्यवस्था रामायण काल में पूर्णरूपेण प्रचलित थी। वैदिक विधि के अनुसार विद्यार्थी कुलपति के पास जाकर उसके निर्देशन में शिक्षार्जन करते थे तथा अपने जीवन के सम्यक् विकास के लिए क्षमता उपलब्ध करते थे। अगस्त्य, भारद्वाज और वाल्मीकि ऐसे ही कुलपति थे। रामायण के उल्लेख के अनुसार कुछ ब्रह्मचारी ऐसे भी होते थे, जो वन में चिन्तन एवं साधना में तत्पर रहते थे और वे इतने एकान्तवासी हो जाते थे कि किसी से परिचित तक नहीं हो पाते थे। विभाण्डक पुत्र ऋष्यश्रृंग इसी कोटि के ब्रह्मचारी थे, जो अपने पिता के साथ वन में निवास करते थे।

वैदिक साहित्य में ब्रह्मचारी के आचार-विचार और वेशभूषा का जैसा प्रचलन था वह रामायण काल में भी यथावत् प्रचलित था। कौशल्या के पास मेखलाधारी ब्रह्मचारियों के पहुँचने का कथन किया गया है।[20] आदिकाव्य के अनुसार लोक में प्रचलित ब्रह्मचर्य के दो रूपों की ओर संकेत किया गया है, पहले में दण्ड, मेखला आदि को धारण कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाता था। ब्रह्मचर्य का यह प्रमुख रूप था। दूसरे में जो पुरुष ऋतुकाल अर्थात् ऋतु स्नान के बाद पत्नी समागम करता था, वह समाविष्ट होता था।[21] रामायण में निरूपित ब्रह्मचारी का यह दूसरा रूप विशिष्ट था।

शिक्षा की समाप्ति पर समावर्तन की जो परम्परा वैदिक काल में थी, वह रामायण काल में यथावत् रूप से अक्षुण्ण थी। वेद के सन्दर्भ में जिन स्नातक कोटियों का उल्लेख किया गया है, वे कोटियाँ रामायण में भी मिलती हैं और इस प्रकार हमें विद्या-स्नातक[22], व्रत स्नातक[23] और विद्याव्रत[24] स्नातक के रूप उपलब्ध होते हैं। राम और रावण दोनों विद्याव्रत स्नातक[25] की श्रेणी में आते हैं।

लक्ष्मण से वार्तालाप करते हुए राम कठशाखा के अध्येता उन बहुत से दण्डधारी ब्रह्मचारियों की चर्चा करते हैं जो सदा स्वाध्याय में ही संलग्न रहने के कारण दूसरा कोई कार्य नहीं कर पाते थे। ऐसे भिक्षालसी ब्रह्मचारियों के लिए अन्न व रत्न आदि की व्यवस्था की जाती थी।[26] ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा का विधान वेद से लेकर परवर्ती वैदिक साहित्य में आवश्यक बताया गया है।[27] आपस्तम्ब धर्मसूत्र[28] में तो यहाँ तक कहा गया कि भिक्षार्थी ब्रह्मचारी को निराश करने वाला व्यक्ति पातकी होता था। राम के उक्त कथन से स्पष्ट है कि रामायण काल तक भैक्षचर्य की परम्परा यथावत् स्थिर थी।

ब्रह्मचर्य के द्वारा कन्या युवापति को प्राप्त करती है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में तो नारी के स्नातिका बनने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है।[29] गोभिल गृह्यसूत्र में विवाह काल में यज्ञोपवीत धारिणी कन्या का वर्णन मिलता है।[30] इसके अतिरिक्त आपस्तम्ब गृह्यसूत्र में स्त्री आचार्यों का उल्लेख हुआ है।[31] रामायण में 'नियता ब्रह्मचारिणी' का कथन किया गया है।[32] सीता राम से वन

में साथ चलने का आग्रह करते हुए वहाँ नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करने और सेवा में तत्पर रहने का वचन देती है।[33] रामायण में वेद, ब्रह्मचर्य और गुरु सेवा एक साथ वर्णित हैं।[34] अयोध्या में षडंग वेदों के विज्ञाता ब्रह्मचर्यपालक और वाद-विवाद निष्णात ब्राह्मण रहते थे।[35] कुछ ब्रह्मचारी तपश्चर्या निरत होकर वन में निवास करते थे।[36]

मनुस्मृति में ब्रह्मचारी के केशों का विधान करते हुए उसे जटिल अर्थात् जटायुक्त और मुण्ड अर्थात् जटा विहीन दोनों व्यवस्थाओं से युक्त किया गया है। रामायण में ब्रह्मचारियों के जटाधारी होने का वर्णन मिलता है।[37] सूत्र ग्रन्थों में स्नातक की महती प्रतिष्ठा वर्णित है। सीता रावण से कहती है कि वेदविद्या आत्मज्ञानी स्नातक ब्राह्मण की सम्पत्ति होती है, उसी प्रकार मैं राम की भार्या हूँ।[38] इस प्रकार रामायण में ब्रह्मचर्याश्रम के जो भी संकेत हैं उनसे वैदिक व्यवस्था निरूपित होती है।

वाल्मीकि रामायण में गृहस्थाश्रम

रामायण काल में भी ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर युवक स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था तथा वैदिक पद्धति पर ही इस आश्रम में पितृऋण, देवऋण और ऋषि-ऋण चुकाने के लिए यज्ञ एवं अतिथि यज्ञ का प्रचलन था, जिसका संकेत रामायणकाल में ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन्[39] कहकर किया है। सन्तानोत्पत्ति के बाद राजा दशरथ के शब्दों में - मैं देवता, ऋषि, पितर और ब्राह्मणों के तथा अपने ऋण से भीउऋण हो गया हूँ[40]- इसी के पोषक हैं। जिन पंच महायज्ञ का वैदिक विधान है उसे विभिन्न प्रसंगों में वाल्मीकि ने उजागर किया है, भरत के शब्दों में जो अपने घर में पुत्रों, दासों और भृत्यों से घिरा रहकर भी अकेला ही मिष्टान्न, भोजन करता है, वह पाप का भागी होता है।[41] वेद भी अकेले खाने वाले को पापी घोषित करता है। पर्वत श्रेष्ठ मैनाक हनुमान् से कहता है कि धर्म की जिज्ञासा रखने वाले पुरुष के लिए एक साधारण अतिथि भी निश्चय ही पूजा के योग्य माना जाता है।[42] विश्वामित्र के आगमन पर दशरथ कहते हैं - आपकी आज्ञा का पूर्ण रूप से पालन मेरा कर्त्तव्य है क्योंकि सम्माननीय अतिथि होने के नाते आप मुझ गृहस्थ के लिए देवता हैं।[43] इसी भावना से अभिभूत वे कहते हैं - आज आपके आगमन से मुझे सम्पूर्ण धर्मों का उत्तम फल प्राप्त हो गया है।[44] आतिथ्यं कृतं सर्वगुणान्वितम्।[45] अतिथि क्रिया के अन्तर्गत अर्घ्य और पाद्य, आसन और वन्दन की चर्चा की गई है।[46] अतिथि की पूजनीयता असन्दिग्ध है, भले ही अपने से लघु व्यक्ति वरिष्ठ के पहुँच जाय। सेना सहित पहुँचे राम का भरद्वाज सर्वांगपूर्ण सत्कार करते हैं।[47]

गृहस्थ के दैनिक आचारों पर रामायण में अनेक स्थलों पर प्रकाश पड़ा है। जो मनुष्य खीर, खिचड़ी और दूध देवताओं, पितरों व भगवान् को निवेदित किए बिना ही खा जाता है, वह व्यर्थ हो जाता है।[48] इसी प्रकार देवताओं, पितरों और माता-पिता की सेवा को परम धर्म माना गया

है।[49] राज्य की आदर्श प्रजा की चर्चा करते हुए कहा गया है कि अयोध्या में ऐसा कोई नहीं था, जो यज्ञ और अग्निहोत्र न करता हो।[50] लोग दान और अध्ययन में तत्पर थे।[51] अग्निहोत्र वैदिक युग का विशिष्ट आचार था, जिसका महत्व रामायण के समय पूर्णतया सुरक्षित था। राम अपनी माता कौशल्या से कहते हैं - मेरी मंगल कामना से सदा अग्निहोत्र के अवसरों पर पुष्पों से देवताओं का तथा सत्कारपूर्वक ब्राह्मणों का भी पूजन करते रहना।[52] रामायण में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों के लिए भी अग्निहोत्र का विधान निर्दिष्ट है, जो वेद सम्मत है।[53] अयोध्या में ऐसा कोई न था जो अग्निहोत्र और यज्ञ न करता हो।[54]

गृहस्थ आश्रम की श्रेष्ठता के प्रतिपादन में वाल्मीकि मनु तथा सूत्र साहित्य एकमत हैं। चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्[55] कहकर आदिकवि गार्हस्थ्य की श्रेष्ठता की व्याख्या कर देते हैं। वास्तव में रामायण गृहस्थाश्रम का ही आदिकाल है। उपनिषदों और आरण्यकों में यदि वानप्रस्थाश्रम का गौरव गान है, तो रामायण गृहस्थाश्रम की महाप्रशस्ति है।[56] आदर्श पिता आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदिकवि की शब्द तूलिका ने खींचा है, वे सब गृह धर्म के पट पर ही चित्रित किये गए हैं। इतना ही क्यों, राम रावण का भयानक युद्ध भी इस महाकाव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है, वह तो राम-जानकी पति-पत्नी की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण मात्र है।[57]

गार्हस्थ्य जीवन में पति और पत्नी मिलकर जीवन के महान् दायित्व का वहन करते हैं। जीवन के इस महनीय आश्रम में भोग गौण है। इसमें दायित्व की ही प्रधानता है। पारस्परिक रूप में शास्त्र पत्नी को पति का अर्द्धांग बताता है, जो कि रामायण में भी प्रतिपादित है। महर्षि वशिष्ठ के अनुसार सम्पूर्ण गृहस्थियों की पत्नियाँ उनका आधा अंग हैं। उन्होंने पत्नी को पति की आत्मा कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की है-

आत्मा हि दारा: सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्।

आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्।।-रामा 2.37.24

रामायण में अनुरूप पत्नी का न पाना अभिशाप और विडम्बना समझा गया है, इस अनुरूपता में धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान मुख्य हैं।[58] पत्नी पुरुष की सुखसंगिनी से कहीं अधिक उसके दु:ख की सहभागिनी है और पुरुष की विपन्नावस्था में ही उसका पत्नीत्व भास्वर होकर कान्ति सम्पन्न होता है- रामायण का यही आदर्श है। इसके अतिरिक्त विरह सहती पति के लिये तपश्चरण में लीन पत्नी का आदर्श भी रामायण में सांकेतिक रूप में स्थापित किया है।

रामायण में अपनी जीवन सहचरी के साथ यज्ञ योगादि की दीक्षा लेने का जो निरूपण है, वह वेद सम्मत है।[59] वाल्मीकि ने उसे सहधर्मचरी का विशेषण दिया है।[60]। रात को सीता के साथ

बिताये गये सुख के क्षणों की अपेक्षा दुख के वे दिन याद आते हैं, जब वह सहायिका बनी इसी भाव से विभोर होकर वह अपनी पत्नी को प्राणों की सहचरी कहते हैं।[61] स्पष्ट है - सीता वन सुखभोग की कामना न करती हुई कण्टकाकीर्ण मार्ग में अपने पति के आगे-आगे चलना चाहती हैं।[62] सीता का कथन है- अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्य यथा मया[63] उक्त तथ्यों का पोषक है. और नारी द्वारा इस व्रत का आरम्भ उसी क्षण से हो जाता था..जिस समय से पुरुष अग्नि के समक्ष **'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्'** के संकल्प के साथ उसका पाणिग्रहण करता है। रामायण में पाणि धारण कर अग्नि के साक्ष्य में दिये गए वचन का स्मरण कराया गया है।[64] इस प्रकार वेद और रामायण काल का दाम्पत्य जो गृहस्थाश्रम है दायित्व और संकल्प की महत्ता से मण्डित है।

समाज-निर्माण गार्हस्थ्य प्रतिपालक लोग ही करते हैं, क्योंकि समाज प्रवृत्ति प्रधान होता है। इसलिए यदि गृहस्थ जन धन-धान्यादि से सम्पन्न, स्वस्थ और सुदृढ़ होते हैं, तो वह समाज और राष्ट्र भी उत्कर्षशील माना जाता है। रामायण में अयोध्या के वर्णन में कहा गया है कि-

नाल्पसंनिचय: कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान्।।[65]

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण में वर्णित है उस समय कोई भी कुटुम्बी ऐसा नहीं था, जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओं का संग्रह प्रचुर मात्रा में न हो, तथा जिसके धर्म, अर्थादि पुरुषार्थ सिद्ध न हो गये हों और जिसके पास गाय, बैल, अश्व और धन-धान्यादि की समृद्धि न हों। सभी सामाजिक जीवन मूल्यों से जुड़े थे फलत: कृपण, क्रूर, मूर्ख, नास्तिक जैसे लोगों का साम्राज्य में अभाव था. उसके विपरीत लोग धर्मशील, संयमी तथा शील और सदाचार की दृष्टि से महर्षियों के समकक्ष थे। इसी प्रकार गृहस्थ जन सज्जा एवं अलंकारप्रिय, दानी, स्वाध्यायी, संयतभोगी और यजनशील थे। देवतातिथिपूजकों से समन्वित गृहस्थजन निर्मित रामायण कालीन समाज वेद विहित आचार-नियमों का सर्वात्मना अनुयायी था।

वाल्मीकि रामायण के वानप्रस्थाश्रम

रामायण में भी वानप्रस्थ के जो संकेत मिलते हैं, उनमें व्यंजित विधि विधान सर्वथा वैदिक व्यवस्था के अनुसार हैं। गृहस्थाश्रम का सुखभोग कर लेने और दायित्व पूरा कर लेने के बाद अपने समर्थ युवा पुत्र पर कुटुम्ब का भार सौंप कर वन जाने का विधान रामायण में मिलता है। राजा दशरथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम से कहा कि अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, मेरी आयु अधिक हो गई है. मैंने बहुत से मनोवांछित भोग भोग लिये हैं तथा अन्न और बहुत सी दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ भी निष्पन्न कर लिये हैं।[66] दशरथ के इस कथन में वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करने की इच्छा प्रकट होती है। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी राज्य सभा में कहा - मैं वृद्ध और अशक्त तथा राज्य के

भार को सम्मानपूर्वक वहन करने में असमर्थ हो गया हूँ। अतः राम को राज्यासीन करके विश्राम करना चाहता हूँ।[67] रामायण में ऐसे आख्यान भी आते हैं, जिनमें पुत्रों को राज्य का दायित्व सौंप कर वृद्ध राजाओं द्वारा वन में जाने का उल्लेख मिलता है। दशरथ की वनेच्छा भी उसी पद्धति पर है।[68] पुत्रों को राज्य अथवा गृहस्थी का भार सौंप कर वन में चला जाना वानप्रस्थ वृत्त ही था। यह तथ्य लक्ष्मण के कथन में भी संकेतित है।[69] इस दृष्टि से सीता के प्रति स्वयं राम का कथन बहुत महत्वपूर्ण है मेरे प्रपितामह राजर्षियों ने नियमपूर्वक किये गए इस वनवास को ही अमृत बतलाया है। इससे शरीर त्यागने के पश्चात् परम कल्याण की प्राप्ति होती है।[70]

वानप्रस्थी वन में अकेले अथवा सपत्नीक जाकर वेद विहित संयम, त्याग एवं यज्ञादि अनुष्ठानों के साथ जीवन व्यतीत करते हुए भिक्षाचरण करते और अतिथियों का स्वागत-सत्कार किया करते थे। वन में राम से मुनियों ने कहा कि यहाँ वन में रहने वाला वानप्रस्थी महात्माओं का वह महान् समुदाय जिसमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक है।71। इस कथन से स्पष्ट है - द्विज वर्ग के मध्य वानप्रस्थाश्रम का प्रचलन था। इसकी पुष्टि अन्य ग्रन्थ भी करते हैं।

रामायण में वानप्रस्थाश्रमोचित अनुष्ठानों की ओर भी संकेत किया गया है। राम के प्रति महर्षि अगस्त्य का कथन है- वानप्रस्थी को चाहिए कि वह पहले अग्नि को आहुति दे तदन्तर अर्घ्य देकर अतिथि का पूजन करें। जो तपस्वी इसके विपरीत आचरण करता है, उसे झूठी गवाही देने वाले की भांति परलोक में अपने शरीर का मांस खाना पड़ता है। एक अन्य संकेत के अनुसार देवताओं व पितरों का तथा आये हुए अतिथियों का प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पूजन करना वनवासी का प्रधान कर्तव्य होता है।

सीता के शब्दों में -

आत्मानं..........नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः।

प्राप्त्ये निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम्।। रामा. 3.9.31

चतुर मनुष्य भिन्न-भिन्न वानप्रस्थोचित नियमों के द्वारा अपने शरीर को क्षीण करके यत्नपर्वूक धर्म का सम्पादन करते हैं, क्योंकि सुखदायक साधन से सुख के हेतुभूतधर्म की प्राप्ति नहीं होती है।

यहाँ शरीर की क्षीणता से तात्पर्य है - सुस्वादु भोज्य पदार्थ के सेवन से इन्द्रियाँ अपने विषयों की ओर उन्मुख होती हैं और ऐसा निवृत्ति धर्म के लिए बाधक है। वानप्रस्थाश्रम में यज्ञ पूजन ओर ब्रह्मचिन्तन जैसी क्रियाओं की प्रधानता होती है तथा वानप्रस्थी उन सारे उद्योगों से विरत हो जाता है, जो गार्हस्थ्य जीवन में विहित होते हैं। सीता की खोज न कर पाने पर हनुमान ने एक ऐसा संकल्प लिया था, जिसमें विफलता के परिणामस्वरूप वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करना था-

हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिक:।

वानप्रस्थो भविष्यामि।।-रामा. 5.13.40

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण में संकेतित और चर्चित वानप्रस्थाश्रम अपने विधि विधानों में वेदानुमत है और उस निवृत्ति की भूमिका है, जिसका उपसंहार संन्यासाश्रम में जाकर होता है।

वाल्मीकि रामायण में संन्यासाश्रम

रामायण में वानप्रस्थ शब्द का जिस तरह व्यवहार हुआ है, उस तरह संन्यास शब्द का नहीं। किन्तु जैसा कि वैदिक सन्दर्भ में बताया गया है कि भिक्षाचर्या, परिव्रजन व प्रव्रजन संन्यासपरक शब्द है और रामायण में भिक्षु तथा परिव्राजक शब्दों का जिस प्रकार प्रयोग किया गया है, उससे सन्यासी की ही झलक मिलती है। इस सन्दर्भ में रावण द्वारा सीता के सामने जिस रूप में उपस्थित हुआ गया, वह विवेचनीय है। रामायण के अनुसार संन्यासी का वेश है-

श्लक्ष्णकाषायसंवीत: शिखी छत्री उपानही।

वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू।।72

उसम समय संन्यासी स्वच्छ गेरुए रंग के वस्त्र धारण करते थे, उनके सिर पर शिखा शोभित होती थी, हाथ में छाता और पैरों में जूते। संन्यासी रूपधारी रावण के कन्धे पर डण्डा रखा हुआ था और उसने कमण्डलु लटका रखा था।

रावण के उक्त वेश में बहुत कुछ साम्य मनुस्मृति के उस वर्णन के साथ है, जहाँ कहा गया है- संन्यासी केश, नख, दाढ़ी और मूछ कटाये, सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ आदि से रंगे वस्त्रों को धारण करके निश्चितात्मा हो सभी प्राणियों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरण करें।73 वस्तुत: संन्यासी का यह पारम्परिक वेश है, एक निर्धारित चिन्ह है, किन्तु मनुस्मृति ने संन्यास के संदर्भ में 'न लिङ्गं धर्मकारणम्74 कहकर संन्यासी के लिए बाह्य वेशभूषा के स्थान पर उसके महान् व्यवहार की प्रतिष्ठा की है। महात्माओं के वेश धारण करके बाह्याडम्बर द्वारा समाज को छलने वालों की कमी किसी युग में नहीं रहीं है। वाल्मीकि का रावण ऐसे ही बाह्य आडम्बर का प्रतीक है। रावण जानता था कि अनिन्द्य आचरणशील और विश्वासी संन्यासी के वेश पर सीता किसी प्रकार का सन्देह नहीं करेगी, तभी उसने उस स्वरूप को अपनाया था। रामायण में संन्यासाश्रम की गरिमा पर व्यापक प्रकाश पड़ता है।

यह स्पष्ट है - वेद प्रतिपादित संन्यास आश्रम पर्याप्त रूप से रामायण काल में भी प्रचलित था और सन्यासी पर जन आस्था टिकी हुई थी।

अत: वाल्मीकि रामायण में वैदिक आश्रम व्यवस्था परिलक्षित होती है। जिसे जीवन के एक अनिवार्य पक्ष के रूप में आदि कवि वाल्मीकि ने वर्णित किया है।

पर्यावरणीय समस्या के समाधान में यज्ञ

डॉ0 लज्जा पन्त
संस्कृत विभाग
कुमाऊँ वि0 वि0, नैनीताल

सभी धर्मों का मूल वेद है। वेद में सभी ज्ञान निहित हैं। अलौकिक तत्वों को जानने के लिए वेद की उपादेयता है। वेद नित्य, रहस्यमय, अपौरुषेय तथा ज्ञानस्वरूप हैं। डॉ0 मंगलदेव शास्त्री के शब्दों में उस वाङ्मय में से यदि हम केवल ऋग्वेद को ही ले तो उसका भी महत्व सभी दृष्टियों में अक्षुण्ण है यज्ञ का सम्बन्ध वेद से होने के कारण सर्वप्रथम वेद के विषय में जानना उचित होगा।

वेद शब्द का अर्थ :

वेद शब्द के अर्थ के विषय में अनेक विचार प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति की प्रस्तावना में आचार्य विष्णुभव ने वेद शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है- विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्था : इति वेदाः। अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारों पुरुषार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वही वेद हैं। आचार्य सायण ने तैत्तिरीय भाष्य की भूमिका में वेद के विषय में स्पष्ट कहा है -

इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकम् उपायं यो ग्रन्थो वेदयति सः वेदः

(ऋग्वेद संहिता 1/70/5)

अर्थात् जो ग्रन्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अनिष्ट वस्तु के परिहार के कारणभूत अलौकिक उपाय को बतलाता है, वह वेद है।

मनुस्मृतिकार धर्म के ज्ञान के परम प्रमाण के रूप में वेद की सत्ता को ही स्वीकार करते हैं-

धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वेद शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

वेदेन वै देवा : असुराणां वित्तं वेद्यमविदन्त तद् वेदस्य वेदत्वम्।

अर्थात् वेद के द्वारा ही देवताओं ने असुरों की सम्पत्ति को प्राप्त कर लिया। यही वेद का वेदत्व है।

व्युत्पत्ति :

विभिन्न ग्रन्थों में वेद शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से बताई गई है। चरक संहिता में वेद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है-

तत्रायुर्वेदयतीत्यायुर्वेदः।

चरक संहिता के टीकाकार, चक्रपाणि विद्ज्ञाने धातु से वेद शब्द को बोधयति रूप में बनाते हैं।

इसी प्रकार क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द आदि विद्वान् वेद शब्द की व्युत्पत्ति विद्ज्ञानेधातु से मानते हैं, जिसका अर्थ है ज्ञान।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ज्ञान, सत्ता, लाभ तथा विचार इन चारों अर्थों में प्रयुक्त 'विद् धातु से वेद शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई है-

विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विदन्ते लभन्ते, विन्दयन्ति विचारयन्ति।

सर्वे मनुष्याः सत्यां विद्यां येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति वेदाः।

विद् धातु से करण तथा अधिकरण दोनों ही अर्थों में घञ् प्रत्यय लगाने पर वेद शब्द निष्पन्न होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त व्युत्पत्तियों पर यदि विचार किया जाय तो वेद शब्द का अर्थ कुछ इसप्रकार किया जा सकता है-

जिस ज्ञान से सभी मनुष्य सम्पूर्ण सत्य विद्याओं को जानते हैं, जिनमें सम्पूर्ण चराचर जगत् स्थित है। जिससे लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त होता हैं, ग्राह्य तथा त्याज्य का विचार किया जाता है, वह वेद है।

इस प्रकार भारतीय आस्तिक परम्परा के आधार पर वह निर्विवाद सत्य है कि वेद का अभिधेयार्थ ज्ञान है तथा सम्पूर्ण विश्व को ज्ञान लोक से आलोकित करने का प्रथम श्रेय वैदिक वाङ्मय को ही है।

यज्ञ शब्द का अर्थ :

भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रचलन तथा उनका संरक्षण इस देश के तत्त्वदर्शी ऋषियों के चिन्तन का फल है। इस देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के विकास में जिन आर्षवचनों का सबसे अधिक महत्व है, उन्हें वेद कहते हैं। वेद ज्ञान के भण्डार हैं। भारत की सांस्कृतिक धरोहर इन्हीं वेदों से सुरक्षित है। हमारे ऋषियों ने उस परम पिता परमेश्वर का स्वरूप विवेचन भी किया है। वेदों में सृष्टि संचालन क्रम से लेकर हमारे ऐहिक जीवन तक की सारी समस्याओं का समाधान दृष्टिगोचर होता है। सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसे यज्ञ पुरुष का अभिधान दिया गया है। इस परमात्मा को यज्ञमय बताते हुए शतपथब्राह्मण में **'पुरुषो वै यज्ञः'** कहकर यज्ञ और ईश्वर की स्वरूपता का प्रतिपादन किया गया है-

यज्ञो वै विष्णुः। (श०ब्रा०)

यज्ञो वै प्रजापतिः। (कौ० ब्रा०)

यज्ञ शब्द के संदर्भ में विवेचन करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि यज्ञ का परमात्मा से सारूप्य है तथा यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है-

यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म।

उक्त आधार पर यज्ञ का महत्व स्वत: स्पष्ट हो जाता है।

यज्ञ का स्वरूप निर्धारण करने हेतु यज्ञ शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रस्तुत करना आवश्यक है। यज्ञ शब्द यज् धातु से नङ् प्रत्यय प्रयुक्त होने पर बनता है। यज् क्रिया का अर्थ पूजा, आराधना तथा हवन करना है। जिस विधान में देवताओं को हवि प्रदान की जाती है, उसे यज्ञ कहते हैं।

आचार्यों द्वारा सत्पात्र शिष्यों को सांगोपांग वेदों का अध्ययन कराना ही यज्ञ है। वस्तुत: वेद दिव्य ज्ञान है। वेदों में स्वयं यजुर्वेद यज् धातु से निष्पन्न होता है। यज्ञ तथा यजु: दोनों स्वयं में पर्याप्त हैं। यजुष् तथा यज्ञ दोनों की समानता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है-

यच्छिष्टं तु यजुर्वेदे तेन यज्ञमयुञ्जत्।

यज्ञनात् स यजुर्वेद इति शास्त्र विनिश्चय:। (नि0 7/12)

अर्थात् यज्ञ विद्या का प्रतिपादन करने के कारण उस वेद का नाम यजुर्वेद पड़ा। यज्ञ शब्द मूलत: यज् धातु से निष्पन्न है। प्रसिद्ध व्याकरणवेत्ता महर्षि पाणिनि ने यज् धातु के तीन अर्थ बताये हैं देवपूजन। संगतिकरण। दान।

देवपूजन :

अपने से बड़ों के प्रति, देवताओं के प्रति पूजा तथा आराधना करना यज्ञ है -

यजनम् देवानां पूजनम्, सत्कार भावना यज्ञ:।

संगतिकरण :

संगतिकरण का तात्पर्य पारस्परिक संगठन तथा सहयोग से हैं अर्थात् वह कार्य और अनुष्ठान जिसमें समाज के श्रेष्ठ पुरुषों, सम्बन्धियों के पारस्परिक संगठन के लिए संगठित किया जाय वह यज्ञ है -

यजनं धर्मदेशजातिमर्यादा रक्षायै महापुरुषाणमेकी -करणं यज्ञ:।

दान शब्द से यज्ञ का एक अर्थ और भी स्पष्ट होता है। वह यह है कि देश काल तथा पात्र का विचार करके उचित उद्देश्य हेतु जो दान दिया जाता हैं, वह भी यज्ञ है। इस प्रकार यह उक्ति उचित ही है कि यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है-

यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म।

पर्यावरण:

पर्यावरण शब्द अंग्रेजी के एक शब्द इनवायरमेंण्ट (ENVIRONMENT) का हिन्दी पर्यायवाची शब्द है। संस्कृत में पर्यावरण शब्द परि, आङ् उपसर्ग पूर्वक वृञ् (वृ) वरणे धातु से ल्युट् प्रत्यय होने पर बनता है।

परि (चारों ओर) + आवरण (घेरा) पर्यावरण। भाव यह हुआ कि चारों ओर से किसी को ढकता है अथवा घेरता है, वहीं पर्यावरण हैं। जीवधारी के चारों ओर का वातावरण जो उसके

अस्तित्व की रक्षा करने में सहायक होता है, वहीं पर्यावरण के नाम से व्यवहृत होता है। मनुष्य के आस-पास में होने वाली वस्तुएं उसके अस्तित्व की रक्षा में सहायक तत्व उसके चारों ओर का वातावरण उसका पर्यावरण हैं: मनुष्य तथा विभिन्न पशु-पक्षियों का निवास स्थान पृथ्वी पर होता है। उन्हें जीने की शक्ति पेड़ पौधों से ही मिलती है। सूर्य से ऊर्जा प्राप्त होती है। बादल से पानी मिलता है, वायु जीवन प्रदान करती है। इस प्रकार ये सारे तत्व मानव जीवन के आधार हैं तथा व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति इन्हीं के माध्यम से करते हैं। फलतः पृथ्वी तत्व मानव का पर्यावरण है। यदि इस तत्व में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है तो निश्चित रूप से उसके लिए संकट उत्पन्न हो जायगा। उसका प्रदूषण मानव के लिए विनाशकारी है। उसकी स्वस्थता उसके सुखमय जीवन में सहायक है। मानव पर्यावरण से सम्बन्धित यह पृथ्वी तत्व उन तत्वदर्शी वैदिक ऋषियों की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से अपरिचित नहीं रहा। वैदिक ऋषियों ने मानव जीवन के लिए इस तत्व की उपयोगिता को भली-भांति समझा है तथा पृथ्वी तत्व को अत्यधिक महत्व दिया है वैदिक ऋषियों ने उसे मानव की जन्मदात्री होने के कारण माता का स्थान दिया है -

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अर्थ0 12/1/12)

पर्यावरण से सम्बन्धित यह तत्व मानव के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है, इसका अनुभव वैदिक ऋषियों को था।

पर्यावरण के सम्बन्ध में समय-समय पर विभिन्न वैज्ञानिक अनुसन्धान किये गये हैं हमारे वैदिक ऋषियों ने भी अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के द्वारा हमारे पर्यावरण की महत्ता को समझा है तथा प्राणिमात्र के कल्याण हेतु अनेक युक्तियाँ भी बताई हैं।

यह देश जगद्गुरु माना जाता रहा है यहाँ के ऋषि मुनि जीवन के प्रत्येक पक्ष और प्रकृति की प्रत्येक सत्ता को अत्यन्त निकटता से जानने तथा पहचानने में सक्षम थे। उनका अपना स्वतन्त्र विज्ञान था, जिस विज्ञान के द्वारा वे मानव को **'जीवेम शरदः शतम्'** के लिए सर्वदा योग्य बनाते थे-

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः
शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम
शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्। (यजु0 36/24)

उस युग में पर्यावरण को इस भांति समझा गया था कि वह पर्यावरण प्रदूषण की सीमा का स्पर्श ही नहीं कर पाया था। ऋषियों का सिद्धान्त था कि चिकित्सक की आवश्यकता रोग उत्पन्न हो जाने पर ही होती है यदि जीवन का ऐसा व्यवस्थित क्रम ही बना लिया जाये तो चिकित्सक की आवश्यकता ही नहीं रहेगी उन दूरदर्शी ऋषि वैज्ञानिकों की जीवन दर्शन सम्बन्धी युक्तियाँ ही पर्यावरण प्रदूषण के लिए चुनौती थी। उन्हीं युक्तियों में से एक युक्ति यज्ञविद्या भी थी।

वायु प्रदूषण के उपचार के लिए यज्ञानुष्ठान एक अमोघ युक्ति के रूप में प्रमाणित है। इस सदर्भ में आधुनिक वैज्ञानिक भी प्रयोग परीक्षण करने के उपरान्त उनके प्रति नतमस्तक हो चुके

हैं उन पूर्वजों का वैज्ञानिक चिन्तनसाम्य वर्तमान विज्ञान से भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ किसी कक्ष में किसी भी प्रकार की दुर्गन्ध आने पर उसका जटामाशी, कर्पूर, गुग्गुल आदि हवनीय पदार्थों के अग्नि में डालने से शामित (शान्त) होना सर्वविदित है। इसी प्रकार अधिक मात्रा में व्याप्त वायु के प्रदूषण को भी यज्ञ द्वारा दूर करना संभव है।

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि स्थूल औषधियों की अपेक्षा सूक्ष्म औषधियाँ रोग के दमन में अधिक सक्षम होती हैं यज्ञानुष्ठान की अग्नि में जिन वनौषधि रूप हवन सामग्री का हवन होता है, उससे निकलने वाले धुएँ का प्रभाव सम्पूर्ण वायुमण्डल में पड़ता है। यह एक विचित्र तथ्य है कि अग्नि जब जलती है तो ऑक्सीजन जलता है और उससे कार्बन उत्पन्न होता है, किन्तु हवनीय पदार्थों को हवन में डालने पर प्रभाव सर्वथा विपरीत होता है। यज्ञ विद्या में निकलने वाली ऊर्जा वायुमण्डल से प्रदूषण को समाप्त करके कार्बनडाइऑक्साइड के प्रभाव को कम कर देती है। इसका वैज्ञानिक परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकला कि यह वायु प्रदूषण को समाप्त करने में सक्षम है। फलत: वायु प्रदूषण को नष्ट करने हेतु यज्ञ एक अद्भुत प्रक्रिया है।

वृक्षों तथा वनस्पतियों का हमारे पर्यावरण प्रदूषण को रोकने में बड़ा सहयोग है, यह किसी से छिपा नहीं है। वृक्ष और वनस्पति पर्यावरण प्रदूषण के समाधान में मुख्य कारक होते हैं। प्राणियों की जीवन यात्रा में इन वृक्षों का बहुत बड़ा योगदान है। उनके द्वारा प्राप्त होने वाली ऑक्सीजन (प्राणवायु) से प्राणियों के जीवन की रक्षा होती है। समस्त प्राणियों पर इन वृक्षों का कितना अधिक ऋण है इसका वर्णन वाणी के द्वारा सम्भव नहीं है।

वेदों के अनुसार मित्र और वरुण जल के देवता हैं -

शं नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये।
शं योरभि स्रवन्तु न:।। (यजु0 36/12)

पर्यावरणीय तत्वों में जल का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह तो हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन नाम की दो गैसों के संघात का ही प्रतिफल है। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भी मित्र और वरुण इन दो तत्वों को वृष्टि के कारक के रूप में स्वीकार करता है। पर्यावरण प्रदूषण को दूर करने के लिए यज्ञ को ही प्रमुख साधन बताया गया है। यज्ञ का वर्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव जीवन की रक्षा जल से की जाती है। वैदिक ऋषियों ने जल के जीवनदायी महत्व को जानकर पर्जन्य को सूक्ष्म तथा वर्षा कारक अन्य प्राकृतिक तत्वों को देवता मानका उनका गुणगान किया है। यज्ञाग्नि की प्रशंसा करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ की अग्नि वृष्टि कराती है-

अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टि:।

वर्तमान समय में बढ़ता हुआ भू-प्रदूषण चिन्ता का विष हैं यह ज्वलन्त प्रश्न सम्पूर्ण प्रबुद्ध वर्ग के समक्ष उपस्थित है। यदि भू-प्रदूषणकी यही दशा रही तो पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों तथा वनस्पतियों का सम्पूर्ण विनाश अवश्यम्भावी हैं इस भू-प्रदूषण को नष्ट करने हेतु भू के प्रति

श्रद्धाभाव प्रकट किया गया है, तथा पर्यावरण के महत्वपूर्ण कारक तथा वर्षा आदि के प्रमुख कारण वृक्षों के प्रति भी आदर भाव प्रकट किया है। वेदों में पृथ्वी को माता कहकर उसे पूज्य माना गया है। प्रत्येक धार्मिक कार्य के अनुष्ठान में पृथ्वी की पूजा का विधान है। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण भूमि पर विविध प्रकार की वस्तुएँ, खाद्य पदार्थ, छिलके इत्यादि फेंक दिये जाते हैं, जिनके सड़ने से उत्पन्न रोग के कीटाणु मिट्टी में व्याप्त रहते हैं। यज्ञों में विविध प्रकार के रोगनाशक पदार्थो हवनीय सामग्री की आहुति से प्राप्त ऊर्जा पृथ्वी के उन रोगाणुओं को नष्ट करती है। अतः भू-प्रदूषण को रोकने हेतु यज्ञानुष्ठान की महती आवश्यकता है।

प्राचीन काल से ही ऋषियों ने वैदिक मंत्रों के उच्चारण में ध्वनि की तीव्रता को निन्दनीय माना है। यज्ञ की विधि सूक्ष्म विज्ञान के समान हैं। पदार्थ विद्या के वैज्ञानिकों का मत है कि किसी भी पदार्थ का विनाश नहीं होता है मात्र उसका रूप बदलता है। उस पदार्थ के गुण धर्म अग्नि की ऊर्जा के सम्पर्क से अत्यधिक सूक्ष्म हो जाते हैं। आयुर्वेद के अन्तर्गत पदार्थों को घोटकर लेप लगाने के पीछे यहाँ सूक्ष्मीकरण का सिद्धान्त काम करता है। यज्ञ में भी पदार्थों को सूक्ष्म करके शरीर तथा सम्पूर्ण वातावरण में पहुँचाने का प्रयास किया जाता है।

यज्ञ जहाँ प्रदूषित ध्वनि दोषों के निवारणार्थ सक्षम हैं, वहीं मानसिक विकृतियाँ भी यज्ञ के द्वारा शान्त की जा सकती है। यज्ञ से वृक्षों-वनस्पतियों की भी वृद्धि होती है। वेदों में इस सन्दर्भ में विविध मंत्र प्राप्त होते हैं। यज्ञ द्वारा जल तथा औषधियों में वृद्धि होती है-

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु।

योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।। (यजु0 36/23)

ये वृक्ष और वनस्पति स्वयं प्रदूषण को समाप्त करने में सक्षम होते हैं। वायु तथा जल प्रदूषण रोकने में इन वृक्षों का बहुमूल्य योगदान है। वृक्षों में ध्वनि अवशोषण की भी अपूर्व क्षमता पायी जाती है।

निष्कर्षतः यज्ञ एक ओर जहाँ ध्वनि प्रदूषण से उत्पन्न मानसिक तथा शारीरिक विकारों का नाश करता है, वहीं ध्वनि अवशोषकों का जीवनदाता भी है, उसमें नष्ट करने तथा जीवन प्रदान करने की क्षमता समान रूप से सतत विद्यमान है।

संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि इस बढ़ते हुए ध्वनि प्रदूषण से मुक्ति प्राप्ति का सफलतम उपाय यज्ञ ही है। इस सन्दर्भ में शासन के प्रयास तो ठीक हैं किन्तु समाज का भी विशेष दायित्व है। समाज में इस प्रदूषण के दुष्परिणामों की विधिवत् जानकारी देने की आवश्यकता है। ध्वनियों की तीव्रता रोकी जानी चाहिए तथा प्रदूषण निवारण हेतु यज्ञानुष्ठान का घर-घर तथा जन-जन में व्यापक प्रचार-प्रसार होना चाहिए।

इस प्रकार यज्ञ के महत्व को समझ कर तथा यज्ञानुष्ठान कर वर्तमान समय में फैली पर्यावरणीय समस्या का समाधान किया जा सकता है।

आर्य समाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द

डॉ0 शिवकुमार चौहान
शारीरिक शिक्षा एवं खेल विभाग
गु0का0 विश्वविद्यालय

प्राचीन आर्यावर्त्त भी भारत नाम से जाना जाता था। जिसका अभिप्राय आर्यो का देश अर्थात् श्रेष्ठतम जनों का देश था। वह देश जहाँ ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती रही है। यह ऋषि-महर्षियों, चक्रवर्ती राजाओं की भूमि, महान दार्शनिक वेत्ताओं और विभिन्न विद्याओं के ज्ञाता तथा वैज्ञानिकों की भूमि है। इस देश में जन्म लेना भी पूर्वकृत पुण्यों का फल कहा गया है। जिस देश में विदेशी लोग भी सुशिक्षा व विद्या अर्चन के लिये भारतीय आचार्यो की शरण में आ-आकर व्यवहार सभ्यता, शिष्टता तथा अन्य व्यवहारपरक सिद्धान्तों की दीक्षा पाते हैं। यह देश जिसके आदेश का पालन करना अन्य मांगलिक राजागण अपना परम कर्तव्य समझते थे। वह देश जिसमें ऋषि-मुनियों का विदेश भ्रमण करना, ताकि वैचारिक धरातल पर सम्पूर्ण मानवता को एक सूत्र में पिरोकर रखा जा सके और सभी मानवों के मानस पटल पर एक वैदिक विचारधारा बनाई जा सके। वह देश जिसमें अनेक महान ऋषियों-महर्षियों ने जन्म लेकर मानवता को सन्मार्ग का पथिक बनाने का सराहनीय कार्य किया है। महानता की इस पावन माला में अलंकृत एक नाम जो आज भी मानवता के प्यासे इस मानव को अपनी आभा से सन्मार्ग की प्रेरणा दे रहा है ऐसे आर्य सम्राट एवं दिव्य शक्ति पुंज थे 'महर्षि दयानन्द सरस्वती'।

महर्षि दयानन्द ने आर्यो के उत्थान के लिये 29 मार्च 1875 ई0 को सर्वप्रथम आर्य समाज की स्थापना की। अब प्रश्न यह उठता है कि महर्षि ने आर्य समाज की स्थापना जिन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की थी, वे उद्देश्य आज कितने फलीभूत हुये हैं। आर्य समाज के कर्णधारों को आज इस ओर सचेत होने की आवश्यकता है। आज हमारी मानवता को क्या हो गया है कि जिस ओर देखें भोग विलासिता का तांडव बढ़ता ही चला जा रहा है। क्या आज हम महर्षि के पद चिन्हों का अनुसरण कर रहे हैं। यदि हम शीघ्र ही सचेत नहीं हुये तो वह दिन दूर नहीं जब हम अपनी भावी पीढ़ियों को महर्षि के आदर्शो से अवगत भी करा सकेंगे।

महर्षि दयानन्द समाज को सही अर्थो में मानवता का पाठ पढ़ाना चाहते थे, वे मानव को मानव के प्रति स्वार्थ, हिंसा, घृणा, राग, द्वेष तथा भय आदि अवगुणों का त्यागकर अहिंसा, परमार्थ, प्रेम, भाईचारा आदि सद्‌गुणों से अलंकृत करना चाहते थे। मानव समाज में सौहार्द बनाने के उद्देश्यों से ही महर्षि ने आर्य समाज की स्थापना की तथा जगह-जगह आर्य समाजें गठित कर उपदेश दिये। महर्षि के जीवन दर्शन से हमें आज भी त्याग तथा तपस्या की प्रेरणा प्राप्त होती है।

महर्षि ने समाज तथा देश के उत्थान के लिये 'आर्य समाज' की श्रेष्ठ कृति सत्यार्थ

प्रकाश की रचना की। जिसमें उन्होंने सभी धर्मो को मानने वालों को आर्य समाज के नियमों का पालन करने का उपदेश दिया। महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश को आर्यो का सुदर्शन चक्र कहा है। जिसमें चौदह अध्यायों को 'चौदह समुल्लास' के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक समुल्लास व्यवहार परक सिद्धान्तों तथा समाजोत्थान की भावना से ओत-प्रोत है।

महर्षि के उपदेशों की महत्ता का यदि बखान किया जाये तो ज्ञात होता है कि पंजाबराज्य के जालन्धर जनपद में नानकचन्द के घर सन् 1913 ई0 में जन्मे मुंशीराम (वर्तमान में स्वामी श्रद्धानन्द) जो धार्मिक पाखण्ड़ों तथा अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के कारण नास्तिकता तथा अवगुणों की ओर झुकते जा रहे थे, भी इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने सभी अवगुणों का त्याग कर महर्षि के बताये मार्ग का अनुसरण किया तथा अपना सर्वस्व समाज सेवा तथा निस्वार्थ कार्यो के लिये समर्पित कर दिया।

महर्षि दयानन्द भारत को एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे, स्वयं गुजराती होते हुये भी उन्होंने अपने सभी ग्रन्थ संस्कृत निष्ठ आर्य भाषा (हिन्दी) में ही लिखे। भारत सरकार स्वतंत्रता के पश्चात् वोट बैंक की नीति के कारण हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा घोषित करने के पश्चात् भी पूर्णतया लागू न कर सकी, जिसके परिणाम स्वरूप दक्षिण तथा पूर्वोत्तर राज्यों में हिन्दी की स्थिति दयनीय है। इसी कारणवश भारत में रहने वाले लोग अपनी राष्ट्रीय भाषा के माध्यम से अपने विचारों का आदान प्रदान नहीं कर सकते।

महर्षि ने राजनीति के स्थान पर राजधर्म शब्द का प्रयोग करने पर बल दिया। जो वेद शास्त्र सम्मत है। इसका अभिप्राय है कि देश में रहने वाले सभी लोगों के लिये एक जैसे नियम व कानून हो उनमें मतभेद न हों। इसका परिणाम यह होगा कि राष्ट्र में रहने वाले लोग नियम व कानून पर चलना अपना धर्म समझेंगे तथा समान आचार संहिता लागू हो सकेगी तथा सभी के हितों की रक्षा हो सकेगी।

महर्षि दयानन्द ने जहाँ भी सुधार की बात की उसमें विद्वानों से संगठित होने के लिये कहा, परन्तु देखा जाता है कि एक जैसी शिक्षा न मिलने के कारण बुद्धिजीवी भी अपनी ढपली अपना राग वाली कहावत को चरितार्थ करते रहे है। जिन समस्याओं का कुछ क्षणों में ही समाधान सम्भव हो सकता है वह हठवादिता व स्वार्थ के चक्रव्यूह में फंसकर रह जाती है। सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में चयन प्रणाली के माध्यम से विद्यार्थी, धर्मार्य तथा राजार्य सभा का होना बताया है। जिसमें योग्य व्यक्ति अर्थात् धार्मिक वैदिक विद्वान्, पक्षपात शून्य, बली, पराक्रमी, ओजस्वी, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वालों को ही उच्च नेतृत्व दिया जाना बताया गया है।

आज संसद, विधान सभादि, में घटिया चुनाव प्रणाली के कारण मूर्खो की बाढ़ सी आ गई है। यथा प्रजा तथा राजा के अनुसार चोर-उचक्के, काले-कारनामों में लिप्त लोग सफेद वेशधारी तथा लोकतंत्र का सहारा लेकर उच्च नेतृत्व की कुर्सी पर आसीन है। ऐसी स्थिति में कौन राष्ट्र

को सम्यक दिशा देगा अर्थात् कहा जा सकता है कि दोष युक्त व्यवस्था के कारण योग्य व्यक्ति उच्च पदासीन नहीं हो पाते। अत: बहुमत के स्थान पर सर्व सम्मति से निर्णय लेने की पद्धति को विकसित करने की व्यवस्था को महर्षि ने उत्तम बताया है। स्वदेशी, स्वराज्य का नारा देने वाले महर्षि दयानन्द ने विद्या प्राप्त करने वाले सभी विद्यार्थियों के लिये एक जैसी शिक्षा सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में लिखी है। इस वैदिक पाठ्यक्रम के साहित्य में कहीं भी गुलामी का इतिहास पढ़ने की आज्ञा नहीं है। अपितु उसके स्थान पर रामायण व महाभारत जैसे ऐतिहासिक साहित्य को पढ़ने तथा अनुसरण करने की महत्ता पर बल दिया है।

वोट बैंक की नीति के कारण अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक के नारों के कारण तुष्टीकरण की नीति के अन्तर्गत प्रजा को सत्य से दूर रक्खा जा रहा है। इसका समाधान वैदिक पाठ्यक्रम है। महर्षि ने ऋग्वेद के उपवेद आयुर्वेद के बारे में कहा है कि सुश्रुत व चरकादि आयुर्वेद के ग्रन्थ ऋषि-मुनि प्रणीत है। इन वैद्यक शास्त्रों को अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर देश काल और वस्तु के गुण ज्ञानपूर्वक जानकर सभी प्रकार के रोग ठीक करने की क्षमता इसमें निहित है। परन्तु इस ओर अनुसंधान करने की आवश्यकता है, क्योंकि विधर्मियों के शासन में इस विद्या की बहुत हानि हुई है।

आर्यावर्त्तीय हृदय सम्राट् महाभारत कालीन श्री कृष्ण के समय भारत में प्रत्येक व्यक्ति के लिये छ: गाये थी, परन्तु आज छ: व्यक्तियों के लिये एक गाय भी उपलब्ध नहीं है।

उन्होंने समाज की दिशा तथा दशा सुधारने के लिये अनेक प्रमाणित तथ्यों को प्रस्तुत कर लोगों में चेतना जागृत करने के जो महान् कार्यो को किया है। उनके पश्चात् उनके कार्यो को बढ़ाने तथा समाज को दिशा प्रदान कर स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्व में मुंशीराम) ने उनके द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण किया।

स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्य समाज में प्रवेश लेने के पश्चात आर्य मन्दिर लाहौर (पाकिस्तान) में अपना पहला वक्तव्य दिया तत्पश्चात उन्होंने समाज सुधार के कार्यो को गति प्रदान की। इसी श्रृंखला को बढ़ाते हुये भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता को विकसित करने तथा मैकाले की शिक्षा नीति के विरुद्ध उन्होंने सन् 1902 में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना गंगा के पार कांगड़ी ग्राम में की। स्वामी श्रद्धानन्द ने वैदिक परम्पराओं को पुन: स्थापित करने तथा महर्षि द्वारा बताये गए मार्गो के अनुरूप ही गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा के स्वरूप को तैयार किया, जो आज भी स्वामी जी की प्रेरणा से निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

आज समाज के बदले परिवेश में भी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय वैदिक परम्पराओं का निर्वहन करते हुये व्यवहारपरक शिक्षा से वर्तमान पीढ़ी को महर्षि दयानन्द तथा उनके बाद स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करने की प्रेरणा दे रहा है। मेरा स्वयं का अनुभव है कि स्वामी जी आज भी किसी न किसी रूप में इस ओर चलने के लिये हमें प्रेरित कर रहे हैं।

यज्ञ और पारिस्थितिकी तन्त्र

डॉ0 रिता झिंगरन

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती।

यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन्।।[1]

परमात्मा ने मनुष्य के कल्याण के लिए वेदवाणी को संसार में सूर्य के प्रकाश के समान प्रकट किया है। प्रारम्भ में प्रकृति पर आधारित जीवन में निवास करने वाली मानव जाति में,आज इतना परिवर्तन आ गया है कि उसकी कल्पनाएं और परिकल्पनाएं असत्य प्रतीत हो रही हैं। प्रकृति के अपार संसाधनों की कमी ने एक ऐसे पर्यावरण को जन्म दे दिया है, जहाँ जीवन की गुणवत्ता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। हमारे चारों ओर का वातावरण जो हमें तथा अन्य जीवधारियों को प्रभावित करता है पर्यावरण कहलाता है।[2] पर्यावरण के घटक तत्वों में चाहे वे जैविक हो या अजैविक मानव जगत् पर इन सभी का प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक जीवधारी का पर्यावरण और पर्यावरण के विभिन्न घटकों के सम्बन्ध में अध्ययन को पारिस्थितिकी (Ecology) का नाम दिया है पारिस्थितिकी विज्ञान की वह शाखा है जो सम्पूर्ण जीव जगत् के घटकों में परस्पर तथा सजीव वर्ग में अपने पर्यावरण से सह सम्बन्ध का अध्ययन करती है।[3] वेदों में वर्णित पारिस्थितिकी तन्त्र के इस परिवेश की जो व्याख्या, वैदिक मंत्रों के माध्यम से व्यक्त की गयी है, वह अवर्णनीय है। ईश्वर ने सभी पदार्थो की उत्पत्ति और उनकी धारणा से सबका उपकार किया है, वैसे ही हम लोगों को भी नित्य प्रयत्न करना चाहिए।

पारिस्थितिकी तन्त्र के अन्तर्गत पृथ्वी की सभी वस्तुओं में प्राणी जगत में मनुष्य, पशु, पौधे एवं सूक्ष्म जीवाणु आते हैं। यही अजैविक वस्तुओं में प्रकाश, ऊर्जा, वायु, जल, मृदा एवं खनिज तत्व आदि सम्मिलित हैं। प्राणी जगत का जैविक वस्तुओं के साथ मिलकर बनाने के इस क्रियाकलाप को जिसे पारिस्थितिकी तन्त्र (Eco System) का नाम दिया गया है वैदिक मंत्रों में किस प्रकार वर्णित है। सर्वप्रथम यजुर्वेद का यह मंत्र जिसमें सृष्टि में स्थित पदार्थो का वर्णन किया गया है उनका सम्यक् प्रयोग कर कार्यो को सिद्ध करने का उपदेश है-

इन्द्र वायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्।

आदित्यान्मारुतं गणम्।।[4]

सृष्टिस्थ समस्त पदार्थ हे जीव! तेरे लिए सुखकारी हों जैसे वायु, किरण युक्त, सूर्य, इष्टका, पृथिवी पर प्रसिद्ध विद्युत् आदि अग्नि। यजुर्वेद का यह मंत्र -

शं वातः शं ँ, हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा तवाभिशूशुचन्।।[5]

पृथिवी पर जितनी भी वस्तुएँ चाहे वह जीव हो या निर्जीव परस्पर सम्पर्क में आती हैं, वह

सब मिलकर, इस प्रकार एक दूसरे से संयोग करती हैं कि एक सन्तुलित व्यवस्था बनी रहती है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य को देने वाला वह ईश्वर है। ऋग्वेद का यह मंत्र-

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति।

स नः पूषाविता भुवत्।।[6]

सामवेद का यह मंत्र दृष्टव्य है समस्त पदार्थ हमारे रक्षक हों -

त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।

पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः।।7

भावार्थ है त्वष्टा अर्थात् अग्नि, वेद मंत्र, मेघ ब्रह्मणस्पति अर्थात् सूर्य, अदितिः द्युलोक ये सब दिव्य पदार्थ हैं। हे इन्द्र! आपकी कृपा से हमारे पुत्रों भ्राताओं सहित शीघ्र ही हमारी रक्षा करें और हमारे वचन सफल हों।

इस प्रकार वैदिक मंत्रों में वर्णित पारिस्थितिकी तंत्र एक ऐसी इकाई है, जो जीव समूह और उसके इर्द-गिर्द, भौतिक पर्यावरण के बीच, सांमजस्य और समन्वय रखती है। सुखों की कामना प्राणी उसी प्रकाशवान जगदीश्वर से करता है जो सूर्य वा पृथ्वी के बीच सब नाश रहित जीवात्माओं वा प्रकृति आदि के समीप में बढ़ाता है।

प्राग्नये तवसे भरध्वं गिरं दिवो अरतये पृथिव्याः।

यो विश्वेषाममृतानामुपस्थ वैश्वानरो वा वृधे जागृवद्भिः।।8

समस्त उत्तम पदार्थो जिनकी कामना प्राणी करता है उसे अन्य प्राणियों के लिए भी वैसी ही कामना करनी चाहिए।

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो,

मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।

क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो

आस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम।।9

भावार्थ है - हे मनुष्यों ! हम लोगों के लिए यव आदि औषधियाँ सूर्यादि प्रकाश और जल मधुर आदि गुणों से युक्त हों, आकाश मधुर आदि गुणों से युक्त हों, अन्न के उत्पन्न होने की भूमि का स्वामी, हम लोगों के लिए मधुर गुण वाला हो, और अन्यों के साथ हिंसा न करने वाले हम लोग इसको अनुकूलता से बर्ते।

और भी -

अथवर्वेद का यह मंत्र बहुत कुछ यही उपदेश दे रहा है।

आदङ्गाकुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते।

तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम्।।10

अर्थात् संसार की सब ओषधियों में क्लेश नाशक और रोग निवर्तक शक्ति को देने वाला वही ओषधियों का ओषधि पर ब्रह्म है।

प्राकृतिक पदार्थ किस प्रकार सन्तुलित व्यवहार करते हैं। यजुर्वेद का यह मंत्र कुछ इसी भाव को व्यक्त कर रहा है-

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।।11

भावार्थ - हे मनुष्यों! जैसे वसन्त ऋतु में हम लोगों के लिए वायु, मधुरता के साथ जल के समान चलती है। नदियाँ व समुद्र कोमलता पूर्वक वर्षते हैं और ओषधियाँ मधुर रस के गुणों से युक्त हो जाती है, वैसा ही प्रयत्न हमें करना चाहिए।

प्रकृति के परिवेश में वृक्ष गिरते हैं, नये उगते हैं। वहां भोजन की शृंखला में ऊर्जा प्रवाह एवं पोषक चक्र में कोई व्यवधान नहीं आता है और यदि वहाँ कुछ अन्तर आता भी है तो प्रकृति और कुछ परितन्त्र की सामान्य प्रक्रिया उसे स्वयं व्यवस्थित कर देती है। इस स्थायित्व में ऊर्जा प्रवाह और इस ऊर्जा की सहायता से ही पर्यावरणीय व्यवस्था में, जैविक और अजैविक वस्तुओं में क्रियाएं सम्पन्न होने लगती हैं। सूर्य ऊर्जा का मुख्य स्रोत है। जो जगत का हितकारक है। सामवेद का निम्न मंत्र ईको सिस्टम की प्रक्रिया की ओर संकेत कर रहा है -

वावृधानः शवसा भूर्योजाः

शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।

अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि

सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु।।12

पदार्थ - उदय होता हुआ सूर्य अतिबली, दुष्ट जन्तु नाशक, सूर्य बल से, हानिकारक दुष्ट जन्तु के लिए भय को धारण करता है और अप्राणी तथा प्राणी ये सब पोषित अथवा धारित भूत मात्र अच्छी तरह से शोधित हुए, हर्षो में, उस सूर्य के लिए संगत होते हैं।

हरे पादप ही सूर्य ऊर्जा को कार्य में ले सकते हैं, जहाँ वे इसे अपने कार्बन का अपचयन करके कार्बोहाइड्रेट्स और प्रोटीन के रूप में समाहित कर लेते हैं। इस प्रकार शाकाहारी जीवों द्वारा ऊर्जा का एक स्थान से दूसरे स्थान तक हस्तान्तरण होता है, यह एक रेखीय गति होती है जिसे हम ऊर्जा प्रवाह के नाम से जानते हैं। सूर्य की किरणें रोग को दूर करती है, एवं हमें पाप से बचाती हैं।।

सामवेद का यह मंत्र द्रष्टव्य है -

अपामीवामप स्त्रिधमपसेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अहंस:।।13

सूर्य की किरणें और वायुओं से ही अनेक ओषध उत्पन्न होते हैं, जिनसे हमारे देह सन्तानादि उत्पन्न और रक्षित होते हैं।

आदित्यैरिन्द्र: सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं
भेषजा करत।14

यथा विधि वायु का सेवन करने वालों का वायु ही पिता, भ्राता और मित्र के समान गुणकारी, उपकारी होकर उनको दीर्घ जीवन देता है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत न: सखा।
स नो जीवातवे कृधि।।15

पर्यावरण के घटक तत्वों में से एक जल भी है-

सामवेद का यह मंत्र-
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च न:।।16

ऋग्वेद का यह मंत्र ओषधि वाले जलों को उपयोग में लाने की प्रेरणा देता है-

अप्स्वध्न्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्त्ये।
देवा भवत-वाजिन:।।17

अर्थात् हे विद्वानों तुम अपनी उत्तमता के लिए जलों के भीतर जो रोग का निवारण करने वाला अमृत रूपी रस है तथा जलों में ओषध है उनको जानकर, उन जलों की क्रिया कुशलता से श्रेष्ठ ज्ञान वाले हो जाओ।

शुद्ध जल का सेवन करने का उपदेश देते हुए कहा गया है-

इदमुदकं पिबतेत्यब्रवीतनेदं वा घा पिबता मुञ्जनेजन्।
सौधन्वना यदि तन्नेव हर्यथ तृतीय घा सवने मादयाध्वै।।17

हरे वृक्ष हमारे लिए कितने उपयोगी हैं, अत: उनको नहीं काटना चाहिए अपितु उनमें जो दोष हों, उनका निवारण करके उन्हें उत्तम सिद्ध करना चाहिए। ऋग्वेद का यह मंत्र है-

मा काकम्बीरमुद वृहो वनस्पतिम शस्तीर्विहि नी नश:।
मोत सूरो अह एवा च न ग्रीवा आद्धते व:।।18

एक पारिस्थितिकी तंत्र किसी स्थान की आबादी समुदाय, आवास और पर्यावरण को समाहित करते हुए वह व्यवस्था है, जिसमें जैविक और अजैविक वस्तुओं के बीच सभी पर्यावरणीय क्रियाएं संक्रियाएं सम्पन्न होती हैं। ऋग्वेद का यह अन्य मंत्र द्रष्टव्य है जिसमें बताया गया है- हे मनुष्यों! जैसे पृथ्वी और सूर्य सत्य, कर्मयुक्त, इच्छा पूर्ति करने वाले और मधुरादि रस देने वाले धन, अन्न, बल और विज्ञान के बढ़ाने वाले हों वैसा हमें अनुष्ठान करना चाहिए।

मधु नो द्यावा पृथिवी मि मिक्षतां मधुश्चुता मधुदुघे मधुव्रते।

दधाने यज्ञं द्रविणं च देवता महि श्रवो वाजमस्मे सुवीर्यम्।।20

प्रकृति के आवश्यक तत्वों की उपलब्धि व्यवस्थित रूप से होती रहे। अथर्वेद के 12वें काण्ड में पृथिवी सूक्त प्राकृतिक तत्वों की व्याख्या कर रहा है।

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो, यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।

यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्, सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु।21

अपिच

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत्, यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः।

यस्या हृदयं परमे व्योऽमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।।22

पृथ्वी पर स्थित पहाड़ियाँ, हिमयुक्त पर्वत तथा तुम्हारे जंगल सुखकारी होवें।

गिरयस्ये पर्वता हिमवन्तो,

अरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।।23

पृथ्वी पर न तो ऊर्जा उत्पन्न की जा सकती है और न ही उसे नष्ट किया जा सकता है, यह एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाती है। अथर्ववेद का यह मंत्र दृष्टव्य है-

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं, यास्त ऊर्जस्तन्वऽः संबभूवुः।

तासु नो धेह्यभि नः पवस्व, माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।।24

वायु, जल, भूमि, वनस्पति, वृक्ष, पशु, मानव अर्थात् पृथ्वी पर स्थित जैविक और अजैविक तत्व जिस पर्यावरण की संरचना करते हैं, उसे बनाए रखना आज़ परम आवश्यक है। जीवन की गुणवत्ता के लिए पर्यावरण की गुणवत्ता ही है। अतः स्वच्छ जल, स्वच्छ भोजन, निरापद वायु, स्वच्छ गृह एवं प्रदूषण रहित वातावरण, एक अच्छे पर्यावरण के आवश्यक घटक हैं। जीवन के लिए मानसिक रूप से स्वस्थ होना और प्रकृति से विरासत में मिले हुए विभिन्न पदार्थों का समुचित उपयोग करना नितान्त आवश्यक है।

अथर्ववेद का यह मंत्र द्रष्टव्य है-

आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणी।

उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान्।।25

मनुष्य को चाहिए कि दुर्ग और घरों के आसपास के दृश्य को सुख बढ़ाने वाले दूब, जल, कमल, आदि से स्वस्थता के लिए सुशोभित रक्खें।

प्रभात की वेला, सभी प्राणियों के लिए सुखकारी हो, सामवेद का यह मंत्र पर्यावरण के प्रति कितना सचेत है-

उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरि।
रेवदस्मे व्युच्छ सूनृतावति।।26

अर्थात् उषाकाल में सुन्दर, गौवें या किरणें हों उत्तम घोड़े वा प्राण हों, सुन्दर प्रकाश हो। मधुर वाणी को मनुष्य पशु पक्षी आदि घोल रहे हों। उषा का यज्ञ हो रहा हो, ऐसी उषा वेला जिससे धनधान्यादि सुख की वृद्धि एवं अन्धकार का निवारण नित्य हुआ करे।

जैविक पदार्थ पादप, वनस्पति और जीवाणु होते हैं, जो कार्बनिक यौगिकों का निर्माण करते हैं, ये सूर्य की किरणों से प्राप्त ऊर्जा की सहायता से फोटोसिन्थेसिस संक्रिया के अन्तर्गत अकार्बनिक पदार्थों में बदल देते हैं।

ईको सिस्टम की प्रक्रिया सन्तुलित रूप से बनी रहे। इसके लिए यज्ञ की आज महती आवश्यकता है। यज्ञस्थली के चारों ओर पौधे रखने का विधान है सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय यज्ञ करने से फोटो सिन्थेसिस की सक्रिया से CO_2 गैस पौधों द्वारा अवशोषित करके ऑक्सीजन मुक्त होती है और यही गैस कार्बोहाइड्रेट का निर्माण करती है। यज्ञ की अग्नि कैसी है -

य परिधि पर्य्य धत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः
तं तऽएतमनु जोषं भराम्येष मेत्त्वदपचेत
याताऽअग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्।27

अर्थात् मनुष्य लोग यज्ञ में आहुति देते हैं वह वायु के साथ मेघमण्डल में जाकर सूर्य से खिंचे हुए, जल को शुद्ध करती हैं फिर वहाँ से वह जल पृथ्वी में आकर औषधियों को पुष्ट करता है, वह उक्त आहुति वेद मंत्रों से ही करनी चाहिए। क्योंकि उसके फल को जानने से नित्य श्रद्धा उत्पन्न होती है; जो यह अग्नि सूर्य रूप से होकर सबको प्रकाशित करता है, इसी से सब दृष्टि व्यवहार का पालना होती है।

यजुर्वेद में वर्णित निम्न मंत्र द्रष्टव्य है-

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिद्भिशस्त्यै। सवितुर्बाहूस्थऽऊर्णम्रदसं
त्वा स्तृणामि स्वासस्थं देवेभ्यऽआ त्वा वसवो रूद्राऽदित्याः सदन्तु।।28

अग्नि के बीच में जिन-जिन पदार्थों का प्रक्षेप अर्थात हवन किया जाता है, वे सूर्य और वायु को प्राप्त होते हैं। वे ही उन अलग हुए पदार्थों की रक्षा करके फिर उन्हें पृथिवी में छोड़ देते हैं। जिससे कि पृथिवी में दिव्य औषधि आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं उनसे जीवों को नित्य सुख प्राप्त होता है। इससे सब प्राणियों को इसका अनुष्ठान सदैव करना चाहिए।

ईश्वर यह आदेश करता है कि यज्ञ, अग्नि में शुद्ध किये गये पदार्थों का धूम-मेघमण्डल में जाकर, शुद्धि के द्वारा, अत्यन्त सुख उत्पन्न करने वाला होता है। इससे वह यज्ञ किसी पुरुष को कभी छोड़ने योग्य नहीं है।

वैज्ञानिक प्रयोगों से सिद्ध है कि साधारणतः यज्ञ की अग्नि ओर किसी वस्तु के जलने में होने वाली रासायनिक प्रक्रियाओं में अन्तर होता है। यज्ञ की समिधा में डालने वाले पदार्थ गोघृत, चावल, मीठे पदार्थ, CO_2 गैस में रूपान्तरित होकर Nasent हाइड्रोजन को निकालते हैं जो अत्यन्त प्रक्रियाशील होती है और ऑक्सीजन के साथ मिलकर एक अम्ल को बनाती है। जो इथाइल, एल्कोहल, और प्रोपिनाइक अम्ल होते हैं, जो विसंक्रमणकारी तत्व होते हैं, हानिकारक नहीं।29

यज्ञ की महिमा ही ऐसी है-

अग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम्।

अङ्‌ग्धि रवं वर्तया पविम्।।30

सामवेद के इस मंत्र में यह बताया गया है कि यज्ञ के माध्यम से जिसका सेवन किया जाता है, उससे धन धान्य की प्राप्ति, आकाश की स्वच्छता, धूप, वर्षा, प्राण, वायु आदि का संतुलित बर्ताव एवं प्रकाश होता है।

वैदिक शोध कर्ताओं का ऐसा मानना है कि एक तोला 12 ग्राम गोधृत में डालने से एक टन ऑक्सीजन बनती है।31 यज्ञ के धुएं एवं राख पर अनेक प्रयोगों से यह पाया गया है कि इनसे वायु मण्डलीय और पर्यावरणीय स्वास्थ्य बढ़ता है और प्राणीय पशु और वनस्पति की साधारण विकास प्रक्रियाओं में सुधार और वृद्धि होती है। यज्ञ की समिधाओं से जिस द्रव्य से हवन किया जाता है उनसे विद्युत एवं मेघ की वृद्धि होती है। सामवेद में वर्णित यह मंत्र दष्टव्य है-

इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आ वृहतं सुवीराः।

वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिऽयामदन्ता।32

अग्नि में जिस द्रव्य का होम किया जाता है वह मेघमण्डल को प्राप्त करके किस प्रकार क्या गुण करता है, इसका उपदेश यजुर्वेद के इस मंत्र में ईश्वर ने किया है-

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिदेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः।

भावार्थ - जो पदार्थ यज्ञ के माध्यम से संयोग से विकार को प्राप्त होते हैं, वे अग्नि के निमित्त से अति सूक्ष्म परमाणु रूप होकर वायु के बीच रहा करते हैं और कुछ शुद्ध भी हो जाते हैं; परन्तु

जैसे वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि यज्ञ के अनुष्ठान से होती है वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती है अतः मनुष्यों को इनसे लाभ उठाना चाहिए।

यजुर्वेद के एक अन्य मंत्र में इस तथ्य पर दृष्टिपात किया गया है कि यज्ञ में जब सुगन्धित पदार्थों से होम किया जाता है तब वह परमाणु रूप होकर वायु और वृष्टि जल में विस्तृत होता हुआ सब पदार्थों को उत्तम करके दिव्य सुखों को उत्पन्न करता है।

अग्ने रस्मि जन्मना। जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं मे आसन्।

अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्त्रो धर्मो हविरस्मि नाम्।।33

ऊर्जा परिवर्तन का यह नियम है कि उसका कुछ भाग परिवर्तित हो जाता है और कोई भी पारिस्थितिकी तंत्र बिना ऊर्जा के नहीं रह सकता है। ऊर्जा का हस्तान्तरण और उसका उपभोग ही भोजन श्रृंखला को जन्म देता है। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय में वर्णित यह मंत्र कुछ इसी तथ्य को इंगित कर रहा है।

सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यचिछद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। सवितुर्वः

प्रसवऽउत्पुनाम्यश्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तेजोऽसि शुक्रमसयमृतमसि

धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि।34

सूर्य की किरणों के साथ रहकर, निरन्तर शुद्ध गुण से सब पदार्थों को पवित्र करता हुआ, उत्तम रस वाले पदार्थों को उत्पन्न करके, उनके भोजन से शरीर की पुष्टि और बलादि शुद्ध गुणों का सम्पादन करके सब जीवों को सुख देता है।

यजुर्वेद के द्वितीय अध्याय में वर्णित एक अन्य मंत्र इसी तथ्य की व्याख्या कर रहा है। कृष्णोऽस्यारखवरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामिझ35

प्राणी जगत् के लिए प्रकाश और ऊष्मा के रूप में जो सूर्य द्वारा अपार मात्रा में आती है उसका सीधा उपयोग जन्तुओं और वनस्पतियों द्वारा नहीं हो पाता। अतः हरे पौधों द्वारा क्लोरोफिल की सहायता से ग्रहण कर ली जाती है और यह पौधे उस ऊर्जा को जल और कार्बोहाइड्रेट्स में परिवर्तित कर देते हैं। इसी कारण पौधों को उत्पादक कहा जाता है, जो स्वयं अपना भोजन तैयार करते हैं।

किसी भी पारिस्थितिकी तंत्र में जीवधारियों का यह अनुक्रम जिसमें ऊर्जा का हस्तान्तरण होता रहता है, भोजन श्रृंखला कहलाती है।

यज्ञ का मुख्य साधनं अग्नि है, क्योंकि वह ऊर्ध्वगामी होती है। सब पदार्थों को छिन्न-भिन्न करने का भी उसका स्वाभाव है। इस प्रकार वसन्तादि ऋतुओं से उत्तम-उत्तम पदार्थों का सम्पादन करके अन्न और जल को शुद्ध वा सुख देने वाला कर देता है ऐसा जानना चाहिए।

वेद भगवान् ने मंत्रों में जिन तथ्यों की व्याख्या की है उसका एक-एक शब्द परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप में वैज्ञानिक है।

एतं ते देव सवितुर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे।

तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव।।35

सब ऋतुओं में सुख देने योग्य गृह का निर्माण कर उसमें दोषों को निवृत्त करके, वर्षा का हेतु जो यज्ञ है उसका अनुष्ठान उसे करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ करने से वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा संसार में अत्यन्त सुख होता है। यज्ञाग्नि में समिधा द्वारा जो आहुति दी जाती है उससे रोग निवारक गन्ध वायुमण्डल में फैल जाती है।

वात आ पातु भेषजं शंभु मयोभु नो हृदे प्रण आयूंषि तारिषत्।37

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा स नो जीवातवे कृधि।।38

निष्कर्षतः इतना ही कहा जा सकता है कि प्रकृति से आवश्यक तत्वों की उपलब्धि व्यवस्थित रूप से होती रहे। इसके लिए यज्ञ परम आवश्यक है। निःसन्देह एक स्वस्थ परितन्त्र (Eco system) एक स्वस्थ पर्यावरण की आश्वस्तता और एक स्वस्थ पर्यावरण, वस्तुतः स्वस्थ जीवन देता है। अन्त में इसी कामना के साथ सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः।

सं पतत्रिणः

ते भिर्मे सर्वेः संस्त्रावैर्धनं सं स्त्रावयामसि।

संदर्भ संकेत

1. अथर्व0 18.1.20 2. वायु प्रदूषण संपादक दमोदर शर्मा - जयपुर

3. इनवायरमेंट एजूकेशन- डा0 एम0के0 गोयल-आगरा 4. यजु0 33.45 5. यजु0 35.8

6. ऋग् 3.62.9 7. साम0 299 8. ऋग् 7.5.1 9. ऋग् 4.5.7.3

10. अथर्व 2.3.2 11. यजु0 13.27 12. साम0 1484 13. साम0 397

14. साम0 111 15. साम0 1841 16. साम0 1839 17. ऋग. 1.23.19

18. ऋग. 1.161.8 19. ऋग. 6.48.17 20. ऋग. 6.70.5 21. अथर्व0 12/1/3

22. अथर्व0 12/1/8 23. अथर्व0 12/1/11 24. अथर्व0 12/1/11 25. अर्थ0 6.106.1

26. अथर्व0 1729 27. यजु0 भाष्यम द्वि0 17 28. यजु0 2/5

29. योग संदेश अंक जनवरी 2005 30. साम0 1529 31. योग संदेश अंक जनवरी 2005

32. साम0 338 33. यजु0 भाष्यम् अ0 18 मंत्र 66 34. यजु0 भाष्यम अ0 1/31

35. यजु0 भाष्यम 2/1 36. यजु0 मंत्र 2/12 37. ऋग0 10.186.1-3

38. अथ0 सायण भाष्य प्रथम अध्याय

''मृच्छकटिकम् में वर्णित न्याय व्यवस्था की प्रासंगिकता

डॉ0 उमा जैन
रीडर, संस्कृत विभाग
मुन्नालाल एण्ड जयनारायण खेमथा
गर्ल्स कॉलेज, सहारनपुर

न्याय शब्द नि+आ+इ+घञ् से सम्पन्न हुआ है। 'नियन्ति अनेन इति न्याय। इसका अर्थ है प्रणाली, तरीका, रीति, नियम, योजना, कानून, इन्साफ आदि।1 न्याय का प्रयोजन है- निष्पक्ष न्याय करना अर्थात् अपराधी को दण्ड देना और निरपराध को दण्ड से मुक्त करना। समाज में सुव्यवस्था बनाए रखने हेतु न्याय व्यवस्था की स्थापना की जाती है। जिससे अपराधी पुनः अपराध की ओर प्रवृत्त न हो। अन्यथा जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है उसी प्रकार धनवान और बलवान व्यक्ति निर्धन एवं निर्बल को नष्ट करने लगेगा। निष्पक्ष न्याय करना एवं अपराधी को अपराधानुसार दण्डित करने हेतु न्यायालय की स्थापना की जाती है। न्यायालय अर्थात् न्याय का मन्दिर जिसमें एकमात्र न्याय ही अपेक्षित है। संस्कृत नाट्य व्यवस्था का सजीव चित्रण हमें प्राप्त होता है। उस समय नागरिकों की समस्याओं और विवादों के प्रशमन तथा दुर्विनीतों को दण्ड देने के लिए राजकीय न्यायालय होते थे। न्यायालय को उस समय अधिकरण मण्डप कहा जाता था।2 जो राजमहल के पास में ही स्थित होता था।

बृहस्पति के अनुसार न्यायालय के दस अंग होते हैं - राजा, मुख्य न्यायाधीश, सभ्य या सहायक न्यायाधीश, कानून की पुस्तकें, कोषाध्यक्ष, लेखक, स्वर्ण, अग्नि, जल तथा न्यायालय का चपरासी।3 जो मिलकर न्याय व्यवस्था स्थापित करते हैं। मृच्छकटिक में राजा के अलावा सभी अंगों को देखा जा सकता है। उस समय ब्राह्मण मुख्य न्यायाधीश था तथा अन्य दो सहायक न्यायाधीश सत्य की खोज करने में सहायता प्रदान करते हैं कि प्रमाणों के आधार पर किसको दोषी ठहराया जाये, यह मुख्य न्यायाधीश से पूछते हैं।4 यह व्यवस्था आधुनिक जूरी की तरह है। ये तीनों अधिकारी मिलकर न्याय करते थे। न्यायाधीश राजा का वैतनिक सेवक होता था उसे राजा इच्छानुसार हटा सकता था। जिसकी नियुक्ति भी राजा ही करता था। मृच्छकटिक में राजा का साला होने के कारण शिकार अधिकरणिक को कहता है कि यदि मेरा अभियोग नहीं सुना गया तो मैं राजा से कहकर तुम्हें अपदस्थ करवा दूंगा।5 यह न्यायाधीश आधुनिक न्यायालयों में जज के समान होता था। और 'श्रेष्ठिक' 'ज्यूरर' या असेसर के समान कहा जा सकता है।6 कायस्थ संभवतः न्यायालय का पेशकार होता था। जो कार्यार्थी का व्यवहार लिखता था।

दुःखी दल (वादी या मुदद्ई) न्यायालय में जाकर अपनी बात (अभियोग0 लिखवाता है। और प्रतिवादी (विरोधी) भी अपनी बात (शिकायत) लिखित रूप में प्रस्तुत करता है। मृच्छकटिक के नवम अंक में उज्जयिनी स्थित उच्च न्यायालय में अभियोगी के रूप में शकार अभियोग प्रस्तुत करता है कि किसी अज्ञात व्यक्ति ने उसके बाग में (पुष्पकरण्डोकोधान में) बसन्तसेना को थोड़े

से स्वर्ण के लालच में गला घोंट कर मार दिया है। 6 न्याय व्यवस्था बनाए रखने हेतु न्यायाधीश समस्त शास्त्रों का ज्ञाता, (वादी-प्रतिवादी द्वारा किये गये) कपटों को समझने में कुशल श्रेष्ठ वक्ता तथा क्रोध रहित होना चाहिए। वह शत्रु-मित्र एवं स्वजनों में समान दृष्टि रखने वाला, वादी-प्रतिवादी के व्यवहार को देखकर निर्णय देने वाला, दुर्बलों का रक्षक, धूर्तों को दण्ड देने वाला, धर्मयुक्त होता है तथा लोभ न करने वाला होता है। उपाय रहते दूसरों की यथार्थ बात को जानने में दत्त चित्त एवं राजा के कोप को नष्ट करने वाला होता है।8 न्यायाधीश का मुख्य कर्तव्य सत्य रूपी अनाज के दाने से झूठ रूपी छिलके को अलग करके कमजोर की रक्षा करना तथा दुष्ट व बदमाश को दण्ड देना था।9

वर्तमान के समान उस समय भी वादी-प्रतिवादी तथा गवाहों से जिरह करते समय जो तथ्य सामने आते थे उनको कायस्थ मुख्य न्यायाधीश के निर्देश पर लिख लिया करता था। शकार द्वारा न्यायालय में अभियोग प्रस्तुत करते समय वसन्तसेना की हत्या किसने की है, मैंने नहीं इसको लिखेने के लिए मुख्य न्यायाधीश कायस्थ को संकेत करना है कि 'न मया' शब्द को लिख लिया जाय।10 सत्य को खोजने एवं दोषी व्यक्ति को पहचानने के लिए न्यायाधीश विभिन्न तरीकों को अपनाता है। कानून में ब्राह्मण हत्या के साथ औरत की हत्या को भी अति घृणित अपराध माना जाता था। शकार द्वारा चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग मित्र विदूषक के पास वसन्त सेना के आभूषण की प्राप्ति से सिद्ध हो जाने पर न्यायाधीश द्वारा चारुदत्त को राष्ट्र निष्कासन सम्बन्धी दण्ड को अस्वीकार करते हुए उसे मृत्यु दण्ड देने का आदेश दिया जाता है। साथ ही वध्य पुरुष को और अधिक अपमानित करने के लिए गले में करवीर पुष्प की माला, सम्पूर्ण शरीर पर लाल चन्दन, तिल, तण्डुल, कुंकुम आदि का लेप करके उसकी आकृति पशु तुल्य बना दी जाती थी।11 हत्यारा पुनः कोई हत्या जैसा दुष्कर्म न करें या अन्य कोई इस तरह का अपराध करने हेतु तत्पर न हो इसके लिए चारुदत्त से चाण्डाल द्वारा नगाड़ा बजाकर घोषणा स्थल पर स्वयं और अपराधी से घोषणा (मैंने वसन्त सेना की हत्या की है) करायी जाती है।12

'मृच्छकटिक' में राजकीय कर्मचारी पर आक्रमण करना भारी महान् अपराध माना जाता था। राजमार्ग पर चारुदत्त की गाड़ी में बन्धक गोपाल दारक आर्यक को उन्मुक्त जाने दिये जानेपर चन्दनक पर राजकीय आदेश की अवहेलना से एवं अपने ऊपर प्रहार किये जाने से कुपित वीरक की यह धमकी कि वह न्यायालय में यदि उसके चारों अंगों को न कटवा दे तो वीरक नहीं रहेगा।13 जिस पर चन्दक को भयीत हो सपरिवार भागना पड़ता है। इसी प्रकार आर्यक को शरण देने के पश्चात् चारुदत्त भी भयभीत दिखाई देता है, क्योंकि उसने एक राजद्रोही को शरण दी थी।14 क्योंकि आर्यक को राजा पालक ने बन्धनागार में उसके पैरों में बेड़ियाँ डालकर रखा था। इससे विदित है कि उस समय राजनीतिक अपराध सबसे बड़ा माना जाता था। उसके लिए दण्ड कारावास या मृत्युदण्ड भी दिया जा सकता था। निरपराधी को दण्ड दिये जाने पर वह अपने को अग्नि, विषपान, जल अथवा तुला परीक्षा द्वारा निर्दोष सिद्ध करता था।15

इस प्रकार सुदृढ़ न्याय व्यवस्था होने पर भी न्यायाधीश के लिए न्याय करना अत्यन्त दुष्कर्म है क्योंकि वादी तथा प्रतिवादी लोग न्याय से रहित अभियोग को निर्णय के लिए न्यायालय में उपस्थित करते हैं। अपने व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की आसक्ति से युक्त होकर वे न्यायालय में अपने दोषों को स्वयं नहीं बतलाते है। इसलिए वादी-प्रतिवादी द्वारा बढ़ाये गये अपकीर्ति जनन निर्णय की अयथार्थता के दोष राजा (न्यायाधीश) पर लगते हैं। संक्षेप में न्यायाधीश को अपयश मिलना ही सुगम है, कीर्ति तो दूर की बात है।16 यही बात दूसरे रूप में न्यायाधीश द्वारा कही गयी है- न्याय से हीन मनुष्य क्रुद्ध होकर अन्य रूप में दूसरों के दोष न्यायालय में प्रस्तुत करते हैं, वे न्यायालय में अपने दोषों को नहीं कहते हैं, ऐसे लोगों के साथ वे बुद्धिमान् सज्जन भी निश्चय ही नष्ट हो जाते हैं जो वादी या प्रतिवादी के दोष में साथ होकर पाप करते हैं।17 न्यायाधीश को वादी-प्रतिवादी, गवाहों एवं सबूतों के आधार पर ही निर्णय देना होता है; चाहे वे सत्य अथवा असत्य पर आधारित हों।

मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त साधारण व्यक्ति होते हुए भी चरित्रवान्, उदार एवं स्पृहणीय है। जिसके श्रेष्ठ गुणों से प्रभावित होकर वसन्तसेना चारुदत्त पर आसक्त है। परन्तु प्रतिद्वन्द्विता के कारण द्वेष करने वाला शकार, चारुदत्त पर वसन्तसेना का गला दबाकर हत्या का आरोप लगाकर उसको मृत्यु दण्ड दिलाने में सफल हो जाता है। क्योंकि सबूत के तौर पर विदूषक की बगल में दबे हुए आभूषण (जो धरोहर के रूप में चारुदत्त के घर में से वसन्त सेना के यहाँ लौटाने जा रहा था।) जमीन पर बिखर जाते हैं।18 न्याय व्यवस्था में सबूतों का विशेष योगदान रहता है। चारुदत्त इतना उदार है, वसन्त सेना का गला घोंटने वाले शकार को भी क्षमा कर देता है। शस्त्रेण न हन्तव्यः। उपकार हस्तस्तु कर्त्तव्यः।19 क्या ऐसा उदात्त चरित्र में दोष की कल्पना की जा सकती है? वसन्तसेना की वृद्धा माता भी चारुदत्त की निर्दोषता के विषय में इस सीमा तक आश्वस्त है कि वह न्यायाधीश से स्वयं चारुदत्त के प्राणों की रक्षार्थ प्रार्थना करती है-प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वार्यमिश्राः तद्यदि व्यापादिता मम दारिका व्यापादिता। जीवतु मे दीर्घायुः। अन्यच्च। अर्थी प्रत्यर्थिनोर्व्यवहारः। अहमर्थिनी। तन्मुञ्चतैनम्।20 यहाँ पर चारुदत्त एक निर्दोष व्यक्ति का प्रतीक है। चारुदत्त जैसे निष्पाप व्यक्ति को भी न्यायालय की परिस्थितियों के कारण मृत्युदण्ड भुगतने के लिए विवश कर दिया जाता है, यही न्याय की शाश्वत समस्या है। न्यायधीश स्वयं चारुदत्त की निर्दोषता के प्रति पूर्णतया आश्वस्त है कि चारुदत्त इस प्रकार का अपराध नहीं कर सकता है। नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम्।21 'चारुदत्त पर स्त्री हत्या का आरोप लगाना पवर्तराज हिमालय को तोलने के समान , सागर को पैरों से तैरकर पार करने के समान तथा अग्नि को पकड़ने के समान (असम्भव) है।22 शकार के द्वारा अधिकरणिक पर पक्षपात का आरोप लगाये जाने पर वह उसको फटकारते हुए कहता है कि चारुदत्त को चरित्र से भ्रष्ट बतालाते हुए पृथ्वी तेरे शरीर का हरण नहीं करती - चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि न ते देहं हरति भूः।23 जिस महात्मा ने याचकों की इच्छापूर्ति हेतु अपना सारा धन दान कर दिया, ऐसा कल्याणों की एकमात्र निधि

वह चारुदत्त धनार्थ शत्रुओं द्वारा भी न करने योग्य वसन्तसेना हत्या रूपी पाप कैसे करेगा।24 कुछ परिस्थितियाँ ऐसी उपस्थित हो जाती हैं जो चारुदत्त को दण्डित करने के लिए बाध्य करती हैं और समर्थ न्यायाधीश लोग मात्र मूक दर्शक बनकर रह जाते हैं। राजकर्मचारी वीरक द्वारा यह कहने पर चारुदत्त की गाड़ी में वसन्तसेना पुष्पकरण्कोधान में क्रीड़ा करने के लिए ले जा रही है।25 इसको सुनकर न्यायाधीश खेद प्रकट करता हुआ कहता है कि निर्मल चांदनी वाला यह चन्द्रमा (चारुदत्त) राहु (वीरक) द्वारा ग्रसा जा रहा है। तट के गिरने से जैसे स्वच्छ जल मलिन हो जाता है वैसे ही दुर्दैव से पवित्र चरित्र वाला चारुदत्त कलंकित हो रहा है।26

न्याय व्यवस्था में पुलिस का प्रथम तथा महत्वपूर्ण स्थान होता है। किसी भी वाद की जांच-पड़ताल कराने का दायित्व पुलिस द्वारा सम्पन्न होता है। यदि वह अपनो दायित्व का निर्वाह पूर्णतया ईमानदारी से नहीं करती है तो न्याय की कल्पना करना भी निरर्थक है। वसन्त सेना हत्या की जांच का कार्य जब वीरक को दिया जाता है तो वह पूर्ण कार्यवाही न करके न्यायालय में आकर अधूरी आख्या देता हुआ कहता है कि पुष्पकरण्डकोद्यान में पशुओं द्वारा खाये जाते हुए वसन्तसेना के शव को अपनी आंखों से देखा है।26 इस प्रकार पुलिस अधिकारी के व्यक्तिगत दुराग्रह तथा प्रमाद से सर्वथा निर्दोष चारुदत्त मृत्यु दण्ड को प्राप्त करता है। इस लोक व्यवहार (न्याय-व्यवस्था) की विषमता को धिक्कारते हुए न्यायाधीश कहता है- अहो, व्यवहार के नियम भली-भांति स्पष्ट हो रहे हैं, और मेरी बुद्धि कीचड़ में गई हुई गाय के समान फँस रही है।27 अर्थात् जैसे-जैसे मैं इसको निर्दोष साबित करना चाहता हूँ वैसे-वैसे सबूत इसके प्रतिकूल हो जाते है। न्याय व्यवस्था की इस घोर विड़म्बना को चारुदत्त ने स्वयं अपने शब्दों में अभिव्यक्त किया है कि कौआ श्वेत है, इस प्रकार विश्वास दिलाने वाले राजा के शासन के दूषित करने वाले ऐसे न्यायाधीशों के द्वारा सहस्रों निरपराध व्यक्ति मारे गये हैं तथा मारे जा रहे हैं।29 चारुदत्त का यह कथन वर्तमान काल में भी पूर्ववत् प्रासंगिक है। चारुदत्त के कथन में न्यायालय मण्डप में न्याय की निर्मम भीषणता का कितना सुन्दर वर्णन ध्वनित हुआ है- जहाँ राज्य विषयक विविध चिन्ताओं में व्यस्त मंत्री जल के तुल्य है, जहाँ दूत गण तरंग तथा शंख के समान व्याकुल हो रहे हैं, जहाँ उपान्त में स्थिर गुप्तचर नक्र और मकर के समान हैं, जहाँ हाथी तथा घोड़े अन्य जलचर जीवों के तुल्य हैं, जहाँ विविध प्राणी बोलते हुए वादी प्रतिवादी कंक पक्षी के समान सुशोभित हो रहे हैं जहाँ कायस्थ सर्प के समान कुटिल वृत्ति वाले दिखाई पड़ रहे हैं और जहाँ नीति ही भग्न तट है, वह न्यायालय हिंसात्मक आचरण के द्वारा समुद्र के समान व्यवहार कर रहा है।30 इन सभी में कोई भी न्याय, सदाचार एवं अहिंसात्मक वृत्ति का प्रतीक प्रतीत नहीं हो रहा है। जो सच को सच और झूठ को झूठ साबित कर अपराधी को दण्ड दे सकें। विदित है मृच्छकटिक के रचना काल में न्याय व्यवस्था बनाने का पूर्ण प्रयास किया जाता था किन्तु उपस्थित दुराग्रही गवाहों एवं सबूतों के कारण न्याय नहीं हो पाता था।

उपर्युक्त कथन के आधार पर हम कह सकते हैं कि न्याय की समस्या तो शाश्वत है और

आधुनिक युग में वह अपने इसी पुरातन स्वरूप में वर्तमान है। मृच्छकटिक नाटक के रचयिता महाकवि शूद्रक ने जिस न्याय की समस्या की ओर हमारा ध्यान हजारों वर्ष पूर्व आकर्षित किया था वह आज भी उतना ही प्रासंगिक है। वर्तमान काल में वादी तथा प्रतिवादी अपने-अपने अधिवक्ता के साथ न्यायालय में उपस्थित होते हैं। जिस व्यक्ति द्वारा अपना जो अधिवक्ता नियुक्त किया जाता है उसका कर्त्तव्य होता है कि वह अधिवक्ता (वकील) न्यायाधीश के समक्ष अच्छे से अच्छे तर्क प्रस्तुत करता है, और निर्णय देना तो न्यायाधीश का काम है। दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं की बहस के मध्य से ही सत्य प्रकट होगा और न्यायाधीश न्याय कर सकेगा।

न्याय प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग होने के नाते अधिवक्ता का पावन दायित्व होता है कि वह दोषी को निर्दोष प्रमाणित करने के स्थान पर न्यायाधीश को सत्य तक पहुँचाने में सहायता करें। न्यायालय में वे सब तथ्य प्रस्तुत करे जो उसके पक्ष के विरुद्ध होते हुए भी सच्चाई के करीब हो। उचित तो यह है कि यदि कोई व्यक्ति अपराध करता है तो उसे अपराध न केवल हृदय से स्वीकार करना चाहिए अपितु दण्ड को भी शिरोधार्य करना चाहिए। यदि कोई दोषी व्यक्ति न्याय मन्दिर का दुरुपयोग करना चाहता है तो अधिवक्ता को इस अनुचित कार्य का भागीदार कदापि नहीं होना चाहिए। क्योंकि दण्ड भोगना अपराध करने से अधिक लज्जाजनक बिल्कुल नहीं है।

संदर्भ संकेत

1. संस्कृति हिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे , पृ0 556 2. मृच्छकटिकम् अंक 9/334 पृ0

3. यूरेस्कर : कोर्टसीन इन मृच्छ0 वेलणकर कोमेमोरेशन वाल्यूम पृ0 183

4. शूद्रक का मृच्छ0, पृ0 253 5. मृच्छ0 अंक 9 पृ0 342

6. शूद्रक का मृच्छ0 पृ0 252 7. मृच्छ0 अंक 9 पृ0 344

8. वही 9/5 9. यूरेस्कर : कोर्टसीन न मृच्छ0 वेलणकर कोमेमोरेशन वाल्यूम पृ0 182

10. मृच्छ0 अंक 9 पृ0 346 11. वही 10/5 12. मृच्छ0 10/25

13. वही अंक 6 पृ0 262 14. वही 7/8 15. वही 9/43 16. वही 9/3

17. वही 9/4 18. वही पृ0 362 19. वही 10/55 20. वही 378

21. मृच्छ 8/16 22. वही 9/20 23. वही 9/21 24. वही 9/22

25. वही 364 26. वही 9/24 27. वही 364 28. वही 9/25

30. वही 9/14

औपनिषदिक पारलौकिक ज्ञान का मूल आधार 'सदाचार' तथा वर्तमान मेंउसकी प्रासंगिकता

डॉ0 लता गर्ग
अध्यक्ष एवं रीडर
मुन्नालाल एंड जयनारायण खेमका
गर्ल्स कॉलेज, सहारनपुर

'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय द्वारा शब्द निष्पन्न होता है। सद् धातु विशरण, गति और अवसाद अर्थों में पठित है।[1] इसमें 'विशरण' का अर्थ है काटना, गति का अर्थ है गमन अथवा ज्ञान तथा अवसादन का अर्थ है विनाश, अर्थात् जिसके निकट पहुँचकर जीव ब्रह्म का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं, जो अनर्थों को काटती है तथा अविद्या का विनाश करती है, वह ब्रह्मविद्या उपनिषद् कहलाती है। उपनिषद् शब्द का वाच्यार्थ है -ब्रह्मविद्या तथा लक्ष्यार्थ है उपनिषद् ग्रन्थ।[2]

उपनिषदों का प्रादुर्भाव वेदों के सर्वोच्च ज्ञान भाग से हुआ। जिन्हें वेदान्त, ब्रह्मविद्या या आम्नाय मस्तक भी कहा जाता है। तत्व ज्ञान, तदुपयोगी कर्म और उपासनाओं का विशद वर्णन इनमें किया गया है। भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा का प्रारम्भिक रूप इन उपनिषदों में दिखाई देता है, जिनका अध्ययन आध्यात्मिक उन्नति तथा मानवता के चरम उत्कर्ष के लिए अतीव आवश्यक है।

उपनिषदों का उद्देश्य अध्यात्म तथा भौतिकता का ज्ञान कराते हुए शान्ति और सुख की प्राप्ति कराना रहा है। ज्ञान अर्थात् सर्वोच्च सुख को विभिन्न नाम दिये गये हैं-मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य तथा मुक्ति/जीवन में प्रत्यक्ष सुख और शान्ति के लिए औपनिषदिक पारलौकिक ज्ञान का अत्यधिक महत्व है क्योंकि पारलौकिक ज्ञान ही जीवन का चरम लक्ष्य है। सभी दर्शनों और धर्मों का विस्तार इसी एक उद्देश्य के लिये समर्पित है, परन्तु इसके साथ-साथ सदाचार का भी उतना ही महत्व है। या कहें कि सदाचार को अपनाये बिना पारलौकिक ज्ञान प्राप्त हो ही नहीं सकता।

उपनिषद् शिक्षा देते हैं कि विषमताओं के बीच रहते हुए सख प्राप्ति की भौतिक सुखों की अपेक्षा पारलौकिक सुख को प्राप्त करने की। क्योंकि भौतिक सुख भी तभी सुख और शान्ति प्रदान कर सकता है, जब इसके साथ आध्यामिकता का सम्मिश्रण हो। नचिकेता का आख्यान इसका उदाहरण है - जिसको यमराज द्वारा भौतिक सुखों का प्रलोभन दिया जाता है, परन्तु अपने विवेक और निष्ठा के कारण इनको ठुकराता हुआ वह अग्नि और मृत्यु का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है और उसमें सफल भी होता है।[3] भौतिक उन्नति तो केवल असंतोष, अतृप्ति, अकर्मण्यता और लोभ प्रदान करते हुए व्यक्ति को किंकर्त्तव्यविमूढ कर देती है। व्यक्ति निरन्तर निराशा और अवसाद की

प्राप्त करने लगता है। अतः आवश्यकता है अपने आपको जानने की तथा संसार की सारहीनता को समझने की, तभी व्यक्ति का दुख दूर हो सकता है- तरति शोकमात्मवित्।

परन्तु आज के वैज्ञानिक और भौतिकवादी परिवेश में पला हुआ मनुष्य भारतीय दर्शनशास्त्र से लौकिक जीवन एवं लोकव्याप्त समस्याओं का निराकरण होते नहीं देख रहा है। वह यह तो स्वीकार करता है कि उपनिषदों में दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान की बातें है, परन्तु यह स्वीकार नहीं करता कि दर्शनशास्त्र के मूल में व्यावहारिकता तथा सदाचार भी विद्यमान है, जिसकी आज पर्याप्त प्रासंगिकता है।

किसी भी समाज के श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार के व्यवहार को अच्छा मानते हैं वही व्यवहार उस समाज का सदाचार कहलाता है। प्रत्येक समाज में सदाचार के कुछ आदर्श तथा मर्यादाऐं होती हैं। हिन्दू संस्कृति ऐसी संस्कृति है जो बिना धर्म और दर्शन के कुछ नहीं है। यहाँ प्रत्येक आचार धर्म पर आधारित है और दार्शनिक तथ्य रखता है, अतः हमारे समाज का सदाचार ऐसा नहीं जो केवल कल्पना कर लिया गया हो, उसकी आधारभूमि दार्शनिक तथा दृढ़ हैं।

औषनिषदिक आख्यान जीवनोपयोगी सदाचार के प्रेरक हैं। उपनिषदों ने सत्कर्मों की सूची देने का प्रयत्न तो नहीं किया फिर भी उनमें कुछ बातों पर बार-बार बल दिया गया है; जिनको हम सदाचार का मूल या प्रधान अंग कह सकते हैं। जब तक साधक का आचरण सत्य, अहिंसा अस्तेय, ब्रह्मचर्य, निष्ठा आदि भावों से युक्त नहीं होता उसकी साधना आगे चल ही नहीं सकती। इसलिये उपनिषदों में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सदाचार पर बहुत बल दिया गया है।4

उपनिषदों में अनेकों आख्यानों और प्रसंगों में सत्य की प्रशंसा की गई है। प्रश्नोपनिषद् में कल्याण की प्राप्ति के लिए कुटिलता रहित सत्य तथा छल रहित आचरण को आवश्यक बताया गया है।5 सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च तैत्तिरीय0 1/9/1, में स्वाध्याय व प्रवचन के साथ-साथ सत्य भाषण भी आवश्यक कहा गया है, सत्यं वद धर्मं चर। सत्यान्न प्रमदितव्यम् (तैत्तिरीयोप0 1/11/1 आदि पंक्तियाँ सत्य भाषण को महत्व देती हैं। रथीतर आचार्य ने भी शम, दम, अग्निहोत्र अतिथि सेवा आदि की अपेक्षा ही सत्य भाषण को अधिक महत्व दिया6 । क्योंकि प्रत्येक कर्म सत्यभाषण और सत्यभावपूर्ण किये जाने पर ही यथार्थ रूप से सम्पन्न होता है। मनसा, वाचा कर्मणा सत्य का ही व्यवहार अपेक्षित है। सत्य का सबसे बड़ा निदर्शन सत्यकाम जाबाल द्वारा आचार्य गौतम हरिद्रुमत को अपना परिचय देने में मिलता है। सत्यकाम जाबाल गुरु के आश्रम में रहकर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। अतः अपनी माता से अपना गोत्र पूछता है। माता कहती है मुझे भी गोत्र का ज्ञान नहीं। जब युवावस्था में मैं परिचारिका का कार्य करती थी तभी तुम मेरे गर्भ में स्थित हुए। मैं जबाला हूँ, अतः तुम जाकर गुए से कहना कि मैं सत्यकाम जाबाल हूँ। सत्यकाम द्वारा ऐसा ही कहने पर गुरु उसकी सत्यवादिता से प्रसन्न होकर शिष्य रूप में स्वीकार करते हैं।7

सत्य के लिए ऋत शब्द का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। यह ऋत शब्द कहीं सदाचार का वाचक है तो कहीं सत्यभाषण का। कठोपनिषद् में ऋत शब्द सत्य का वाचक है तथा अनृत शब्द मिथ्या वचन का।3 ऋग्वेद में आचार को ऋत कहा गया। ऋत का आचरण ही व्रत कहलाता है। सृष्टि के आदि में ऋत का उत्पन्न होना4 ऋत के कारण सृष्टि का उत्पन्न होना5 आदि वर्णन ऋत की महिमा को प्रकट करते हैं। इसी का अनुसरण करते हुए उपनिषद् भी ऋत अर्थात् सत्य का पालन करने का उपदेश देते हैं। सत्य भाषण में रागद्वेष से रहित होकर विषय का यथावत् वर्णन अपेक्षित है। इसमें कटुता का निषेध और मधुर वचन का भी योग होना चाहिए। यह मनुष्यों में भ्रातृभाव को उत्पन्न करता है। विष्णु स्मृति में सत्य को सूर्य का तेज, चन्द्रमा का प्रकाश, पृथ्वी की धारणा शक्ति, जल और अग्नि की स्थिति, आकाश देवता तथा यज्ञादि की स्थिति का आधार माना गया है।7

उपनिषदों में ब्रह्मचर्य पर भी बल दिया गया है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य कहीं पर तो यज्ञ (यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यवैतत्) अर्थात् जिसको यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है) से लिया गया है तो कहीं चार आश्रमों में से प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य है। जिसमें रहते हुए व्यक्ति को अनेक नियमों का पालन करना पड़ता है। ब्रह्मचर्य व्रत में रहते हुए शय्या पर शयन करना, जूते व छत्र का परित्याग करना, अंहिसा-सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य - अपरिग्रह इन पांच संख्यक यमों का पालन करना होता था।1 मनु की दृष्टि में इन्द्रिय संयम द्वारा मधु, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री तथा हिंसा आदि का परित्याग करना भी आवश्यक था। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का परित्याग आवश्यक होता था।2 ब्रह्मचर्य व्रत का प्रयोजन एवं आधार शारीरिक, मानसिक शुद्धि तथा पूर्ण आत्मसंयम था। उपनिषद् में इन्द्र का 101 वर्षो तक प्रजापति के आश्रम में रहकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए ब्रह्मज्ञान के योग्य होने का वर्णन इसी बात का प्रमाण है। याज्ञवल्क्य ब्रह्मचारी व्यक्ति को ही ज्ञान देने के इच्छुक दिखाई देते हैं, क्योंकि ऐसे शिष्य के निर्मल मन में ही मणिदर्पणवत् सम्पूर्ण ज्ञान संक्रमित हो जाता है।3

इसी प्रकार दमन, दान और दया भी शिष्टाचरण के अंग है। बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय में एक कथा वर्णित है। प्रजापति की तीन संतान - देव, मनुष्य तथा असुर उनके पास ज्ञान प्राप्ति के लिये जाते हैं। प्रजापति ने तीनों को एक ही अक्षर 'द' का उपदेश दिया। जिसका अभिप्राय देवताओं ने इन्द्रियों का दमन, मनुष्यों ने दान तथा असुरों ने दया करना अर्थ ग्रहण किया। प्रकारान्तर से इस कथा के माध्यम से ऋषियों द्वारा मनुष्य के जीवन में इनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया हैं।4 इन्द्रियों के दमन से ही मनुष्य सन्मार्ग पर चल सकता है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति बहिर्मुखी है, अतः व्यक्ति को पथभ्रष्ट करती है। संसार के विषयों की ओर गमन कराती हुई परब्रह्म के साक्षात्कार में विघ्न स्वरूप है। पर जब इन्द्रियाँ अपने विषय से पृथक् होने लगती हैं तो उनकी अन्तर्वृत्ति हो जाती है और तब काम, क्रोध आदि आत्मा के नाशक दुर्गुण स्वतः दूर

होने लगते हैं।2 मनमाना आचरण करने वाले को न फल की सिद्धि होती है न सुख मिलता है इसलिए बुद्धिमान साधक को चाहिए कि वाक् आदि समस्त इन्द्रियों को मन में निरुद्ध करे और मन को ज्ञान रूप बुद्धि में स्थिर करें।

दान अथवा त्याग वह है जो अन्य प्राणियों के कष्टों को दूर कर सके। यह दान, धन, विद्या औषधि, शारीरिक सहायता आदि किसी भी रूप में हो सकता है। रोगी को औषधि देना भी दान है, भूखे को अन्न देना भी दान है अज्ञानी को ज्ञान देना भी दान है, परन्तु यह दान श्रद्धापूर्वक और ज्ञानपूर्वक होना चाहिए तथा जिसमें मनुष्य के कल्याण का भाव निहित हो वही दान सार्थक है- श्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्/ह्रिया देयम्/भिया देयम्/संविदा देयम्।3 स्वामी विवेकानन्द ने मनुष्यों के प्रति प्रेम और सेवा भाव को दान कहा है उनका विचार है- त्याग और सेवा भारत का युग्म आदर्श है दोनों को इन धाराओं में उत्तेजित करो, शेष सब अपनी देखभाल कर लेगा।4 त्याग और सेवा के इन विचारों को जब हम आत्मसात करेंगे तो चरित्र की समृद्धि और स्थिरता प्राप्त कर सकते हैं। ईशावास्योपनिषद् का पहला मंत्र ही त्यागपूर्वक उपभोग का उपदेश देता है- तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा.............जिसका समर्थन करते हुए गीता में कहा गया है कि वे व्यक्ति पाप का उपभोग करते हैं जो स्वयं के लिए अर्जित करते हैं और स्वयं ही उपभोग करते हैं- भुञ्जन्ति ते त्वघं पापा: ये पचन्त्यात्मकारणात् - (गीता - 3/13)

दया से तात्पर्य है सम्पूर्ण जीवों को अपने समान समझते हुए उनपर दया करना। मनसा वाचा कर्मणा जीवों को तंग न करना ही दया है। जिससे प्रभावित होकर ही व्यक्ति दूसरों का हित साधन करता है। छान्दो0 में भी अपने प्रति कठोर तथा दूसरों के प्रति उदार और सहनशील रहने की बात कही गई है।

ब्रह्मज्ञान के अधिकारी का वर्णन करने के प्रसंग में दृढ़ता, गाम्भीर्य, विनम्रता, निष्ठा आदिगुणों को अपनाने पर भी बल दिया गया है। धर्म के तीन भागों का वर्णन करते हुए यज्ञ, स्वाध्याय तथा दान इन तीन कार्यों को करने का आग्रह किया गया है।1 जब अग्नि भली-भांति जल उठती है तब उसमें घी, सामग्री आदि की आहुतियाँ श्रद्धापूर्वक देना ही यज्ञ है2 इन यज्ञों में दी गई आहुतियाँ सूर्य की किरणों के साथ चलती हुई मानों यजमान को मीठी वाणी में पुण्यलोक की ओर बुलाती हैं अर्थात् व्यक्ति पवित्र होकर पुण्यलोकों को प्रापत्त करने का अधिकारी बन जाता है। मुण्डको0 में कहा गया है कि जिसका अग्निहोत्र दर्श, पौर्णमास यज्ञ, चातुर्मास्य यज्ञ, आग्रायण यज्ञ, बलिवैश्वदेव आदि कर्म से रहित होता है ऐसा अग्निहोत्र सातों पुण्य लोकों को नष्ट कर देता है।3 अर्थात् उस यज्ञ के द्वारा उसे मिलने वाले भोगों की प्राप्ति नहीं होती। यज्ञ की अग्नि-हव्य पदार्थों को सूक्ष्म कर वायुमण्डल में फैला देती है। जिनसे वायु शुद्ध होता है तथा रोग के कीटाणु नष्ट होते हैं। ऐसी वायु यदि शरीर में प्रवेश करती है तो मस्तिष्क पुष्ट होता है और मन शान्त

होता है। ये यज्ञ दर्शन इष्टि, पोर्णमास इष्टि, चातुर्मास्य इष्टि, आग्रायण इष्टि आदि किसी भी रूप में किये जा सकते हैं।

मुद्गल आचार्य की दृष्टि में स्वाध्याय का बहुत महत्व है। स्वाध्याय से तात्पर्य है स्वयं पढ़ना। दूसरों को पढ़ाना प्रवचन कहलाता है।4 शास्त्रों के अध्ययन से ही मनुष्यों को अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य तथा उसकी विधि का ज्ञान होता है। अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखते हुए सात्विक श्रम तथा अग्निहोत्र आदि श्रेष्ठ कार्य करते हुए ही लोक कल्याण की इच्छा से स्वाध्याय करने का उपदेश उपनिषदों में दिंया गया है।5

उपनिषदों में कर्म का महत्व भी प्रतिपादित किया गया है। केनोप0 में कर्म को विद्या के आधारों में परिगणित किया गया है – तस्मै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वागानि सत्यमायतनम्। अर्थात् उस रहस्यमयी ब्रह्मविद्या के तपस्या, दम, शम तथा निष्काम कर्म ये तीनों प्रतिष्ठा के आधार हैं। पर यह कर्म निष्काम भाव से होना चाहिए न कि वासनाओं की तृप्ति के लिये। गीता तो मुख्य रूप से कर्म करने पर ही बंल देती है। उसमें तो समस्त शास्त्रों का मूल ही कर्म बताया गया है- ज्ञात्वा शास्त्रविधिनोक्तं कर्म2 यही निष्काम कर्म ज्ञान में पर्यवसित होते हैं। सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। कर्म तो करना ही होगा, कर्म से भागने पर हम कर्म से बच नहीं सकते। सामना करना आवश्यक है जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन में वेदान्त पर एक भाषण में, भारत में अपने परिव्राजक काल को याद करते हुए एक बंदरों के झुंड से डर कर भागने के स्थान पर उनका सामना करने के अनुभव को वर्णित किया। स्पष्ट है कि उपनिषद् हमें पलायनवाद नहीं सिखाते, अपितु जीवन से जूझते हुए कर्म करना, जीवन की चुनौती को तत्वदर्शन की चुनौती के साथ, अध्यात्म की शक्ति के साथ मुकाबला करना सिखाते हैं। वस्तुतः कर्मशील मनोवृत्ति से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है जिसे आत्मा कहते हैं। केनोपनिषद् कहता है- **'आत्मना विन्दते वीर्यम्'**। वेदान्त दर्शन केवल गम्भीर तत्त्वमीमांसा नहीं बल्कि एक अत्यन्त व्यावहारिक विज्ञान तथा जीवन की कला भी है जिसके एक अंश का भी यदि हम पालन करें तो गीता के शब्दों में महान् भय से मुक्ति मिल सकती है- स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् (2/40)

इसी प्रकार गुरु का सम्मान व्यक्ति को सदाचारी बनाने के साथ-साथ सुख और शान्ति देने वाला कहा गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में कहा गया है- गुरुओं और ईश्वर की उपासना करनी चाहिए, इनके गुणों के श्रवण आदि से काम, क्रोध, लोभ आदि दोषों का उपशमन होने लगता है। अमंगलजनित कामादि के नष्ट होने से मन में सत्वगुण की वृद्धि होती है।3 अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव विद्या कीं तीन शक्तियाँ मल, विक्षेप और आवरण से आवृत हैं। अन्तःकरण के मलिन संस्कार जनित दोषों की निर्वत्ति निष्काम कर्म से, विक्षेप का नाश उपासना से और आवरण का नाश तत्व ज्ञान से होता है, वस्तुतः इन तीनों प्रकार के आवरणों के हटने से हमारी हृदय भूमि

में ज्ञान रूप अंकुर शीघ्र ही प्रस्फुटित होने लगता है।

उपनिषदों के आख्यानों से स्पष्ट होता है कि समाज में ज्ञानी और विद्वान् सर्वाधिक पूज्य होते हैं। सद्गुणी और सच्चरित्र व्यक्ति ही समाज में अनुकरणीय होता है, इसलिए उपनिषदों में स्थल-स्थल पर इन्हीं सद्गुणों को अपनाने पर बल दिया गया हे। यद्यपि काल के प्रभाव और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति के कारण आत्मीयता, सौहार्द, सहानुभूति, कर्मशीलता, परोपकार, आत्मसंयम, त्याग, तपस्या आदि गुण अपनी यर्थाथता खोते जा रहे हैं तथापि समाज की स्थिरता इन्हीं पर आधारित है।

उपनिषदों में ज्ञानदाता गुरु के प्रति सम्मान तथा सेवा करने का वर्णन किया गया है। गुरु वह है जो अज्ञान का नाश करता है - **'गृणाति गिरति वा अज्ञानं'** गुरु ही सत्य का बोध कराता है अथवा अर्थो का संचय कर शिष्य की बुद्धि में डालता है।1 माता-पिता तो मनुश्य को केवल जन्म देने के अधिकारी है, परन्तु गुरु तो मनुष्य को संस्कारित कर उसे नवीन जीवन देता है। इसलिए गुरु का स्थान माता-पिता से कहीं बढ़कर है। मनुस्मृति में यथाविधि निषेकादि कर्म करने वाले विप्र को गुरु कहा गया है।2 उपनिषदों में ज्ञान प्राप्ति तथा तत्व अतत्त्व विचार हेतु ज्ञानेच्छु व्यक्ति गुरु के समीप जाते हुए वर्णित किये गये है। प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा, सत्यकाम, सौर्यायाणि आदि ऋषि महर्षि पिप्पलाद के पास जाते हैं।3 इसी प्रकार शौनक महष्रि अंगिरस के पास जाते हैं।4

ज्ञान प्राप्ति के लिये गुरु के प्रति श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं अपितु जिज्ञासा का होना भी आवश्यक है। इसके लिए अहकार का नाश होना भी आवश्यक है। अर्जुन भी तभी ज्ञान को प्राप्त करता है जब वह अहं को मिटाकर श्रीकृष्ण की शरण में पहुँच जाते है-शाधिमां त्वां प्रपन्नम्। ज्ञान प्राप्ति के लिए इन्द्र प्रजापति के पास जिज्ञासु भाव से ही जाते हैं और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए 101 वर्ष तक रहते हैं। औपनिषदिक ज्ञान की पात्रता प्राप्त करने के लिये जिज्ञासु के भी कुछ गुणों का कथन मुण्डकोपनिषद् में किया गया है - **'तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय।'** वेदान्तसार में भी शिष्य को शान्तचित्त और शम सम्पन्न होने का वर्णन किया गया है।2 जिसका समर्थन डा0 एस0एन0 दासगुप्त ने भी किया है।3

गुरु के साथ-साथ माता-पिता को भी देवता के उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर समाज में एक व्यवस्था और शिष्टाचार का संदेश दिया गया हैं - मातृदेवो भव, पितृदेवोभव आदि वाक्य आज भी उतने ही महत्व रखते हैं, जितना प्राचीन काल में।

अतिथि सेवा भारतीय संस्कृति में अतिथि को देवता के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है **'अतिथि देवो भव'** का उद्घोष ऋषि मुनियों द्वारा किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् - में कहा गया है कि घर पर आये हुए किसी भी अतिथि को प्रतिकूल उत्तर न दें। अतिथि की देवताबुद्धि से सेवा करनी चहिए क्योंकि अतिथि सेवा गृहस्थोचित सदाचार का एक अत्यावश्यक अंग है।

उपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो व्यक्ति उत्तम भाव से अतिथि की सेवा अन्नादि देकर करता है उसे उत्तम भाव से ही अन्न प्राप्त होता है अर्थात् उस गृहस्थ को भोज्य पदार्थों की प्राप्ति सरलता से होती रहती है। अतिथि सेवा के प्रभाव से उसे किसी बात की कठिनाई नहीं रहती।4

उपनिषदों के ये उपदेश किसी एक वर्ण, जाति अथवा आयुवर्ग के व्यक्तियों के लिए निर्दिष्ट नहीं। उपनिषदों के सदाचार सम्बन्धी उपदेशों को वर्ण अथवा आयु की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। उपनिषदों में ज्ञान प्राप्ति के लिये ब्राह्मण लोग क्षत्रियों के पास जाते हुए वर्णित किये गये हैं। उदाहरणार्थ श्वेतकेतु के पिता गौतम ब्राह्मण थे पर क्षत्रिय राजा प्रवहण के पास जाते हैं राजा जनश्रुति - गाडी हाँकने वाले रैक्व के पास जाते हैं। आरुणि उद्दालक राजा अश्वपति के पास ज्ञान प्राप्ति के लिए परमज्ञानी ब्राह्मणों को भेजते हैं। अत: स्पष्ट है कि ये सदाचार के उपदेश सर्वग्राह्य है।

उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान प्राप्ति के लिये अधिकारी की विशेषताओं का वर्णन करते हुए उपर्युक्त विशिष्ट नियम बताये गये हैं। वस्तुत: ये नियम व्यक्ति को सदाचारी बनाने के साथ-साथ उसे सुख और शान्ति भी देने वाले कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त स्वधर्म, सत्यभाषण, बड़े-बड़े कष्ट में भी विचलित न होना, इन्द्रियों और मन को वश में रखना, अग्निहोत्र करना, सबके साथ सुन्दर मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना सबसे श्रेष्ठ तप है। तैत्तिरीयोपनिषद् में बार-बार इन्हीं सदाचार के नियमों का पालन करने का उपदेश दिया गया है। श्रीमद्‌भागवत में बतलाया गया है कि वेदान्त के श्रवण मनन से, भगवान् के गुणों का बार-बार श्रवण करने से, भगवद् ध्यानादि करने से काम, क्रोध, लोभादि दोषों का उपशमन होने लगता है। इस प्रकार अमंगल जनक कामादि के नष्ट होने पर मन में सत्वगुण की वृद्धि होती है और चित्त प्रसन्नता को प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि सुन्दर विचार मन में आते ही स्वार्थ, दुराचार आदि आसुरी भाव उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सुवर्ण का मैल अग्नि के सम्पर्क से जलकर भस्म हो जाता है। इस प्रकार प्रसन्न मन - एक स्वस्थ परिवार, स्वस्थ समाज अथवा स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण करने में तो समर्थ होता ही है, ऐसा व्यक्ति ब्रह्मज्ञान का अधिकारी भी बन जाता है।

आज का मनुष्य कृत्रिमता, आत्मश्लाघा, असत्यभाषण और बाह्याडम्बर में जीता है। जो वह है नहीं उसका प्रदर्शन करता हुआ जीता है, परन्तु ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति तनावग्रस्त रहता है। जिससे अनेक रोग उसे घेर लेते हैं। यदि मनुष्य सब कृत्रिमताओं से दूर रहकर सरल जीवन यापन करते हुए अच्छा आचरण करें तभी उसे सुख और शान्ति मिल सकती है। स्पष्ट है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिये सदाचार ही प्रथम सोपान है।

कठोपनिषद् के वाक्य से इस तथ्य की पुष्टि होती है -

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित:

नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। 1/2/24

अर्थात् जो व्यक्ति बुरे आचरण का त्याग नहीं करता, जिसका मन सांसारिक भोगों में भटकता रहता है, जिसका मन अशान्त है तथा जिसकी बुद्धि और इन्द्रियाँ वश में की हुई नहीं है ऐसा व्यक्ति परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

संदर्भ संकेत

1. माधवीया धातुवृत्ति - (षदृलृ विशरणगत्यवसादनेषु) पृ0 217
2. कठोप0 - विद्यायां मुख्यया वृत्तया उपनिषच्छन्दो वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्येति। (शांकर भाष्य)
3. कठो0 का आख्यान।
4 यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि/तैत्ति0उप0, 1/11/2
5 न येषु जिह्यमनृतं न माया चेति। प्रश्नो 1/16 6 सत्यमिति सत्यवचां रथीतर:। तै0 उप0 1/9/1
7. छान्दो 4/4/1-5 8. कठो. 1/3/1 9. ऋ0 4/5/5 10. वही. 10/190/1
11. वही 3/55/5 12. विष्णु स्मृति - वर्णाश्रम श्रुति धर्म वर्णन 13 मुण्डको. 3/2/10
14. प्रश्नो. 1/2 15. बृहदा. 3/1/2 16. बृहदा. - 5/2/1-3
17. कठो0 2/1/1 18. वहीं 1/3/13 19. तै0 1/11/2 गद्यांश
20. विवेकानन्द साहित्य भाग - 4 पृ0 265
21 त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति.........। छान्दो0 2/23/1
22 यदा ले लीलते ह्यर्चि समिदे हत्यवाहने - मु0 1/2/2 23 मु0 1/2/3-6
24 क) ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च तैत्ति. उप. 1/9/1
ख) स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। वही 1/11/1 25 वहीं
27. केनो0 4/8 28. गीता - 16/23-24 29. भागवतपुराण 1/2/17-20
30 निरुक्त 31. मनु0 2/142 32 प्रश्नो - 1/1
33 मुण्ड0 1/1/3 34 मुण्ड0 1/2/13, 3/2/10 35 वेदान्तसार पृ0 2
36 पृ0 38 डा0 एस0एन0 दासगुप्त 37. तैत्ति0 3/10/1

वसिष्ठ संहिता में प्रतिपादित "अष्टांगयोग" के अन्तर्गत यम और नियम

डॉ0 लेखराज शर्मा

स.ध. आदर्श संस्कृत महाविद्यालय,

डीहगी (हि.प्र.)

योगशास्त्र की सैद्धान्तिक प्रतिष्ठा अष्टांग योग की आधारभित्ति पर बद्धमूल होती है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि योग के बहुमुखी विवेचन को शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त करने में सुदीर्घकाल की प्रतीक्षा करनी पड़ी और यह तब ही सम्भव हो सका जब इसके आठ अंगों का तार्किक मनोवैज्ञानिक और शरीर शास्त्रीय स्वरूप प्रतिष्ठित हो गया। पातंजल योगसूत्र इस सुदीर्घ चिन्तन यात्रा का ऐतिहासिक प्रमाण है। यह सर्वविदित है कि योगी को अपनी लक्ष्य सिद्धि के लिए त्रिपुटी का साधक होना आवश्यक माना गया है।

क) वह शरीर से स्वस्थ है। (ख) इनकी चित्तवृत्तियाँ निर्विकारोन्मुख हो और (ग) उसकी चेतना नैतिक आचार से सम्भृत हो। इन्हीं तीन प्रतिज्ञाओं के आधार पर अष्टांग योग का प्रवर्तन होता है हम यहाँ इसी विभाजन क्रम से योगागों का प्रतिपादन करने में सुविधा समझते हैं।

प्रथम सोपान -

यौगिक साधना के साधक के लिए प्रथम प्रतिज्ञा है- उसको नैतिक चरित्र का समाहार करना इसी को योग में यम और नियम नाम से अभिहित किया गया है, प्रत्येक योगशास्त्र के पुरस्कर्ता की भांति वसिष्ठ संहिताकार ने भी यम-नियमों के प्रतिपादन पर विशेष बल दिया है।

यम -

वसिष्ठ संहिता में यमादि 10 यमों का गम्भीर निरूपण प्राप्त होता है, इनका यथाक्रम यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा -

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य धृति क्षमा।

दयार्जवं मिताहार: शौचं चैव यमा दश[1]

अर्थात्

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, धृति:, क्षमा, दया, आर्जव, मिताहार और शौच ये दस ही यम हैं।

पतंजलि के विपरीत वसिष्ठ ने दस यम कहे हैं उन्होंने पतंजलि के यम की सूची से अपरिग्रह को हटाकर 6 और जोड़ दिए है। इस प्रकार दस यम हो गए, विस्तार से वर्णन इस प्रकार है

अहिंसा -

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।

अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसा इति योगिभि:।।[2]

अर्थात्-

कर्म, मन और वाणी से सर्वदा जीव मात्र को पीड़ा न देना ही योगियों ने अहिंसा कही है और शास्त्रोक्तकर्म यदि प्राणियों को पीड़ा देने वाला न हो तो वह अहिंसा और यदि पीड़ा दायक कर्म शास्त्रोक्त भी हो तो वह हिंसा है।

यथा -

विध्युक्त चेदहिंसा स्यात् क्लेशनं नैव जन्तुषु

विधिनोक्तेऽपि हिंसा स्यादभिचारादि कर्मयत्।।[3]

पतंजलि के अनुसार यम पांच हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यथा - अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा:।।[4]

वसिष्ठ इसमें से अपरिग्रह को हटाकर, और बढ़ा देते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार दस प्रकार के यम होते हैं, वे 6 हैं - धृति, क्षमा, दया, आर्जव, मिताहार और शौच।

पतंजलि के यमों में एक सामान्य तत्व निहित हैं। जिसके अनुसार यमोंके परिपालन में किसी बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु ऐसा कोई सिद्धान्त वसिष्ठ के मत में दृष्टिगोचर नहीं होता, तथापि इनके बताए हुए यम के प्रकार में कुछ वैशिष्ट्य हैं, जो सत्तत् स्थान में उपयुक्त मालूम पड़ता है, पतंजलि अहिसा की व्याख्या नहीं बताते, किन्तु व्यास भाष्य में उसकी व्याख्या **"भूतमात्रप्रति अनभिद्रोह"** के नाम से किया गया है-यथा

सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह:[5]

वसिष्ठ व्यास भाष्य के भूत मात्र के प्रति मनसा वाचा कर्मणा अनभिद्रोह को मानते हैं उनके अनुसार वेदोक्त कर्म अहिंसा कही जा सकती है, यदि उससे जीव मात्र को पीड़ा न पहुँची हो तो

2 सत्य -

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं यथान्यायाभिभाषणम्।

प्रियं च सत्यमित्युक्तं सत्ययेतद् ब्रवीमि ते।।[7]

अर्थात्-

वसिष्ठ के अनुसार भूत मात्र के प्रति कल्याण की भावना रखते हुए यथार्थ और प्रिय बोलने को

सत्य कहा जाता है। व्यास भाष्य इनमें से थोड़े ही प्रकार को मानता है, यद्यपि मनु यथार्थ ओर प्रिय भाषण को सत्य कहते हैं तथापि दूसरे के हित के बोलना, ऐसा उनका कहना नहीं है - यथा

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।[8]

वसिष्ठ के मत में जो दूसरे को हानि नहीं पहुँचाता वही यथार्थ सत्य होता है।

3 अस्तेय -

कर्मणा मनसा वाचा सर्वद्रव्येषु निःस्पृहा।

अस्तेयामिति तत् प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।।[9]

अर्थात् -

किसी के सत्व के प्रति निःस्पृह रहना अस्तेय का वास्तविक अर्थ है, परन्तु वसिष्ठ निःस्पृहता के लिए विचार, वाणी और क्रिया का भी प्रयोग न करने को अस्तेय की परिभाषा बताते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वसिष्ठ ने स्पृहा शब्द का प्रयोग कर उसका इच्छा से अतिरिक्त भाव बताया है इच्छा और स्पृहा का भेद मेधातिथि के अनुसार ऐसा है- भिन्ना चेच्छा स्पृहातः, रागानुबन्धिनी देन्यनिमित्ता स्पृहा। इच्छातु भोजनादौ भुक्तपीताहार परिणाम समन्नतरं स्वयमुपजायते शरीरस्थिति हेतुष्वभिषङ्गोनिषिध्यते न पुनरिच्छा।।[10] स्पृहा इच्छा से भिन्न है, स्पृहा वासना से उत्पन्न होती है, जबकि इच्छा स्वाभाविक रूप से भुक्त अन्न एवं जल के पचन के बाद उत्पन्न होती है, अन्न एवं जल की इच्छा मोक्ष के मार्ग में बाधक नहीं, क्योंकि यह मात्र भूख एवं प्यास के शमन के लिए होता है। स्पृहा एवं लालच का इसमें निषेध किया गया है, क्योंकि यह अध्यात्म मार्ग में बाधक है।

4 ब्रह्मचर्य -

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।

सर्वत्र मैथुन त्यागं ब्रह्मचर्य प्रचक्षते।।[11]

अर्थात्-

सर्वदा सर्वत्र जीव मात्र में क्रिया, मन और वाणी से मैथुन का त्याग ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिश्च विधानतः।

ब्रह्मचर्यं च तत् प्रोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्।।[12]

अर्थात् -

गृहस्थाश्रमवासियों के लिए शास्त्रानुसार ऋतुकाल के बाद स्वपत्नियों से समागम करना यह भी

ब्रह्मचर्य ही कहा गया है।

शुश्रूषा च गुरोर्नित्यं ब्रह्मचर्यमितीरितम्।।[13]

अर्थात्-

गुरु सेवा में सदा संलग्न रहना भी ब्रह्मचर्य ही कहा जाता है।

सभी योग ग्रन्थों में ब्रह्मचर्य की व्याख्या समान ही है, ब्रह्मचर्य अर्थात् कामवृत्ति का निरोध परन्तु वसिष्ठ ब्रह्मचर्य के तीन प्रकार मानते हैं।

यथा -

वसिष्ठ संहिता अध्याय प्रथम श्लोक 43, 44, 45 यहाँ प्रथम श्लोक में बताया गया ब्रह्मचर्य यतियों के लिए हैं, द्वितीय श्लोक में कहा गया ब्रह्मचर्य गृहस्थों के लिए हैं, तथा अन्तिम श्लोक में कहा गया ब्रह्मचर्य छात्रावस्था के लिए है, योगग्रन्थ ब्रह्मचर्य के इन प्रकारों को जीवन के अलग-अलग अवस्था के अनुरूप नहीं मानते हैं। वैसा मानना स्मृति के अनुसार हो सकता है, जैसा कि वसिष्ठ ने यहाँ उद्धृत किया है।

5 धृतिः -

अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगे वाऽपि संपदाम्।

तेषां प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः।।[14]

अर्थात् -

अर्थ हानि स्वजन वियोग तथा वैभव नष्ट होने पर और इन सब की प्राप्ति होने पर भी, सभी स्थितियों में चित्त का स्थिर रहना ही धृति है।

6 क्षमा -

प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम्।

क्षमासाविति गदिता विद्वद्भिर्वेदवादिभिः।।[15]

अर्थात् - प्रिय अप्रिय सभी जीवों में समता का भाव रखना क्षमा है। ऐसा वेदवादी विद्वानों ने कहा है।

7 दया -

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टारि वा सदा।

आस्ते यत्र कृपाबुद्धिर्दया सा परिकीर्तिता।।[16]

अर्थात्-

दूसरों के प्रति, स्वजन मित्रों के प्रति अथवा शत्रुओं के प्रति सदैव करुणाबुद्धि रखना ही दया कहा गया है।

8 आर्जव -

विहितेषु तदन्येषु मनोवाक्कायकर्मणाम्।

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्जवम्।।[17]

अर्थात - शास्त्र विहित में प्रवृत्ति तथा उससे अतिरिक्त निवृत्ति इनमें मन, वाणी और क्रिया की एकरूपता रहे तो उसे ही आर्जव कहते हैं।

9 मिताहार -

अष्टौग्रासामुनेरुक्ताः षोडशारण्यवासिनाम्।

द्वात्रिंशच्च गृहस्थस्य यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्।।

उक्तमेतन्मिताहारमन्येषामल्पभोजनम्।।[18]

अर्थात् -

सन्यासियों के लिए आठ ग्रास, (कौर) वानप्रस्थों के लिए सोलह ग्रास, गृहस्थों के लिए बत्तीस ग्रास तथा ब्रह्मचारियों के लिए यथेष्ट (आवश्यकतानुसार) इससे अतिरिक्त लोगों के लिए पूर्ण आहार से कम, इसे मिताहार कहते हैं।

(विशेष) - योग के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए मिताहार एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं आवश्यक साधन माना गया है। यद्यपि पतंजलि के योग सूत्र में इसका कोई उद्धरण नहीं मिलता किन्तु बाद के हठयोगाचार्यों ने इस पर अधिक जोर दिया है तथा अपने-अपने दृष्टिकोण से इसकी व्याख्या भी प्रस्तुत की है। स्वामी चरणदास जो हठयोग के प्रमुख आचार्य रहे हैं - वे मिताहार के अर्थ का सार बहुत ही संक्षेप और सही ढंग से प्रस्तुत **'क्षुधा मिटै नहीं आलस आवै'** प्रत्येक व्यक्ति को उतनी ही मात्रा में भोजन करना चाहिए जिससे उसकी भूख तो मिट ही जाए, साथ ही आलस्य की प्रतीति न हो।

10 शौच -

शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्माभ्यन्तरम् तथा।

मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाहयं मनः शुद्धिं तथान्तरम्।

मनः शुद्धिश्च विज्ञेया धर्मेणाध्यात्माविद्यया।।[19]

अर्थात् -

शौच दो प्रकार के कहे गए हैं- बहिरंग तथा अन्तरंग। मिट्टी और जल से बहिरंग तथा मन की शुद्धि धर्माचरण तथा अध्यात्म विद्या के द्वारा होती है।

योगसूत्रकार पतंजलि ने यमों को पांच माना है वे हैं -

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।।[20]

यदि इनके विस्तृत भावों को जाने तो हम देखेंगे कि सांसारिक व्यवहार में मानव के लिए अपेक्षित सभी नैतिक मूल्यों का इनमें समावेश कर दिया गया है। अतएव अन्य ग्रन्थों में यमों की जहाँ दस भी मानी गई हैं, उससे इनमें विरोध नहीं मानना चाहिए।[21]

अन्य योग सम्बन्धित ग्रन्थों में जैसे 'हठयोगप्रदीपिका'[22] 'याज्ञवलक्यस्मृति'[23] त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् दर्शनोपनिषद् वराहोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद और श्रीमद्देवीभागवत[24] आदि भी वसिष्ठसंहिता का ही अनुसरण करते हैं अथवा जिन-जिन यमों का वसिष्ठसंहिता में वर्णन है उपरोक्त ग्रन्थों में भी उन्हीं यमों का वर्णन है। इस प्रकार वसिष्ठसंहिताकार योगांगों के प्रारम्भिक सोपान के रूप में साधना की भूमिका प्रशस्त करने के लिए योगी के नैतिक चरित्र की शुद्धता पर पूर्ण बल देते हैं।

<u>नियम</u> -

वसिष्ठसंहिता के अनुसार नियम दस हैं यथा -

तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीशवरपूजनम।

सिद्धान्तश्रवणं चैव हीर्मतिश्च सर्वान् पृथक् श्रृणु।।[25]

अर्थात् - तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तश्रवण, संकोच, मति, जप और व्रत ये दस नियम कहे गए हैं।

क्रमशः विवेचन -

1 तप -

विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छचान्द्रायणादिना।

शरीर शोधनं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम्।।[26]

अर्थात् -

कठोर चान्द्रायणादि व्रतों के द्वारा शास्त्रोक्तमार्ग से शरीर की शुद्धि को ही तपों में उत्तम तप कहा गया है।

विशेष -

कृच्छ-कठोर, चान्द्रायण चन्द्रमा की कला के अनुसार कियां जाने वाला व्रत, इस विशेष व्रत को काफी कठिन माना जाता है क्योंकि जो व्यक्ति इस तरह का व्रत लेता है, वह चन्द्रमा की कला के आधार पर भोजन ग्रहण करता है, अर्थात् प्रतिपदा में एक ग्रास और उसके आधार पर फिर-फिर बढते-बढते पूर्णिमा तक पन्द्रह ग्रास और फिर कृष्ण पक्ष में क्रमशः घटते-घटते अमावस्या के दिन एक भी ग्रास नहीं लेना इसे ही कृच्छ चान्द्रायण व्रत कहा जाता है।

2 संतोष -

यदृच्छालाभसन्तुष्टं मनः पुंसां भवेदिति।
या धीरतामृषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम्।[27]

अर्थात् - स्वतः प्राप्त स्थिति में जिस मनुष्य का मन संतुष्ट रहे, ऐसी बुद्धि को ही ऋषिगण सुखकारक संतोष कहते हैं।

3 आस्तिकता -

धर्माधर्मेषु विश्वासो यस्तदास्तिक्यमुच्यते।[28]

अर्थात् - धर्म (कर्तव्य) और अधर्म (अकर्तव्य) में विश्वास रखना ही आस्तिकता है।

4 दान -

न्यायार्जितं धनं धान्यमन्यद्वा यत् प्रदीयते।
आर्तेभ्यः श्रद्धया युक्तो दानमेतत् प्रकीर्तितम्।।[29]

अर्थात् - न्याय से अर्जित धन धान्य या और ही कुछ श्रद्धापूर्वक आतुरों को जो दिया जाता है- उसे ही दान कहा गया है।

5 ईश्वरपूजन -

यत्प्रसन्नस्वभावेन विष्णोरभ्यर्चनं तथा।
यथावदर्चनं भक्त्या एतदीश्वर पूजनम्।।[30]

अर्थात् - प्रसन्नचित्त से भक्तिपूर्वक ईश्वर की आराधना करना ही ईश्वर पूजन है।

अन्यच्च-

रागादपेत हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितं कायमेतदीश्वरपूजनम्।।[31]

अर्थात् - अन्तःकरण का रागादिरहित होना, वाणी का असत्यादि भाषण से दूषित न होना तथा शरीर का हिंसादि से रहित होना यह ईश्वर पूजन है।

6 सिद्धान्त श्रवण -

सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तभावनं तु वै।[32]

अर्थात् -

वेदान्त चिन्तन को ही सिद्धान्त श्रवण कहा गया है।

अन्यच्च -

स्वकीयशाखाध्ययनमितिहासपुराणयो:।

अधीतस्य तथान्यस्य सिद्धान्तश्रवणं भवेत्।।[33]

अर्थात् - अपने-अपने (वैदिक) शाखा का अध्ययन, इतिहास पुराणों का अध्ययन तथा औरों का भी अध्ययन करना सिद्धान्त श्रवण कहा जाता है।

7 संकोच -

वेद लौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत्।

तस्मिन् भवति या लज्जा ह्री: सेवेति प्रकीर्तिता।[34]

अर्थात् - वेदाचार और लोकाचार में जो कर्म निन्दित हैं, उसमें लज्जा होने को ही संकोच कहा गया है।

8 मति -

विहितेषु च सर्वेषु श्रद्धया या मतिर्भवेत्।

गुरुणा चोपदिष्टेन यद्बाह्यं तद्विवर्जयेत्।[35]

अर्थात्-

शास्त्रविहित सभी कर्मों में निष्ठा और गुरु के आदेश के अतिरिक्त का त्याग करना ही मति है।

9 जप -

विधिनोक्तेन मार्गेण मन्त्राभ्यासोजप:स्मृत:।

जपश्च द्विविध: प्रोक्त उपांशुश्चैव मानस:।।[36]

अर्थात् - शास्त्रोक्त विधि से मंत्र का अभ्यास करना जप कहा गया है, जप दो प्रकार के कहे गए हैं- उपांशु और मानस।

अन्यच्च -

उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुणमुच्यते।

सहस्रगुणमुत्कृष्टं तस्मादपि च मानसः।।[37]

अर्थात् - जोर-जोर से जप करने से हजार गुना अच्छा उपांशु जप (मन्द जप) कहा गया है और उससे भी हजार गुना अच्छा मानस जप कहा गया है।

10 व्रत -

प्रसन्नगुरुणा पूर्वमुपदिष्टेऽभ्यनुज्ञया

धर्मार्थकामसिद्धयर्थमुपायग्रहणं व्रतम्।।[38]

अर्थात् - गुरु से प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त उपदेश और आज्ञा के अनुसार धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए अनुष्ठान का आचरण व्रत है।

संदर्भ संकेत

1.	व0सं0 1/38	2.	व0सं0 1/39	3.	वही0 1-40	4.	यो0सू0 - 2.30
5.	व्या0भा0 2.30	6.	वं0सं0 1.39, 40	7.	व0स0 - 1.41	8.	मनु 4.138
9.	व0स0 1.42	10.	मेधातिथि 6.80	11.	व0सं0 1.43	12.	वही 1.44
13.	वही 1.45	14.	वही - 1.46	15.	वही 1.47	16.	वही 1.48
17.	वही 1.49	18.	व0सं0 1, 50	19.	वही 1-51	20.	योगसूत्र 2.30
21.	याज्ञः स्मृतिः 2,1,9	22.	हठ प्र0 1,1	23.	याज्ञ0 स्मृ0 1, 50-51		
24.	श्रीमद्देवीभागवत 7,35,6	25	व0सं0 1,53	26.	व0स0 1,54		
27.	व0स0 1,55	28.	वही 1, 56	29.	वही 1, 57	30.	वही 1,58
31.	वही 1,59	32.	वही 1,60	33.	वही 1,61	34.	वही 1,62
35.	वही 1,63	36.	वही 1,64	37.	वही 1,65	38.	वही 1,66

नारी शिक्षा के क्षेत्र में एक पौराणिक बाधा

अनुवाद डॉ0 कुशलदेव शास्त्री
'विदिशा', 32, तुलसी बागवाले
कालोनी, पुणे पिन 421038 महाराष्ट्र
मराठी मूल लेखिका-
डॉ0 अरूणा रामचन्द्र ढेरे

सन् 1912 साल की घटना है। पुणे की वेदशास्त्रोत्तेजक सभा की ओर से ली जाने वाली आयुर्वेद की परीक्षा में प्रविष्ट होने के लिए नासिक की एक युवती कन्या ने प्रार्थना पत्र भरा और सभा ने उसके प्रार्थना पत्र को अस्वीकार कर **'परीक्षार्थी प्रत्याशी'** के रूप में उसे अयोग्य घोषित कर दिया।

कन्या की शैक्षिक योग्यता अथवा तैयारी का न होना या आवश्यक श्रेणी की पूर्व उपाधि का न होना, यह उसकी अयोग्यता का कारण नहीं था। प्रार्थना पत्र में उसके द्वारा अंकित की गई जानकारी असत्य या गलत होने का भी कोई कारण नहीं था, प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करने वाली कन्या की आयु बीस वर्ष होते हुए भी वह कुमारी थी। यह अतिशय गंभीर कारण बतलाकर उसे आयुर्वेद की परीक्षा में बिठलाने से इंकार कर दिया गया था।

वेद शास्त्रोत्तेजक सभा का शत सांवत्सरिक इतिहास (सन् 1875-1975) मेरे सामने है। लेखक चिं.म. काशीकर ने इस संबंध में सन् 1912 की सभा के इतिवृत्त का विवरण ही उद्धृत किया है। कु0 दुर्गा खर्डीकर, नासिक की विद्यार्थिनी, आयुर्वेद प्रथम वर्ष की परीक्षा में सम्मलित होने हेतु आयी थी। आयु बीस वर्ष। वर्णाश्रम धर्म के अनुसार विधिवत् संस्कार न होने के कारण इसे ब्राह्मणत्व हासिल नहीं हुआ है। अतः इसे मूल नियमों के अनुसारपरीक्षा हेतु प्रवष्टि नहीं किया जा सका।

सत्र की परीक्षा में बैठने को अधिकार किसे है? एतद्विषयक मूल नियम देखेने पर यह पता चलता है कि परीक्षार्थी प्रत्याशी की आयु पैंतीस वर्ष से कम होनी चाहिए और वह पंचद्रविड़ या पंच गौड़ ब्राह्मणों में से होना चाहिए। दुर्गा खार्डीकर बीस वर्ष की थी और जन्मना ब्राह्मण थी, पर उसे परीक्षार्थी की दृष्टि से अयोग्य सिद्ध करने वालों का दावा था कि स्त्रियों का उपनयन करने की परम्परा न होने के कारण और दुर्गा के विवाह न करने के कारण उसे ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं हुआ है। ऋतु प्राप्त होने से पहले की कुमारिका उनकी दृष्टि से आक्षेप योग्य नहीं थी, पर ऋतु प्राप्ति के बाद उसको विवाह संस्कार न करवाना या उसका वैसा संस्कार न होना, उनके दावे के अनुसार औचित्य हीन अनुचित या पाप ही था। अतः उनकी दृष्टि में दुर्गा ब्राह्मण नहीं थी।

परीक्षार्थी प्रत्याशी ब्राह्मण ही होना चाहिए। यह नियम अपवाद रूप में गीता पठन की परीक्षा में शिथिल किया गया था। शक 1875 (सन् 1954) में उस परीक्षा में एक ब्राह्मणेतर छात्र के शामिल होने का उल्लेख है। शक 1886 (सन् 1964) के बाद संस्कृत वक्तृत्त्व, प्रवेश परीक्षा और गीता पठन के लिए कुमारिका के प्रविष्ट होने का उल्लेख है।

इससे यह सिद्ध होता है कि 1950 तक अर्थात् बीसवीं सदीं के मध्य तक वेद शास्त्रोक्त सभा की परीक्षा में बैठने का स्त्री-शूद्रों को अधिकार नहीं था। सात सौ दस वर्ष पूर्व भैंस के मुँह से वेद मंत्रोच्चारण करवाने की चमत्कारिक कथा, परिवर्तन की जिस क्रान्तिकारी (महाराष्ट्रीय) विचार भूमि में जन्मीं, उस भूमि में मानवता का और सर्व सामानत्त्व का स्रोत, रूढ़ि परम्परा के कर्मकाण्ड प्रधान, दुराग्रही, निष्प्राणवत् अभेद्य अंश तक सात सौ दस वर्षों के बाद भी नहीं पहुँच पाया था, इसकी गवाही देने वाली घटना के रूप में तो इस घटना की ओर देखा जा सकेगा ही, पर उससे जुड़े सूत्र मुझे समय और समाज के अतिविस्तृत फलक से संलग्न दिखाई देते हैं।

वे सूत्र पम्परा और अभिनवता के दीर्घ, कठोर संघर्ष में बुने गए हैं। सुधारवाद के इतिहास से उलझे हुए हैं। उस काल की सीमा में तो वे हैं ही, पर सीमोल्लंघन करने वाले मनुष्यों के पुरुषार्थ और प्रयत्नों से भी वे सूत्र संलग्न हैं। महिलाओं की ओर देखने की धार्मिक धारणा तक वे पहुँचे हुए हैं और उस धारणा की अमानवीयता तक भी वे पहुँचे हुए हैं। सुधारकों के विशिष्ट और मर्यादित अपयश से निकलकर वे सूत्र सीधे उनके व्यापक यश तक भी पहुँच गए हैं।

अत: इस छोटी सी घटना का अनुसंधान अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। केवल व्यक्ति विरुद्ध संस्था, के रूप में वस्तुत: इस नकारात्मक घटना का आन्तरिक स्वरूप नहीं है। केवल उतने ही सीमित अर्थ में इसे देखा जाय तो कुमारी दुर्गा खर्डीकर ने, उसके पिता ने और उनके गुरु जी ने संस्था की नकारातमक भूमिका समझने के बाद भी पुनश्च संस्था के सामने, अपना विनति-पत्र प्रस्तुत करके देखा। नासिक से पुणे आकर संस्था के सचिव महोदय का मन परिवर्तित करने का प्रयत्न किया और तत्पश्चात पुणे के सुप्रसिद्ध एक दो प्रगतिशील विद्वानों की सहायता से नकारात्मक भूमिका पीछे लेने की दृष्टि से प्रयत्न करके देखा, पर जब ये सब अनुरोधों से परिपूर्ण गतिविधियाँ निरर्थक सिद्ध हुई, तब अन्य कोई क्रान्तिकारी कदम न उठाते हुए संस्था चालकों की नकारात्मक भूमिका को अनमने भाव से ही क्यों स्वीकार करके, दुर्गा खर्डीकर ने अपने स्वतंत्र मार्ग का अन्वेषण किया। अत: व्यक्ति विरुद्ध संस्था इतने सीमित अर्थ में इस घटना पर विचार किया जाय तो यह कहना होगा कि विजय संस्था की ही हुई।

उपरोक्त घटना के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम सामने आए। इस समय इस तथ्य के प्रच्छन्न दर्शन घटित हुए कि-वेद शास्त्रोत्तेजक सभा की स्थापना की पृष्ठ भूमि में निहित उदारमतवाद, सभा को संभालने वाले शास्त्री पंडित ही किस प्रकार नष्ट कर रहे थे और पौराणिक

सनातनी धर्मधुरीण धर्म का अर्थ किस प्रकार हृदय शून्य दृष्टि से लगा रहे थे। और दसूरी बात यह है कि इस समय इस तथ्य की स्पष्ट अनुभूति हुई कि अटल पराजय को स्वीकारने के सिवाय अन्य कोई उपाय शेष नहीं रह जाता था।

सन् 1875 में पुणे में स्थापित हुई इस संस्था का नाम है वेद शास्त्रोत्तेजक सभा/अंग्रेजी ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्ध आने के बाद उस ओर स्फूर्ति से, अंधेपन और शरणागत भाव से आकृष्ट होने वाले समाज का, प्राचीन भारतीय विद्या की ओर तथा उस विद्या का संचय जिसमें है, उस समृद्ध संस्कृत भाषा की उपेक्षा होते देख, उन दोनों की सुरक्षा और समृद्धि के लिए यह संस्था स्थापित हुई थी।

वेदोक्त धर्म, जो प्राय: सभी ब्राह्मणों को सम्यक् रीति से समझ में नहीं आता है, अत: वेदोक्त धर्म में क्या है, इस संदर्भ में साधारण ब्राह्मण लोगों के मन में संदेह संभ्रम उत्पन्न हो गया है, उसे दूर करने के लिए यह संस्था सक्रिय हो, यह उसकी स्थापना की पृष्ठ भूमि में ब्रह्मवृन्दों का उद्देश्य था, इस सभा की स्थापना के निमन्त्रण पत्र पर न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे जी का नाम न भी हो, तो भी रानाड़े इस सभा में उपस्थित थे और सभा के प्रमुख संस्थापक भी थे।

वेदशास्त्रोत्तेजक सभा की स्थापना में रानाडे जी जैसे सुधारक के अग्रणी होने के कारण इतिहास संशोधक न रह रघुनाथ फाटक जी (1893-1979) जैसे उनके चरित्रकार को आश्चर्य प्रतीत हुआ है। उन्होंने अपने रानाडे चरित्र में लिखा है, इस (1875) वर्ष अभी-अभी अभिनव रूप में स्थापित हुई संस्था माधवराव (महादेव राव) जी के उद्देश्य की नयी दिशा स्पष्ट करने वाली है। सहसा इस बात पर बिल्कुल भी विश्वास नहीं होता कि पुणे में अभी भी अपनी सजीवता के साथ विराजमान वेदशास्त्रोत्तेजक सभा माधवराव जी के नेतृत्व में अस्तित्व में आयी होगी। यह बात एकदम किसी को भी मान्य नहीं होगी कि जो प्रार्थना समाज के एक महान् अग्रणी हैं, वे वेदशास्त्र के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिए अग्रसर होंगे। परन्तु यह चमत्कार माधवराव जी ने कर दिखाया। वेदों के अर्थ पूरी तरह समझ कर किये जाये, केवल अर्थशून्य मंत्र पाठ को अधिक महत्व न दिया जाय। सार्थक वेदपाठ करने वाले ब्राह्मणों ने औरों को वेदोक्त धर्म की शिक्षा देकर आज जो धार्मिक क्रिया कर्मों में गड़बड़ियाँ नजर आ रही हैं, पहले उन सबको उन्होंने दूर करना चाहिए। ये सब उद्देश्य सभा स्थापना की पत्रिका में अंकित हैं। ये सब कार्यक्रम और महद् उद्देश्य सभा पत्रिका में ही अंकित रह गये, परन्तु इतना जरूर रहता कि इस बहाने वेद शास्त्रों का अध्ययन करने की इच्छा रखने वालों को प्राचीन प्रणाली से शिक्षा पाने की सुविधा हो गई। पेशवाओं का राज्य अस्त होने पर ब्रिटिश शासकों द्वारा ब्राह्मणों के संतोष के लिए संचालित वेद शास्त्र की शिक्षा संस्थायें बन्द हो जाने पर सार्वजनिक रूप से उस अवशिष्ट कार्य को पूर्ण करने वाली एक नई संस्था का उदय हुआ, यही इस अभिनव संस्था की विशेषता मानी जायेगी।

श्री न0र0 फाटक ज़ी ने इस प्रकार से वेदशास्त्रोत्तेजक सभा की सार्वजनिक उपयोगिता प्रतिपादित की है, और इस संदर्भ में रानाडे जी द्वारा किये गए सभा स्थापना विषयक नेतृत्व को चमत्कार के रूप में संबोधित किया है।

वस्तुतः देखा जाय तो रानाड़े जी का उदार, व्यापक हितैषी मन, परम्परा के सात्विक अंश को स्वीकार करके, प्रगतिशील की ओर कदम बढ़ाने की उनकी जीवन दृष्टि, और धर्म के सच्चे स्वरूप को जानकर, पोषक और न्याय युक्त धर्म तत्वों का, व्यक्ति के आन्तरिक उन्नति के लिए सार्वजनिक आदर्श चरित्र के संवर्धन के लिए और अंततोगत्त्वा राष्ट्र निर्माण के लिए उपयोग करने के उनके स्वभाव और झुकाव को देखते हुए वेदशास्त्रोत्तेजक सभा की स्थापना में उनके द्वारा किये गये नेतृत्व को चमत्कार या आश्चर्य कहने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

रानाडे जी को इस बात का पूरा विश्वास था कि प्रार्थना समाज के प्रगतिशील विचारों को हिन्दू धर्म में स्थान है। हिन्दू धर्म में विचार वृद्धि को स्थान है, अपनी इस धारणा को स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने अपने धर्म विषयक व्याख्यानों में कहा था, हमारे सब नए प्रतीत होने वाले विचारों को हमारे धर्म में स्थान है और दूसरी संतोष की बात यह है कि जातिभेद मानने, मूर्ति पूजा करने तथा स्पृश्यास्पृश्यता के बाजार लगाने जैसी कोई भी बात सच्चे, हिन्दुत्व के लिए आवश्यक नहीं है।'

इस प्रकार के धर्म विंषयक अतिशय स्पष्ट और प्रगतिशील विचार को स्वीकार करके, धर्म को न नकारते हुए उसे सतत उदारमनस्क बनाने की दिशा में खटपट छटपटाहट करने वाले रानाडे वेदशास्त्रोत्तेजक सभा की और प्राचीन भारतीय ज्ञान के एक उपासना केन्द्र के रूप में देखते थे। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि विदेशी सत्ता और ज्ञान विज्ञान के आक्रमण के कठिन काल में वेद विद्या की रक्षा करने तदन्तर्गत विकृति और संभ्रम को दूर करने और भारतीयों के सांस्कृतिक उत्तराधिकार को संवर्धित करने हेतु स्थापित की जाने वाली संस्था रानाडे जी को आवश्यक प्रतीत होती थी।

परन्तु यह चिन्ता की बात है कि रानाडे जी के विचार विश्व में जो संस्था ज्ञानोपासना के केन्द्र के साथ-साथ प्राचीन वेदविद्या के संरक्षण और संवर्धन का ध्येय लेकर चली थी, वह दुर्दैव से प्रत्यक्ष रूप में उस उद्देश्य को पूरा न कर सकी। क्योंकि इस प्राचीन विद्या की जागीर जिनके पास थी वे सब अधिकांश रूप में रूढ़िपरम्परा के कठोर सनातनी पौराणिक प्रवाह के शास्त्री पंडित थे और उनका ज्ञान तथा जातीय अहंकार एक रूप एक जीव हो चुका था। ऐसे व्यक्तियों की ओर प्रारम्भिक काल से संस्था का प्रतिपालकत्व होने के कारण, ज्ञान और संकीर्ण रूढ़िवादी ब्राह्मणत्व की मिलीभगत को खंडित करने का प्रश्न भी अनेक वर्षों तक संस्था के कार्य कलापों में उत्पन्न ही नहीं हुआ।

वह प्रश्न उपस्थित हुआ कु0 दुर्गा खर्डीकर के परीक्षार्थी प्रत्याशी के रूप में प्रार्थना पत्र प्रस्तुत करने के कारण। यह घटना संस्था स्थापित होने के सैंतीस वर्ष बाद की है।

दुर्गा मूलतः अत्यन्त बुद्धिमती, विचारशील और संवेदनशील कन्या थी। सन् 1892 में उसका जन्म हुआ। उसके पिता जी नासिक के सुप्रसिद्ध वैद्य गणेश शास्त्री तरटे जी के भांजे थे। वे पहले पुलिस विभाग में नौकर थे। बाद में उस नौकरी को छोड़कर वे मराठी के अध्यापक बन गए। घर में आश्चर्य जनक व घनघोर दरिद्रता थी। दुर्गा उनकी ज्येष्ठ कन्या और अनंत उनका छोटा सुपुत्र था। अनंत उत्तम संस्कृतज्ञ था। सातारा जनपद स्थित विद्वानों की नगरी वाई की प्राज्ञ पाठशाला में भी वह रहा। वहाँ के द्रविड विद्यालय में वह अध्यापक भी था। आगे चलकर वह गंगा नदी के तट पर स्थित गुरूकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में गया और कम्युनिस्ट विचारों की ओर झुक गया। कुछ समय तक वह शांतिनिकेतन में भी रहा था। तत्कालीन महाराष्ट्र के महत्वपूर्ण कम्युनिस्ट नेताओं मे से वह एक था। सन् 1940 में कपड़ा मिलों में काम करने वाले मजदूरों द्वारा हड़ताल करने के बाद श्रमिक आन्दोलन पर प्रभाव रखने वाले जिन अनेक कम्युनिस्ट नेताओं को भारत संरक्षण कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार किया गया, उनमें उसका भी समावेश था। वह पार्टी के काम से जर्मनी और तत्पश्चात् सोवियत देश भी गया। अस्सी वर्ष की अवस्था तक वह जीवित रहा। भारतीय कम्युनिस्ट पक्ष की पतझड़ को उसने अपनी आँखों से देखा और उसे सहन न कर पाने के कारण अपनी अधिकांश सम्पत्ति को पार्टी के नाम करके उसने आत्महत्या कर ली।

यह अनंत अपनी बहिन से अत्यधिक प्रेम करता था। दीदी दुर्गा ने भी अपने इस छोटे भाई को बड़े प्रेम से संभाला था, पढ़ाया था। माता जी का निधन छुटपन में ही हो गया था। उसने घर में माँ का स्थान ले लिया था। भाई का विवाह किया। पिता जी और बूढ़ी बुआ की सेवा के लिए वह अविवाहित रहीं। अनंत विद्याध्ययन की दृष्टि से घर से बाहर निकला तो फिर वह घर संभालने के लिए वापिस नहीं लौटा। दुर्गा न घर से संबंधित सुपुत्र के सभी कर्त्तव्यों को अपने ही कर्त्तव्य मानकर पूरा किया।

अतः उसके द्वारा अविवाहित रहने का लिया निर्णय स्वयं स्वेच्छापूर्वक लिया गया निर्णय था। उस निर्णय का उसके चरित्र या विद्याभ्यास से किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु विद्याध्ययन से उसका सहज स्वाभाविक प्रेम था। पिता श्री भास्करराव जी ने उसे और अनंत को थोड़ा घर में पढ़ाया था और तत्पश्चात् मराठी पाठशाला में भी दाखिल किया था।

नासिक यह एक पौराणिक सनातनी गांव है। महाराष्ट्र के प्रमुख धर्मपीठों में से एक। इस बात का विशेष रूप से उल्लेख करना होगा कि भास्करराव खर्डीकर जी जेसे सामान्य व्यक्ति ने अपने पुत्र के साथ अपनी पुत्री को भी विद्याध्ययन कराने का साहस नासिक जैसे रूढ़िवादी गांव में दिखलाया और बहुत हद तक उस क्षेत्र में यश भी पाया। उन्हें प्राप्त एक आर्य समाजी विद्वान्

का सत्संग सहवास इस यश का मूल कारण था। कपूरथला राज्य के नासिक स्थित भवन में एक आर्य समाजी विद्वान् रहते थे वे संस्कृतज्ञ होने के साथ आयुर्वेद शास्त्र के ाी विशिष्ट ज्ञाता और अधिकारी थे। उनकी बैठक में भास्करराव नियमित रूप से उपस्थित होते थे। इन्हीं पंजाबी पंडित जी के पास दुर्गा और अनंत का संस्कृत अध्ययन सम्पन्न हुआ, तथा इसी स्थान पर दुर्गा का उसके भावी पति से शंकरराव दसनूरकर से परिचय हुआ। शंकरराव जी तब विवाहित थे, पर वे अपने परिवार से दूर नासिक के पुलिस विभाग में नौकरी कर रहे थे और वेद, वेदांगों का आकर्षण होने के कारण प्रतिदिन नियमित रूप से पंडित जी के पास आते थे।

दुर्गा ने पंडित जी से संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। उसके पिता और पंडित जी दोनों भी आयुर्वेद के जानकार थे। उसने आयुर्वेद का अध्ययन प्रारम्भ किया, उसी समय वह इन दोनों के अतिरिक्त कृष्णशास्त्री देवधर की भी शिष्या बनी। भास्करराव के मामा गणेश शास्त्री तरटे जी के कृष्ण शास्त्री पट्ट शिष्य थे। उस समय चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में गणेश शास्त्री जी का नाम बहुत ही विख्यात था। उन्होंने परंपरागत धर्म ग्रन्थों का व्यापक अध्ययन किया था। चिकित्सा शास्त्रीय अष्टांग संग्रह का संपादन सर्वप्रथम उन्होंने ही किया था। प्रगतिशील विचारों के विद्वानों से तथा अनेक सुधारक नेताओं से उनका स्नेहिल संबंध था। नासिक में सेशन जज के पद पर कार्य करते समय न्यायमूर्ति रानाडे जी के मित्र सुधारकाग्रणी विष्णु मोरेश्वरमिडे तरटे शास्त्री जी के सखा स्नेही बन गए थे। उस समय नासिक में फर्स्ट क्लास जज के रूप में कार्यरत लोकहितवादी गोपाल राव हरिदेशमुख जी की और गणेश शास्त्री जी का भी बहुत स्नेह था। कुछ समय मुम्बई में गणपत कृष्णा जी के प्रसिद्ध मुद्रणालय में शास्त्री के रूप में वैतनिक कार्य करते समय विश्व नाथ नारायण मंडलिक जैसे प्रगतिशील विचारों के विद्वान् लोगों से तरटे जी का स्नेह सम्बन्ध स्थापित हो गया था। स्वामी दयानन्द जी के जीवन काल में ही विश्व की सर्वप्रथम मुम्बई आर्य समाज में भी उन्होंने एकाधिक बार व्याख्यान दिए थे।

गणेश शास्त्री जी का अध्ययन पुणे में हुआ था। भिषग्वर्य बापू साहब मेंहंदले जी के गुरु भाई बंडूबाबा रानाडे जी के श्री चरणों में बैठकर उन्होंने संस्कृत विद्या पढ़ी और (भारत की सर्वप्रथम महिला) डॉक्टर आंनदीबाई जोशी जी के माता जी के मामा वैद्य बाल शास्त्री माटे के पास उन्होंने आयुर्वेद का अध्ययन किया। इन दोनों गुरु जनों से प्राप्त अध्ययन को उन्होंने स्वपुरुषार्थ से समृद्ध किया और उसे अपने शिष्यों के दिलों दिमाग तक संक्रांत किया, पहुँचाया। कृष्णशास्त्री देवधर उनके पट्ट शिष्य थे। उन्होनें शास्त्री महाराज के आयुर्वेद शास्त्र का ही केवल उत्तराधिकार नहीं संभाला, अपितु उनके कर्त्तव्यों और विचारों के उत्तराधिकार का भी निर्वहन किया।

वेद शास्त्रोत्तेजक सभा की आयुर्वेद की दो परीक्षाएं एक ही समय में गणेश शास्त्री जी

ने अपने शिष्योंत्तम की ओर से दिलवाई, वह हकीकत बड़ी मनोरंजक है। दुर्गाबाई जी के विषय से भी उसका थोड़ा दूर का संबंध है, तो भी सार्वजनिक सार्वकालिक प्रवृत्ति के दर्शन भी उसके माध्यम से स्पष्ट होते हैं। तभी एक और संदर्भ की दृष्टि से भी यह घटना महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। इस हकीकत से ये बात भी स्पष्ट होती है कि दुर्गा दीदी से परीक्षा दिलवाने की तीव्र अभिलाषा देवधर शास्त्री के मन में क्यों उत्पन्न हुई होगी।

हुआ यह कि देवधर जी की उत्तम तैयारी करवा कर गणेश शास्त्री जी उन्हें परीक्षा देने के लिए पुणे लेकर आए। सभा के प्रख्यात भिषग्वर्य बापूसाहब मेंहंदले, वेदशास्त्र संपन्न वैद्य बाल शास्त्री माटे और बाग्भट के मराठी भाषांतरकार, त्रिदोषवाद के प्रवत्तक और लोकमान्य तिलक जी के परम मित्र गणेश कृष्ण गर्दे जी से परीक्षण के संदर्भ में पूछताछ की। उस समय बाग्भट के अनुवाद के संदर्भ में देवधर जी से गर्दे जी की अभी अभी एक चकमक झड़प हो चुकी थी और गर्दे अत्यन्त क्रुध थे। बापू साहब मेहेंदले महापुरुष, पर उनके और गणेश शास्त्री जी के गुरु देवधर जी के परम गुरु बाल शास्त्री माटे जी से विशेष मित्रता न थी।

देवधर-चरित्र का यह विवरण और एक नितांत भिन्न संदर्भ की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। अमरीका से रुग्णावस्था में वापिस लौटने पर (भारत की पहली महिला) डॉक्टर आनंदीबाई जोशी का अंतिम पडाव पुणे में अपनी माता जी के मामा की ओर अर्थात् बाल शास्त्री माटे जी की ओर था और बाल शास्त्री जी द्वारा निर्दिष्ट औषधियों का भी कुछ काल तक वे सेवन कर रहे थे। उन पर उपचार करने की विनती बापू साहब मेंहदले जी जैसे प्रख्यात वैद्य से की गई थी, पर उन्होंने वैसे औषध देने से नकार दिया। यह हकीकत सर्वज्ञात है । पर आनंदबाई जी के चरित्र कार को इस नकार की पृष्ठभूमि में स्थित सर्वाधिक संभाष्य कारण समझ में नही आया।

देवधर चरित्र के इन दोनों वैद्यों के खींचातानी पूर्ण सम्बन्ध का उल्लेख आनंदीबाई जी के संदर्भ में और अधिक मुखर हो जाता है। आनंदीबाई बापू साहब माटे के घर में रहकर उन्हीं की औषध ले रही थी। इसमें आश्चर्य नहीं कि बापू साहब मेंहदले जी के मन में बालशास्त्री माटे जी के विषय में नाराजगी और द्वेष होने के कारण आनंदीबाई जी को रोगी के रूप में स्वीकार कर उन पर उपचार करने से उन्होंने इंकार कर दिया। देवधर जी जैसे अपने गुरुभाई के उत्तम प्रशिष्य के परीक्षार्थी के रूप में आने पर भी केवल इसलिए कि बालशास्त्री माटे के साथ काम करना पड़ेगा, उन्होंने परीक्षक का पद ही अस्वीकार कर दिया। यह सन् 1883 की घटना है। केवल तीन-चार वर्षों में एक के बाद एक आनंदीबाई जी की बीमारी और मृत्यु की घटना घटी।

तब आनंदीबाई जी का उपचार करने से नकार देने की पृष्ठभूमि में बापूसाहब जी का लहरीपना या विक्षिप्तपना कारण नहीं, अपितु अग्रिम कारण होने की अधिक संभावना प्रतीत होती है। अनुभवी वैद्यकीय ज्ञान होने के कारण आनंदीबाई की अटल मृत्यु का ज्ञान होना, जिनके विषय अभी शेष है।

क्रमशः

"सोल्लासं सुसम्पन्नमन्ताराष्ट्रिय वेद-वेदाङ्ग-विद्वत्-सम्मेलनम्"

आचार्य ओमप्रकाशः 'राही', प्राध्यापकः
राजकीयः महाविद्यालयः- पाँवटा साहिब
जिला- सिरमोर, हिमाचल प्रदेशः

प्रतिवेदनम्

महदुल्लासस्य प्रसंगोऽयं यद् हरिद्वारस्थ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालयस्य संस्कृत विभागेन फरवरी मासस्य 9 दिनांकात् 11 दिनांकं यावदन्ताराष्ट्रिय वेद-वेदाङ्ग-विद्वत्-सम्मेलनमायोजितम्। सम्मेलनेऽस्मिन् देशस्य/विदेशस्य विभिन्नेभ्यः विश्वविद्यालयेभ्यः विद्यापीठेभ्यः संस्कृतप्रतिष्ठानेभ्यः महाविद्यालयेभ्यश्च महान्तो मनीषिणः विद्वांसः अनुसन्धातारश्च पञ्चशतादप्यधिक संख्यायामुपस्थिता अभूवन्।

प्रथमेऽहनि 9 दिनांके उद्घाटन सत्रस्य शुभारम्भे महामण्डलेश्वराः जूनापीठाधीश्वराः स्वामिनो अवधेशानन्द गिरि महोदयाः मुख्यातिथि रूपेण उपस्थिता आसन् तथा च विश्वविद्यालयस्य कुलाधिपतयः पं0 सुदर्शनशर्माणः अध्यक्षपदं व्यभूषयन्। यू0 के0 तः सम्प्राप्ताः प्रो0 जतिन शाह महोदयाः, यू0 एस0 ए0 तः सभागताः प्रो0 वर्माणः, चतुर्णवतिवर्षीयाः वयोबृद्धाः विद्यावृद्धाः सामवेद भाष्यकाराः डॉ0 रामनाथ वेदालंकाराः, 'श्रीवाणी' अलकरणेनालंकृताः हरिनारायण दीक्षिताः, 'पद्म श्री' विभूषिताः वृजमोहन मुंजालाः, ब्रिग्रेडियर चितरंजन सावंताः, देवेन्द्र शर्मा, देवराज आर्य प्रभृतयः विशिष्टाः जनाः विशिष्टातिथिरूपेण मंचस्य शोभां शतगुणितामकुर्वन्।

कार्यक्रमस्य संचालकाः प्रो0 महावीर महोदयाः स्व विनम्रया मधुरया च गिरा मुख्यातिथिं दीपप्रज्वालनाय न्यवेदयन्। दीपज्योतिः समकालमेव आर्ष कन्या गुरुकुल देहरादूनस्य कन्याभिः डॉ0 अन्नपूर्णायाः निर्देशने संहिता पाठ-धन पाठ-जटापाठादि रूपेण सस्वरं वेद मन्त्रोच्चारणेन मङ्गलाचरणं कृतम्। मंचस्थानां सर्वेषामतिथीनां माल्यार्पणादिना सम्यक् स्वागतस्य पश्चात् कन्या गुरुकुलस्य कन्याभिः "स्वागतम् अभिनन्दनम् पुनः स्वागतम् अभिनन्दनम्"- इत्यादिना स्वागतगीतेन सर्वेषां स्वागतमभिनन्दनञ्च विहितम्।

एतदनन्तरं मुख्यातिथयः स्मारिका रूपेण गुरुकुल पत्रिकायाः विशेषांकस्य लोकार्पणमकुर्वन्। अवसरेऽस्मिन् डॉ0 मन्जुनारायण डॉ0 प्रो0 मूर्थि प्रभृतिभिः विद्वद्भिः लिखितानां पुस्तकानां विमोचनमपि कृतम्। गुरुकुल पत्रिकायाः अस्मिन् विशेषांके नवचत्वारिंशदुत्तर चतुः शत संख्यकानां शोधपत्रवाचकानां शोधपत्राणां सारसंक्षेपः- वेदेषु विज्ञानम्, राजधर्मः, पर्यावरणम्, काव्यसौन्दर्यम्, वैदिक शिक्षा, आयुर्वेदः, दर्शनम्, योगः, यज्ञः, संस्कृतिः, समाजः, नारी, अर्थशास्त्रम्, भूगोलः, मनोविज्ञानम्, सूत्रग्रन्थः, व्याकरणम्, ज्योतिष्, मानवमूल्यम्, विविधाः-एतेषु विंशति भागेषु संकलितः।

भव्ये समारोहेऽस्मिन् यैः स्वजीवनं संस्कृतस्य सेवायै समर्पितम् ते पञ्च विद्वांसः "विद्यारत्नाकर"

अलंकरणेनालंकृता:। तेषु प्रथमा: सन्ति पूर्वमेव वेद वेदाङ्ग-पुरस्कार-संस्कृत साहित्य पुरस्कार-राष्ट्रपति सम्मान-वेदरत्न पुरस्कार-आर्यरत्न-विद्यामार्तण्ड पुरस्कारै: सम्मानिता: डॉ0 रामनाथ वेदालंकार महोदया:। द्वितीया: सन्ति षोडश पुस्तकानां रचयितार: विविधैश्च पुरस्कारै: पुरस्कृता: प्रो0 अमरनाथ पाण्डेया:, तृतीया: चतुर्विंशति पुस्तकानां लेखका: विविधैश्च सम्भानै: सम्मानिता: डॉ0 हरिनारायण दीक्षित महोदया:, चतुर्था: विदेशेषु संस्कृतस्य प्रचारका: डॉ0 गणेशदत्त शर्माण:, पञ्चमाश्च महामहोपाध्याय उपाधिना विभूषिता: प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री महोदया: सन्ति।

तदनन्तरं लन्दनत: समागतै: प्रो0 जतिन शाह महोदयै: आंग्लभाषा माध्यमेन संस्कृतस्य महत्त्वं स्वीकृतम्। सम्मान्या: रामनाथ वेदालंकार महोदया: स्वरचितै: पद्यै: संस्कृत भाषाया: गौरवं गायन्त: सम्मेलनस्य सफलतायै स्व आशीर्वचांसि प्रायच्छन्। विश्वविद्यालयस्य उपकुलपति माहोदय: प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री महोदया: बाणनिष्ठशैल्याऽभ्यागतानां स्वागतमभिनन्दनञ्चाकुर्वन्।

स्वीये उद्बोधने मुख्यातिथि महोदया: स्वललित शैल्यां संस्कृत भाषाया: वेदानाञ्च महत्त्वं मुक्तकण्ठेन प्रशंसन्त: आशां प्राकटयन् यच्छीध्रमेव पाश्चात्यसभ्यतारागेणारक्ता: जना: भारतीय संस्कृतिं प्रत्यागमिष्यन्ति। तेऽकथयन् यत् वैज्ञानिकानां संगमे 'नासा' केन्द्रे पञ्चचत्वारिंशत् प्रतिशतं भारतीया: सन्ति 2030 पर्यन्तञ्च एते नवति: प्रतिशतं भविष्यन्ति।

मुख्यातिथि-विशिष्टातिथिमहोदयानामन्येषाञ्च विदुषां धन्यवाद-ज्ञापनपुरस्सरमुद्घाटनसत्रमिदं सुसम्पन्नम्।

भोजनानन्तरं पञ्चसु विभिन्नेषु सभागारेषु शोधपत्रवाचनप्रक्रिया समारब्धा या 11 दिनांकं यावत् समापनसमारोहपर्यन्तं प्राचलत्। प्रत्येकस्मिन् सभागारे एकस्य विदुष: अध्यक्षतायामन्यस्य च संचालने एषा प्रक्रिया सुनियोजिते कार्यक्रमे सम्पन्ना। प्रथम दिवसस्य अन्ते सम्पन्नायां काव्य-सन्ध्यायामनेके कवय: स्वकवितागीतादिभि: श्रोतणां मनांस्यनुरञ्जयन्। द्वितीय दिनस्य अन्ते च सर्वे प्रतिभागिन: 'क्रिस्टल वर्ल्ड' नाम्न: रमणीय स्थलस्य दर्शनाय भ्रमणाय च सादरं नीता:।

11 दिनांके मध्यान्हे द्वादश वादने समापनसमारोह: समारब्ध:। समापन समारोहे 'पद्मश्री' इति स्पृहणीयालंकरणेनालंकृता: सत्यव्रत शास्त्री महोदया: मुख्यातिथित्वेनोपस्थिता आसन्। तेषां गरिमामयं प्रभावपूर्णश्च उद्बोधनं श्रुत्वा सर्वे उपस्थिता: धन्या अभूवन्। कैश्चित् प्रतिभागिभि: समापनसमारोहेऽस्मिन् स्वानुभवा अपि प्रकटीकृता:। तत्र सर्वैरेव वक्तृभि: सम्मेलनस्याजोकानां डॉ0 महावीर महोदयानां विनम्रताया:, विद्वत्ताया:, सरलताया:, सफलतायाश्च मुक्तकण्ठेन प्रशंसा कृता। इत्थं त्रिदिवसीयमिदं विद्वत्सम्मेलनं सफलतापूर्वकं सोल्लासं च सुसम्पन्नं यत् प्रतिभागिभ्य: नूनमेव चिरस्मरणीयं जातम्।

गुप्त काव्य में नारी-चित्रण के विविध-आयाम

डॉ0 शारदा शर्मा
अध्यक्षा हिन्दी-विभाग
मु.ला.एवं ज.ना.वि.वि.सहारनपुर

अनेक वर्ष पूर्व प्राचीन साहित्य के अध्येता कवीन्द्र रवीन्द्र का हृदय कोमल नारी चरित्रों की उपेक्षा देखकर व्याकुल हो उठा था। तत्काल ही उनकी लेखनी ने 'काव्येतर उपेक्षिता' शीर्षक लेख लिखा। कुछ समयोपरान्त स्वर्गीय आ0 द्विवेदी ने 'रसज्ञरंजन में 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' लेख लिखकर पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था। उन्हीं दिनों कविवर मैथिलीशरण गुप्त साहित्य सेवा में संलग्न थे। भारतीय संस्कृति के उपासक गुप्त की दृष्टि इस ओर गयी और उन्होंने इतिहास की उन महान् विभूतियों को साहित्य के उच्च शिखर पर बैठाया जिसके लिए हमारा इतिहास शान्त रहा। वे चाहे उर्मिला थी, चाहे यशोधरा और चाहे विष्णु प्रिया। इन सबके मूल में भाव एक ही विद्यमान था-देश की जिन महान् नारियों के प्रति युग श्रद्धांजलि अर्पित नहीं कर पाया उनको उचित स्थान मिले। इतना ही नहीं गुप्त जी ने कैकयी, कुब्जा आदि नारी पात्रों को घृणा एवं अपमान की संकीर्ण गलियों से निकाल कर सम्मानीय स्थान पर आसीन भी किया।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक युग के कवि माने जाते हैं। गुप्त जी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के समर्थक के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। उनके काव्यों में भारतीय वैदिक विचार धारा की पुष्टि मिलती है। नारी जन्य कोमलता, ममता, श्रद्धा आदि गुणों का स्वागत करते हुए गुप्त जी ने नारी के संबंध में सही मत दिया है-

''अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी-

आँचल में है दूध और आंखों में पानी।।[1]

अगर समाज से उपेक्षित नारी की आंखों में एक ओर अश्रु हैं तो दूसरी ओर मातृत्व की महान् शक्ति से युक्त नारी सांसारिक विभीषिकाओं को सहन करते हुए भी विश्व-पोषण तत्व धात्री भी है। वैदिक युग से आज तक के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता लगता है कि नारी की स्थिति में कितने परिवर्तन आये हैं। वह अगर एक ओर युद्ध, साहित्य, कला आदि क्षेत्रों में अग्रगण्य रही तो दूसरी ओर अपमानिता एवं काम पूर्ति की साधन मात्र भी।

अर्धनारीश्वर का रूप नर और नारी की सहयोगिता का ज्ञान कराता है। स्त्री-पुरुष का संबंध शाश्वत है, वह एक-दूसरे के पूरक हैं। शक्ति, सहचरि, रमणी, माया, शिक्षिका आदि नारी के ही विविध रूप हैं। समाज एवं साहित्य ने कभी उसकी पूजा की, तो कभी भर्त्सना।

वीरगाथा काल में नारी पुरुषों का आकर्षण का केन्द्र रही। वह युद्ध का श्रंगारिक कारण

बनी। भक्तिकाल में वही प्रेरणा स्रोत माया एवं डाकिनी समझी जाने लगी। तुलसी ने तमोगुण प्रधान नारी को त्याज्य एवं निन्दनीय माना एवं सत्वगुणी नारी को वन्दनीय माना। रीतिकाल विलासिता के लिए प्रसिद्ध रहा। इस काल में नारी विलास की ही वस्तु मानी गयी। आधुनिक युग में नारी-विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। उसके उदात्त एवं प्रेरक रूप को उद्घाटित किया गया। उसे पुरुष का पूरक ही नहीं अपितु उससे भी बढ़कर माना गया। नारी को इस स्थिति तक पहुँचाने का श्रेय श्री हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा नवीन, रामेश्वर शुक्ल अंचल, प्रसाद, दिनकर आदि कवियों को ही रहा।

आधुनिक भारत की जीर्ण-शीर्ण सामाजिक अवस्था में नारियाँ उपेक्षित थीं। शिक्षा एवं नवीन विचार-धारा से वंचित नारी भोग की सामग्री मात्र समझी जाती थी। राजा राममोहन राय ने इस दिशा में अपना सक्रिय कदम उठाया। इसी दिशा में गुप्त जी ने साहित्य-सर्जना के माध्यम से सराहनीय प्रयास किया। साकेत[1], यशोधरा[2], द्वापर[3], विष्णुप्रिया[4] आदि काव्यों से गुप्त जी के इसी नारी विषयक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। गुप्त जी को जैसे 'साकेत' लिखने की प्रेरणा आ0 द्विवेदी के लेख से मिली वैसे ही 'यशोधरा' लिखने की प्रेरणा 'उर्मिला' से मिली।

गुप्त जी का यह स्पष्ट मत है कि पुरुष की मर्यादा नारी से ही जानी जाती है। नारी ही उसके आदर्शों की संवाहिका है, संरक्षिका है। उसके संघर्षों की प्रेरणा शक्ति है, उसके उद्देश्यों की सफलता है। सांस्कृतिक आदर्शों को स्वीकार करते हुए गुप्त जी ने समकालीन जीवन परिवेश की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने नारियों को पुरुष के समक्ष दयनीय एवं असह्य बनने की अपेक्षा निजत्व की रक्षा करने वाली मर्यादाशील बतलाया है-

'कर लेंगी हम किसी प्रकार इतना श्रम
जिससे हम दोनों न हो किसी पर भार।''-(विष्णुप्रिया)

गुप्त जी की नारी-भावना में उनके हृदय की विशालता एवं उदारता का परिचय मिलता है। गुप्त जी ने नारी के लिए न्यायोचित अधिकार की मांग की है। शकुन्तला[1], सैरन्ध्री[2], सीता, उर्मिला, कैकेयी, माण्डवी, विद्युता[3], राधा, कुब्जा, हिडिम्बा[4] आदि के माध्यम से कवि ने नारी के त्यागमय, प्रेरक उज्ज्वल पक्ष को ही उद्घाटित किया है।

गुप्त जी की यह नारी भावना न तो रीतिकालीन वासना से युक्त है और न भक्तिकालीन त्यागवृत्ति से पूर्ण। नारी के संबंध में उनका दृष्टिकोण वेद-पुराणों के समान उदार एवं गुणान्वेषी है। गुप्तजी के नारी-विषयक दृष्टिकोण को 'भारत भारती' की इन कुछ पंक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है-

''हैं प्रीति और पवित्रता की मूर्ति सी वे नारियाँ,

हैं गेह में वे शक्तिरूपा, देह में सुकुमारियाँ।
गृहिणी तथा मंत्री स्वपति की शिक्षिता हैं वे सती,
ऐसी नहीं हैं वे कि जैसी आजकल की श्रीमती।(भारत भारती, 59/162)
व्यवहार उनके हैं दयामय सब किसी के साथ में। (भारत भारती, 59/162)
सबको सदा सन्तुष्ट रखना धर्म अपना मानती।
संसार यात्रा में स्वपति की वे अटल अश्रान्ति हैं
हैं दु:ख में वे धीरता, सुख में सदा वे शान्ति हैं।
शुभ सान्त्वना हैं शोक में वे और ओषधि रोग में,
संयोग में सम्पत्ति हैं, बस हैं विपत्ति वियोग में।''

–(भारत भारती1, अतीत खण्ड, पृ0 59/164,165)

मानव सभ्यता एवं संस्कृति की पृष्ठभूमि में नारी का ही अस्तित्व है। मनुष्य जब भी सभ्यता की दौड़ में पिछड़ा है, अशांति का शिकार हुआ है, नारी ने उसकी रक्षा की है, उसे अंधकार से प्रकाश में लायी है। उसे अशांति से शान्ति के प्रथ का अनुयायी बनाया, उसे निरन्तर आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा दी।

नारी पुरुष की प्रेरणा शक्ति है। पुरुष को वह अपना ममत्त्व, आत्मविश्वास एवं सर्वस्व देकर उसके विकास में सहायक होती है। पुरुष केवल अपने जीवन की व्यक्तिगत बातों के संबंध में सोचता है। स्व सुख-सुविधा एवं यश: प्राप्ति में लगा रहता है और जीवन के शाश्वत मूल्यों की उपेक्षा करता है। पाश्विक वृत्ति के प्राबल्य के कारण वह पौरुष का दम्म भरता है और वात्सल्य, स्नेह, दया, त्याग की प्रतिमूर्ति नारी का दमन करता है। यह शाश्वत सत्य है कि वात्सल्य, स्नेह, त्याग, क्षमा, कोमलता, दया एवं स्वाभिमान सृष्टि के मूल तत्त्व हैं। इन्हीं तत्वों पर सृष्टि आधृत है। ये तत्व ही नारी जाति के विशिष्ट गुण हैं। इन्हीं गुणों के कारण वह अबला भी पूज्या है। उर्मिला[1], यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि नारी पात्रों में गुप्त जी ने त्याग, ममत्व, स्नेह, दया, स्वाभिमान, क्षमा आदि का ही आदर्श प्रस्तुत किया है।

गुप्त जी की नारियों की यह विशेषता है कि वे अवतरित तो होती हैं अबला के रूप में, किन्तु पुरुषों से प्रतारणा पाकर प्रबला रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। कभी निरन्तर आँसू बहाती हुई घोर कष्ट सहती हैं, तो कभी चुनौती भी देती हैं। प्रेम की कसौटी त्याग है। उर्मिला अपने पति लक्ष्मण के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर देती है। भ्रातृ स्नेह की चतुर्दिक् व्याप्ति के लिए वह तप में संलग्न है-

''आज स्वार्थ है त्याग भरा, है अनुराग विराग भरा,

भ्रातृ स्नेह सुधा बरसे, भू पर स्वर्ग भाव सरसे।''

-(साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ0 110)

इससे अधिक और त्याग क्या हो सकता है कि यौवन में ही उर्मिला ने 'यति-वेष' स्वीकार कर लिया-

''नव वय में ही विश्लेष हुआ,

यौवन में ही यति-वेष हुआ।''

(साकेत, षष्ठसर्ग पृ0 160)

गुप्त की नारियों का हृदय पक्ष प्रबल है। उनमें प्रेम, दया, करुणा, सहानुभूति आदि मार्मिक गुणों का भी संयोग है। मातृत्व के पद से रहित विष्णु प्रिया चैतन्य महाप्रभु की साधना की सफलता के लिए स्वबलि देने में ही अपने को धन्य मानती है-

स्वीकृत स्वबलि मुझे सिद्ध हो तुम्हारा याग

सर्व लोक संग्रह में क्या है एक मेरा त्याग।

(विष्णुप्रिया 1.124)

नारी और पुरुष का अन्योन्याश्रित संबंध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अबला होने पर भी नारियाँ समाज के लिए उपकारी ही हैं। 'वकसंहार'[1] में गुप्त जी ने स्वयं लिखा है-

''माना कि अबला नारियाँ, होती सहज सुकुमारियाँ,

पर वे चला सकतीं नहीं संसार क्या?

करुणा-मयी, ममता-मयी, सेवा-मयी, क्षमा-मयी,

कर नहीं सकती यहाँ उपकार क्या?''-(बकसंहार)

एक ओर तो पुरुष नारी को अबला कहता है, दूसरी ओर उसी पर बल-प्रयोग भी करता है। ऐसी स्थिति में नारी ही उसे यथार्थ का ज्ञान कराने में सहायक होती है-

''राम! राम! हा! ठहरो, ठहरो

यह तुम क्या करते हो?

अबला कहकर भी मुझको यों

बलपूर्वक धरते हो।''(द्वापर, विधृता 1.29)

नारी तन से अबला है, वह सुकुमारी है। किन्तु वह मन से सशक्त एवं सबल है-

"वह गुण किसने तोड़ा, जिसमें
यह जोड़ा जकड़ा था।
नर, झकझोर डालने को ही
क्या यह कर पकड़ा था।"-(द्वापर, विधृता 1.31)

सीता के द्वारा रावण को करारी फटकार नारी के सबल रूप की चुनौती है-

"जीत न सका एक अबला का मन तू विश्वजयी कैसा।
जिन्हें तुच्छ कहता है, उनसे भागा क्यों, तस्कर ऐसा।।"

(साकेत, एकादश सर्ग पृ0 432)

कर्त्तव्य परायणता नारी जीवन का विशिष्ट गुण है। भारतीय नारी पति एवं पारिवारिक सदस्यों की उन्नति एवं सुख-सुविधा का ध्यान रखना अपना कर्त्तव्य मानती है। गुप्त जी की नारियां चाहे कितने ही दुख में जी रही हैं किन्तु वे कर्त्तव्य पथ से कहीं भी च्युत नहीं हुई हैं। राम के साथ सीता और लक्ष्मण के वन जाने का निश्चय सुनकर उर्मिला अपना पथ स्वयं चुन लेती हैं-

"कहा उर्मिला ने हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।"

(साकेत, चतुर्थ सर्ग 1.110

वह लक्ष्मण को स्वार्थ के वशीभूत होकर बाँधकर नहीं रखना चाहती। उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान है। इसीलिए तो वह कह उठती है-

"मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी।
मैं बाँध न लूंगी तुम्हें, तजो भयभारी।"

(साकेत, अष्टम सर्ग पृ01.265

गृहस्थ धर्म का पालन करना नारी का सर्वोपरि कर्त्तव्य है। गुप्त जी की नारियाँ इस धर्म पालन में कहीं भी नहीं चूकतीं। सीता वन में भी पौधों को पानी देती हैं, अपनी खेती खुरपी लेकर स्वयं करती हैं-

'अपने पौधों में जब भाभी,
भर भर पानी देती हैं
खुरपी लेकर आप निराती
जब वे अपनी खेती हैं।-(पंचवटी' 1.97)

साकेत की कुलवधू तो रसोई बनाने में तृप्ति का अनुभव करती है-

"बनाती रसोई, सभी को खिलाती
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।"

(साकेत पृ0 271)

यशोधरा पति की अनुपस्थिति में पुत्र-पालन अपना कर्त्तव्य समझती है, तो विष्णुप्रिया सास की सेवा एवं घर की सफाई को ही अपना धर्म मानती है-

"रात रहते ही उठ झाड़ घर,
मृत्यु के रहते हुए भी स्वयं सेवा करती सास की।"

(विष्णु प्रिया, 1.68)

आदर्श समाज ने नारियों को पुरुष से हीन नहीं माना अपितु उसे उसके अनुरूप ही स्वीकार किया है। गुप्त जी ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि अर्द्धांगिनी के सहयोग के बिना पुरुष के सभी कार्य अपूर्ण हैं। एकाकी वन गमन के लिए तैयार राम से सीता कहती हैं-

"मातृ-सिद्धि, पितृ सत्य सभी मुझ अर्द्धांगी बिना अभी
हैं अर्द्धांग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही।"

(साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ0 117)

नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है। वह पति के सुख दुःख की साथिन है। एकाकी वन-गमन के लिए तत्पर राम को संबोधित करते हुए कहती है-

"समझो मुझको भिन्न नहीं,
करो ऐक्य उच्छिन्न नहीं।
सुख में आकर घेरूँ
संकट में अब मुँह फेरूँ।

(साकेत, चतुर्थ सर्ग 1.117)

इसी अर्द्धांगीत्व के बल पर सीता वन गमन की अनुमति लेने में सफल होती हैं। यशोधरा इसी अधिकार भाव से गौतम की उपलब्धि में अपना अधिकार लेने से नहीं चूकती-

'उसमें मेरा भी कुछ होगा जो तुम पाओगे।'

(यशोधरा पृ0 1.25)

विष्णुप्रिया तो मात्र अधिकारिणी ही नहीं अपितु कार्य की प्रेरक भी है। बिना विष्णु प्रिया के चैतन्य महाप्रभु तो कुछ भी करने की सामर्थ्य से वंचित हैं-

''नर क्या करेगा त्याग करती है नारी ही,
मैं कुछ करूँगा तो कराओगी तुम ही उसे।''

(विष्णु प्रिया 1.43)

हाँ एक आपत्ति है। आलोचकों का कहना है कि गुप्त जी नारी को दासी मानने के पक्षपाती रहे। किन्तु यह ध्यान रखना है कि दासत्व तो शिष्टाचार मात्र है। वह तो विनम्रता एवं प्रेमावेश के कारण ऐसा कहती है। उसे इसमें आनन्दाभूति होती है। अनध[1] की 'सुरभि' स्वयं को चरण-चेरी स्वीकार करती है-

''क्षमा हो धृष्टता मेरी
तुम्हारी हूँ चरण चेरी।'' (अनध, उद्यान का एक)
'यशोधरा' को 'चेरी' बनी रहने में ही संतोष है-
''जाओ नाथ! अमृत लाओ तुम मुझ में मेरा पानी
चेरी ही मैं बहुत, तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी।''

(यशोधरा पृ0 44)

यही विनम्रता विष्णुप्रिया में है-
देखा करती ऊपर चढ़ दूर तक दासी।'

(विष्णुप्रिया, पृ025)

यह दासत्व तो कहने मात्र के लिए हैं, व्यवहार में नहीं। इसीलिए लक्ष्मण भी स्वयं को उर्मिला का दास स्वीकार करते हैं-

''किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।'' (साकेत, प्रथम सर्ग पृ030)

जहाँ स्त्री को वास्तव में दासी स्वीकार किया जाता है, वहाँ गुप्त जी विद्रोह कर उठते हैं-

''मुट्ठी भर भी जो न दे सके, दासी थी, मैं आहा।''

(द्वापर, विधृता पृ0 31)

समाज के क्षेत्र में नर और नारी समानता के अधिकारी हैं। जब नारी को अधिकार से वंचित करके नर अधिकार का दुरुपयोग करता है तो नारी-हृदय चीत्कार कर उठता है-

''अधिकारों के दुरुपयोग का कौन कहाँ अधिकारी,

कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धांगिनी तुम्हारी।''

(द्वापर, विधृता 1.33)

पति एवं पत्नी एक दूसरे के सहयोगी हैं, पूरक हैं। उनमें अधिकारी एवं अधिकृत संबंध मानना उचित नहीं। किन्तु जहाँ नारी को स्वेच्छा से मुट्ठी भर अन्न-दान का भी अधिकार नहीं, वहाँ उसकी स्थिति दासी के समान ही मानी जायेगी। विधृता के इसी आक्रोश को कवि ने यहाँ दिखलाया है, स्वयं कवि को भी नारी का यह तिरस्कार मान्य नहीं। गुप्त जी ने 'नारी' को 'नर' से बड़ा ही माना है-

''कामुक चाटुकारिता ही थी क्या वह गिरा तुम्हारी,
एक नहीं दो-दो मात्राएँ नर से भारी नारी।''

(द्वापर, विधृता 1.31)

द्वापर में नारियों की दासता की श्रृंखलाओं को तोड़ने की व्याकुलता है। नारी पुरुष से हीन नहीं, अपितु बढ़कर है।

दु:खानुभूति मानसिक अधिक, शारीरिक कम होती है। मनुष्य जब कार्यरत रहकर व्यस्त रहता है उसका दु:ख-दर्द कम हो जाता है। उसका ध्यान दु:ख-दर्द से हटकर कार्य में लग जाता है। गुप्त जी इस मनोविज्ञान के पारखी रहे। एक ओर यह कार्य-जन्य व्यस्तता दु:ख भुलाने का कार्य करती है तो दूसरी ओर नारी-लज्जा की रक्षक भी है-

''चार भले मानुसों में रहना है हमको,
रोक निज दु:ख हम माने सुख सबका। (विष्णुप्रिया, पृ086)
किन्तु यों ही बैठक्कर कैसे हम खायेंगी
कात सूत निज लाज रक्खेंगी।''

(विष्णुप्रिया, पृ065)

गुप्त जी ने उपेक्षित नारियों को अपने काव्य में ऊँचा उठाया है। उन्हें अमर किया है और यह सब किया है मानवीय धरातल पर। कैकेयी, मंथरा, कुब्जा, हिडिम्बा[1] आदि ऐसे ही पात्र हैं। कैकेयी सबकी सब कुछ सुनती है किन्तु मानवीय धरातल पर वह अपना मातृपद बनाए रखना चाहती है-

''बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा
दृढ़ हृदय न देखा मृदुल गात्र ही देखा।''

(साकेत, अष्टम सर्ग पृ0 24.9)

इसी मानवीय कसौटी के कारण तो वह सबकी घृणा की पात्र न होकर, सहानुभूति की पात्र बनती है। कैकयी तो यहाँ एकदम बदली हुई है। 'मानस' की लांछित कैकेयी को भव्य माता के रूप में लाकर कवि ने जगत् को चकित कर दिया है। माँ का पद पाने वाली पुत्र वत्सला माँ कैकेयी यहाँ धन्य है-

''सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिन जननी ने है जना भरत-सा भाई।''

(साकेत, अष्टम सर्ग पृ0 250)

माँ का पद दोहरा है- वह जननी है और शिक्षिका भी। जननी यशोधरा को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान दु:ख में भी बना हुआ है। वह सब आपत्तियों को सुमाता के समान स्वयं ही सहना चाहती है। बेटे राहुल को उनसे दूर रखना चाहती है-

''बेटा मैं तो हूँ रोने को,
तेरे सारे मल धोने को,
हँस तू, है सब कुछ होने को।''

(यशोधरा पृ058)

त्याग, दया, क्षमा की प्रतिमूर्ति नारी में स्वाभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी है। यशोधरा को अपनी भक्ति का स्वाभिमान है। उसमें पूर्ण समर्पण भाव है। इसीलिए तो वह प्रभु गौतम के दर्शन के लिए जाने से मना करने में हिचकती नहीं है-

''भक्त नहीं जाते कहीं, आते हैं भगवान्,
यशोधरा के अर्थ है अब भी यह अभिमान।
उन्हें समर्पित कर दिये, यदि मैंने सब काम,
तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम।।'

(यशोधरा पृ046)

गौतम के द्वारा 'यशोधरा' के मान की रक्षा कराकर गुप्त जी ने भारतीय नारी के गौरव को बढ़ाया है-

''दीन न हो गोपे, सुनो हीन नहीं नारी कभी
भूत दया मूर्ति वह मन से शरीर से.........।''

(यशोधरा पृ0211)

इसी स्वाभिमान का रूप विष्णु प्रिया में मिलता है-

''नाथ, साधु हो तुम तो मैं भी हूँ साध्वी कुल बाला
तप्त करेगी तुम्हें एक दिन इस अन्तर की ज्वाला।''

(विष्णुप्रिया,पृ081)

नारी पुरुष की प्रेरणा स्रोत है। उसे उन्नति की दिशा में ले जाने वाली है। इसने कभी माँ के रूप में, कभी पत्नी के रूप में, कभी बहिन के रूप में पुरुष को प्रेरित किया है, उसकी रक्षा की है-

क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब
मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से।''

(यशोधरा पृ0211)

प्रीति एवं पवित्रता की प्रतिमूर्ति नारी दया एवं श्रद्धा की पात्र है। ऐसी ही पूर्ण समर्पण नारी को पुरुष जब चोरी से छोडकर चला जाता है तब नारी हृदय वेदना-ग्रस्त हो जाता है-

''सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात
पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते।

(यशोधरा पृ021)

मनुस्मृति में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' कहकर नारि जाति का सम्मान किया गया है। भारतीय संस्कृति के पोषक गुप्त जी के नारी पात्र भारतीय परिवार के अभिन्न अंग है। जो विषम से विषम परिस्थिति में भी अपनी मर्यादा एवं कर्त्तव्य पालन वृत्ति से नहीं चूकते। पाँच पतियों वाली पाञ्चाली कीचक से लाञ्छित होकर कह उठती है-

जिसके पति हों पाँच पाँच ऐसे बलशाली,
सहूँ लाञ्छना प्रिया उन्हीं की मैं पाञ्चाली''

(सैरन्ध्री)[1]

यह कुलवधू अपमानित होने पर भी अपने विवेक एवं गौरव को नहीं छोड़ती। इसीलिए तो सैरन्ध्री कहती है-

"तुम में यदि सामर्थ्य नहीं है अब शासन का
तो क्यों करते नहीं त्याग तुम राजासन का?
करने में यदि दमन दुर्जनों का डरते हो,
तो छूकर क्यों राज-दण्ड दूषित करते हो?"

(सैरन्ध्री)

विरह काल में उर्मिला अगर रसोई बनाती है, जल लेकर पौधों का सिंचन करती है, तो यशोधरा पुत्र-पालन में कोई कमी नहीं छोड़ती। और पुत्र रहिता विष्णुप्रिया तो अपनी सास के बालों में तेल लगाकर घर की झाड़ लगाकर ही अपनी कर्त्तव्य परायणता का परिचय दे देती है। इसीलिए तो उसकी सास उस पर प्रसन्न होकर कह उठती है-

"घर-घर तुझसी बहू हो नर लोक में"

(विष्णुप्रिया 1.131)

नारी को गृहलक्ष्मी कहा गया है। वह घर की स्वामिनी है। यह पद उसे कठोर साधना के उपरान्त प्राप्त हुआ है। वह आन्तरिक गृहव्यवस्था की संचालिका है। 'जयभारत' में स्वावलम्बन पर बल देते हुए नारी के इसी रूप को महत्व दिया गया है-

"बाहर चूर-चूर होकर, नर बहुधा घर आता है।
नारी का मुख वहाँ निरख, वह फिर नवता पाता है।
अपना जितना काम आप ही जो कोई कर लेगा
पाकर उतनी मुक्ति आप वह औरों को भी देगा।"

(जयभारत)

नारी एवं पुरुष की शारीकिर संरचना भिन्न है। उनका कर्त्तव्य क्षेत्र भिन्न है। फिर भी वे एक दूसरे के पूरक हैं। अपने-अपने क्षेत्र के अधिकारी हैं। एक दूसरे के क्षेत्र में इनका प्रवेश किसी पतन का कारण बन सकता है। महात्मा गाँधी ने कहा था- मेरे मत में स्त्री को घर छोड़कर घर की रक्षा के निमित्त कन्धे पर बन्दूक धरने के लिए आह्वान करने उसके लिए प्रोत्साहित करने में स्त्री और पुरुष दोनों का ही पतन है। 'गुप्त जी भी महात्मा जी के विचारों के ही समर्थक रहे। उर्मिला जब रण के लिए प्रस्तुत होती है तब सम्पूर्ण अयोध्यावासियों के स्वर में गुप्त जी कह उठते हैं-

"क्या हम सब मर गये हाय। जो तुम जाती हो,
या हमको तुम आज दीन-दुर्बल पाती हो।"

(साकेत, द्वादश सर्ग 1.476)

नारी का कर्त्तव्य क्षेत्र सेवा है युद्ध नहीं। इसीलिए गुप्त जी ने उर्मिला से घायलों की सेवा करवाना उचित समझा है।

उर्मिला के रूप में नारी जहाँ सर्व सुख त्याग करती हुई पति मार्ग में बाधक नहीं बनती वहाँ सीता के रूप में पति के सुख की कामना करती है। माण्डवी के रूप में प्रेरणा स्रोत है, कैकयी के रूप में पुत्र-वत्सता है और इसी वात्सल्य के कारण पुत्र पर किये सन्देह का प्रतिशोध लेने के लिए कटिबद्ध है और कहीं कौशल्या के रूप में पुत्र के दोष के लिए क्षमा की भीख माँगने के लिए भी तैयार है।

गुप्त जी ने नारी के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करके उसके उदात्त एवं आदर्श रूप को ही स्वीकार किया है। नारी क्षमा की देवी है। एक स्वर से सांसारिक भोगियों ने एवं आध्यात्मिक योगियों ने अपने अपराधों को स्वीकार करते हुए उससे क्षमा याचना करके ही महान् पद की प्राप्ति की है-

''पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर
शकुन्तला ने कहा क्षमा का रूप धर
उठो नाथ, वह कुछ न तुम्हारा दोष था,
मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था।''(शकुन्तला)1
''गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया-पद-तल में''
(साकेत, अष्टम सर्ग पृ0 265)
''क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान।'' (यशोधरा पृ0207)

कवि शिरोमणि मैथिलीशरण गुप्त उपेक्षित नारियों के उन्नायक हैं। उन्होंने पति-उपेक्षिताओं के करुण-वृत्त को अपने काव्य का विषय बनाया। साकेत की उर्मिला सुसम्पन्न राज-परिवार की विरहिनी है, यशोधरा राजघराने की परित्यक्ता नारी है। सिद्धार्थ द्वारा परित्यक्त यशोधरा का पुत्र राहुल उसका सम्बल है। विष्णुप्रिया की स्थिति इन दोनों से भिन्न है। यह साधारण परिवार की एक ऐसी नारी है जिसे न पति का सामिप्य मिला है, न किसी महत्त्व पूर्ण पद की प्राप्ति हुई है। वह एक समर्पित नारी है, सन्तोष उसका संबल है। परित्यक्त विष्णुप्रिया अविचल संतोष, अपूर्व निष्ठा एवं अटूट धैर्य की गाथा है। विष्णुप्रिया साधारण किन्तु गरिमामयी स्वाभिमानी नारी है। वह अभाव एवं उपेक्षा को ढोती है किन्तु आस्था का अंचल पकड़े रहती है, उसके संबल को नहीं छोड़ती परित्यक्ता एवं वंचिता होने पर भी पति के प्रति स्नेह का अजस्र स्रोता उसके हृदय में बहता ही रहता है। वह उसके सर्व प्रिय होने की ही कामना करती है-

"मेरे भगवान् सबके हों मैं उन्हीं की हूँ।" (विष्णुप्रिया पृ0 17)

राष्ट्रकवि श्री गुप्त जी उर्मिला, कैकेयी, यशोधरा, विष्णुप्रिया, कुब्जा आदि की नवीन सृष्टिकर नारी-स्वभाव के विशेषज्ञ बन गये। इन नारी पात्रों को गुप्त जी ने देवियों के रूप में नहीं, अपितु मानवीय परिप्रेक्ष्य में ही प्रस्तुत किया है। इनके व्यक्तित्व कहीं-कहीं असाधारण हैं पर अविश्वसनीय नहीं। इतिहास में एवं पुराण में उल्लिखित जिन नारियों को समाज ने उपेक्षित कर दिया उन्हें पुनः गुप्त जी ने मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करके उनके गौरव को बढ़ाया। यशोधरा के माध्यम से एक नयी मर्यादा उपस्थित की है तो विष्णुप्रिया में कवि ने माँ के हृदय की उस असह्य पीड़ा का वर्णन किया है जो नारी को दासी बनाने से उत्पन्न हुई है। गुप्त जी के नारी पात्र अपनी मर्यादा में, विवेकयुक्त जीवन्त प्रतिमाओं में अपनी सार्थकता की तलाश करते हैं। गुप्त जी की यही उपलब्धि है, यही सफलता है। उनके काव्यों की नारियाँ राष्ट्र का एक अंग ही हैं, इसलिए काव्य-चित्रित-नारी-सम्मान कवि की लेखनी से उद्भव एक राष्ट्र-सम्मान भी माना जा सकता है।

1- यशोधरा, ले0 श्री मैथिलीशरण गुप्त, साहि0प्रेस, चिरगांव (झाँसी), द्वितीय आवृत्ति सन् 1992, पृ059
2- साकेत ले0 श्री मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन प्रेस, चिरगांव (झाँसी), प्रथम आवृत्ति सन् 19932 ई0
3- यशोधरा, ले0 श्री मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन प्रेस, चिरगांव (झाँसी), प्रथम आवृत्ति सन् 1933ई0
4- द्वापर ले0 श्री मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन प्रेस, चिरगांव (झाँसी), प्रथम आवृत्ति सन् 1936ई0
5- विष्णुप्रिया ले0 श्री मैथिलीशरण गुप्त साहित्य सदन प्रेस, चिरगांव(झांसी), प्रथम आवृत्ति सन् 1936ई0
6- 'शकुन्तला' ले0 श्री मैथिलीशरण गुप्त साहित्य सदन प्रेस, चिरगांव(झांसी), प्रथम आवृत्ति सन् 1914 ई0
7- सैरन्ध्री, ले0 श्री मैथिलीशरण गुप्त साहित्य सदन प्रेस, चिरगांव(झांसी); प्रथम आवृत्ति सन् 1928 ई0
8- 'विधृता' विशेषण शब्द है जिसका अर्थ है 'दमिता'। गुप्त जी को उस नारी का व्यक्तिवाचक नाम श्रीमद्भागवत में नहीं मिला। इसीलिए विशेषण शब्द 'विधृता' को ही व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त कर दिया है।

9- 'हिडिम्बा', ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1957ई0

10- भारती भारती, ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1992ई0

11- उर्मिला के जिस महान् त्याग और तपश्चर्या की ओर न वाल्मीकि का ध्यान गया न भवभूति की और न तुलसी का उस त्याग और तपश्चर्या के साथ उर्मिला को सर्वप्रथम खड़ीबोली हिन्दी काव्य में गुप्त जी ने चित्रित किया है।

12- वकसंहार, ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1928ई0

13- पंचवटी, ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1925ई0

14- 'अनघ', ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1925ई0

15- 'हिडिम्बा', ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1957ई0 मूल कथा में भीम का चरित्र मुख्य है किन्तु गुप्त जी कृत काव्य में हिडिम्बा का। कवि ने कुलवधू के रूप में इसे काव्य में स्थान दिया है। उसका प्रेम मानवीय प्रेम के अपूर्व आदर्श की सृष्टि करता है।

16- सैरन्ध्री, ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1928ई0

17- जयभारत, ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1952ई0

18- 'शकुन्तला', ले0 मैथिलीशरण गुप्त, साहित्यसदन प्रेस, चिरगाँव झाँसी, प्र0 सं0, सन् 1914ई0

'वेदो में योगविद्या'

रितु मोदी
(शोधार्थी-मनोविज्ञान विभाग)
(जुहारी देवी गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट डिग्री कालेज)

आज का मानव अति-भौतिकता से पीड़ित है। जितना वह उसके जाल से मुक्ति पाने के लिये छटपटाता है, उतना ही उसमें और जकड़ता जाता है। भौतिकता वस्तु ही ऐसी है, जो एक व्याधि का उपचार खोजने के साथ ही नई व्याधि को जन्म देती है। कोई आश्चर्य नहीं है कि आज के विचारकों का ध्यान भौतिकता से हटकर योगविद्या की ओर आकृष्ट हो रहा है। वैदिक संहिताओं में योगविद्या को ब्रह्मविद्या कहा गया है, जो ईश्वर की प्राप्ति का साधन है।

योगविद्या के दो भाग-अष्टांग योग और पञ्चकोश-शुद्धि। अष्टांग योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आते है। पञ्चकोश-शुद्धि का सम्बन्ध मोक्ष से है। जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त होना मोक्ष है।

'वेद सर्व सत्यविद्याओं का पुस्तक है।'' मानवीय जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान वेद में निबद्ध है।' उपरोक्त मान्यता सर्वविदित है। सब सत्य विद्याओं में प्रमुखरूपेण ब्रह्मविद्या अध्यात्मविद्या है। वेद का ब्रह्मविद्या अर्थात् योगविद्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वेद, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमज्योतिपुञ्ज प्रभु का ज्ञानवर्धक, उदबोधक, कल्याणकारी मधुर उपदेशं है। वेद का महत्व किसी कल्याणकारी से तिरोहित नहीं है। इसमें संकलित योगविद्या की बहुमूल्य रत्नमयी योगमाला उसी के लिये विशेष हितकारी है जो इसका धारण करे। वैदिक संहिताओं के निर्भ्रान्त यौगिक सिद्धांतों को जो योगाभिलाषी अपनायेगा, निश्चित ही उसके जीवन में नवीन निखार आयेगा।

वेदों में योगविद्या की उपयोगिता परिशीलन सांस्कृतिक संवर्धन में सहायक है। वेद-योगविद्या पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण करने वालो को, सुखदायी जीवन जीने की कला का ज्ञान कराने वाला सच्चा पथ-प्रदर्शक है। वेद-योगविद्या सामाजिक सुधार का प्रमुख साधन है। समाज में सुख और शान्ति का साम्राज्य योगविद्या के नियमों के पालन से संभव है। परिवार को संगठित रखने तथा प्रेमपूर्ण स्वर्ग बनाने में वेद-योगविद्या सहायक है। समाज एवं राष्ट्र के प्रत्येक नर-नारी के व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को समुन्नत बनाने में वैदिक योगतत्वों का परिशीलन उच्चतर भूमिका निभाता है।

निष्कर्षतः वेदो में मानवीय जीवन के सर्वागींण विकास के साथ-साथ निःश्रेयस् की प्राप्ति कराने वाली योगविद्या का उपदेश पदे-पदे उपलब्ध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेद वर्णित योग विषय का वेद से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

आज का मानव अति-भौमिकता से पीड़ित है। जितना वह उसके जाल से मुक्ति पाने के लिये छटपटाता है, उतना उसमें और जकड़ता जाता है। भौतिकता वस्तु ही ऐसी है, जो एक व्याधि का उपचार खोजने के साथ ही नई व्याधि को जन्म देती है। कोई आश्चर्य नहीं है कि आज के विचारकों का ध्यान भौतिकता से हटकर योगविद्या की ओर आकृष्ट हो रहा है। योग मात्र कुछ आसनों तक सीमित नहीं है। आसन तो सम्पूर्ण साधना का केवल एक भाग है, जो शरीर को स्वस्थ रखने के लिये अपनाए जाते हैं। वैदिक संहिताओं में योगविद्या को ब्रह्मविद्या या प्राणविद्या कहा गया है, जो ईश्वर या ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। अत: योग से सही रूप में प्राप्त करने के लिये योगविद्या का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

योगविद्या के दो भाग हैं-अष्टांग योग और पञ्चकोश-शुद्धि (इसका सम्बन्ध मोक्ष से है) अष्टांग योग के अन्तर्गत यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आते हैं। अष्टांग योग 'योगविद्या' का व्यावहारिक रूप प्रस्तुत करता है। वैदिक संहिताओं में प्रतिपादित योगांगों के स्वरूप से यह स्पष्ट होता है किय यम समाज-सापेक्ष हैं, जो सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हैं, नियम वैयक्तिक परिमार्जन करते हैं। अपना पुरूषार्थ तथा प्रभु-अनुग्रह दोनो मिलकर मानव का सर्वांगीण विकास करते हैं। प्रभु का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये ईश्वर-प्राणिधान से लेकर समाधि तक सभी योगांगों की उपयोगिता है और सब प्रकार के साधकों के लिये योगांगो की उपयोगिता सर्वगत है। अत: स्पष्ट है कि 'योगविद्या' व्यष्टि से समष्टि तक के विकास में सक्षम है वेद में यह सुरक्षित है।

पञ्चकोश-शुद्धि का सम्बन्ध मोक्ष से है। मोक्ष शब्द का अर्थ है-छूटना अर्थात् मुक्त होना है। जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त होना मोक्ष है। वेद में 'जीवात्मा' को बद्ध करने वाले तीन बन्धनों का वर्णन किया गया है-उत्तम, मध्यम तथा अधम। उत्तमपाश सत्वगुण से, मध्यमपाश रजोगुण से तथा अधमपाश तमोगुण से सम्बन्धित है। इन तीनों गुणों से वशीभूत हो जाने पर मानव की मन: स्थिति सम नही रहती है। तमोगुण से उत्पन्न भारीपन, आलस्य-प्रमाद कर्तव्यपथ में बाधक बनता है, रजोगुण अनुचित रागद्वेष में फंसाता है तथा सत्वगुण अहंकार में निमग्न रखता है। ऐसी चंचल अवस्था से दु:खी होकर मानव अखण्डशान्ति की याचना करता है। वेद में शारीरिक मानसिक रोगों तथा पापों को भी बन्धन का कारण स्वीकारा है। वैदिक संहिताओं के अनुसार अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष तथा मृत्यु का भय इन पंचक्लेशो के वशीभूत प्राणी बन्धन की अनूभूति करता हुआ इनसे मुक्ति की अभिलाषा करता है। योगी परमेश्वर की उपासना करके, अविधा आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों का निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभगुणों का आचरण से आत्मा की उन्नति करके मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

वैदिक संस्कृति और योग साधन

योग आर्यों की सब से प्राचीन सम्पत्ति है। यह एक ऐसी विद्या है, जिसमें विवाद का स्थान नहीं है। परन्तु संवाद का तो है, क्योंकि 'वादे वादे जायते तत्वबोध:' यह एक सर्वसम्मत अविसंवादि तथ्य है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भव-ताप-तापित जीवों को सर्व-सन्तापहार परमात्मा से मिलाने में योग और वेद-ज्ञान प्रधान साधन है। कालक्रम से वैदिक संस्कृति का निरीक्षण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल से ही भारतीय जनसामान्य के मानस संयम का प्रमुख साधन योग ही प्रचलित रहा है। वैदिक संहिताएँ एवं संहितेतर साहित्य इसके पुष्ट प्रमाण है। योग की अंतिम परिणति परमशान्ति है तथा वेद की अंतिम परिणति मोक्षप्रप्ति है। परमशान्ति एवं मोक्षप्राप्ति संसार के प्रत्येक समुदाय, सम्प्रदाय, मत तथा पन्थ को अपेक्षित है।

'वेद सर्व सत्यविद्याओं का पुस्तक है।' मानवीय जीवन की समस्याओं का समाधान वेद में निबद्ध है।' यह मान्यता सर्वविदित है। सब सत्य विद्याओं में प्रमुखरूपेण ब्रह्मविद्या, अध्यात्मविद्या है, यह भी सर्वगत है, अत: सिद्ध हो जाता है कि वेद का ब्रह्मविद्या अर्थात् योगविद्या से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

वेदो में योगविद्या की उपयोगिता

वेद, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमज्योतिपुञ्ज प्रभु का ज्ञानवर्धक उद्बोधक, कल्याणकारी मधुर उपदेश है। वेद का महत्व किसी कल्याणभिलाषी से तिरोहित नहीं है। इसमें संकलित योगविद्या की बहुमूल्य रत्नमयी योगमाला उसी के लिये विशेष हितकारी है जो इसका धारण करे। वैदिक संहिताओं के निर्भ्रान्त यौगिक सिंद्धातों को जो योगाभिलाषी अपनायेगा, निश्चित ही उसके जीवन में नवीन निखार आयेगा। योगविद्या के ब्रह्मचर्यप्रकरण में संयमविषयक पूर्ण परिशीलन का महत्व जानकर नर-नारी असंयम के दु:खदायी जीवन को त्यागकर, संयम को उत्साहपूर्वक अपनाकर दु:खों से बचकर सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

वेदों में योगविद्या की उपयोगिता परिशीलन सांस्कृतिक संवर्धन में सहायक है। वही संस्कृति उत्कृष्ट मानी गयी है जो अन्दर निहित साधनों से मानव का सर्वागीण विकास कर सके। इस सम्बन्ध में वेद का उद्घोष- 'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा।' नितान्त सत्य है कि 'वैदिक संस्कृति' ही विश्व की प्रथम एवं श्रेष्ठ संस्कृति है, जिसका मूल तत्व ब्रह्मविद्या अर्थात् योग-साधना है। वैदिक संस्कृति के इस मूल तत्व को भूल जाने से सारा विश्व भोगवाद को अपनाकर दुखसागर में गोते खा रहा है। वेद-योगविद्या पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण करने वालों को, सुखमयी जीवन जीने की सफल कला का ज्ञान कराने वाला, सच्चा पथ प्रदर्शक है।

वेद-योगविद्या सामाजिक सुधार का प्रमुख साधन है। सामाजिक स्थिति तभी सुख और

शान्तियुक्त होती है जब समाज का प्रत्येक नागरिक परस्पर प्रेम, सदव्यवहार से युक्त, चरित्रवान हो। अन्यों के कष्ट को अपने कष्ट के समान समझे। अच्छे या बुरे कर्मो का फल अवश्य भोगना पड़ेगा, ऐसे सभी अटल नियमों को समझने के लिये योगतत्वों का परिज्ञान आवश्यक हो जाता है। अधिक सन्तानोत्पत्ति, काला बाजारी, झूठ-छल-कपट का व्यवहार, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि दुष्कर्मों की प्रवृत्तियों को समाज से हटाने के लिये दण्ड-विधान तो बहुत सामान्यरूप से सहायक है, परन्तु अपराधी जीवनपर्यन्त कारावास में रहकर भी अपराध से विमुख नहीं होते हैं, उनकी मूल आन्तरिक प्रवृत्तियों को बदलने में परम सहायक योगमय जीवनचर्या ही प्रमुख साधन है। अध्ययन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। तभी हाल में राष्ट्रीय प्रकृति चिकित्सा संस्थान ने कानपुर कारावास के 800 कैदियों के लिये चौदह दिवसीय योग शिविर का आयोजन किया। परिणाम में पाया गया कि योग, प्राणायाम तथा ध्यान, कैदियों के जीवन में परिवर्तन लाने में सहायक है। राष्ट्रीय प्रकृति चिकित्सा संस्थान के प्रबन्धक डा0 रवीन्द्र पोरवाल ने कहा कि योग शरीर और मस्तिष्क को स्वस्थ्य बनाने में सहायक है। **(हिन्दुस्तान टाइम्स, कानपुर 16 अक्टूबर 2004)**। अतः समाज में सुख और शान्ति का साम्राज्य योगविद्या के नियमों के पालन से सम्भव है। परिवार को संगठित रखने तथा प्रेमपूर्ण स्वर्ग बनाने में वेद-योगविद्या सहायक है। परिवार का प्रत्येक सदस्य एक दूसरे की उन्नति में हानि, लाभ, सुख, दुःख आदि में सहायक रहे तो परिवार स्वर्ग बन जाता है एवम् इनके अभाव में दुःख विशेष नरक बन जाता है। अंहिसा-सत्य आदि यम और सन्तोष आदि नियमों का पालन ऐसे गुण है जो पारिवारिक संगठन को दृढ़ करते है। महाभारत-कालपर्यन्त प्रत्येक ग्रहस्थ नित्यकर्म में योगमय-जीवन व्यतीत करते थे, अतः पारिवारिक विघटन की सम्भावना कम रहती थी। वेद में **'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्'** आदि मन्त्रों वाला सांमनस्यसूक्त-भाई-भाई से द्वेष न करे तथा बहिन बहिन से द्वेष न करे' आदि पारिवारिक जनों में विद्वेष की भावना को समाप्त करने का उपदेश देता है, जिसका क्रियात्मकरूप योगसाधन से ही भलीभाँति सफल होता है।

वेद-योगविद्या राष्ट्र के विकास में भी सहायक है। किसी भी देश में सामान्य कर्मचारियों से लेकर प्रधानमंत्री एवं राष्ट्रपति तक सभी राष्ट्र के रक्षक, संवर्धक, जब पालक होते है तो राष्ट्र समृद्धि की योजना तथा रक्षा के कानून एवम् उन्नति के साधन निरन्तर बढ़ते रहते है। जिस राष्ट्र के नेता और कर्मचारी धर्मात्मा, सत्यवादी, न्यायप्रिय, निष्पक्ष, जितेन्द्रिय, त्यागी, लोकोपकारी होते है वह राष्ट्र अपने उद्देश्यो की पूर्ति शीघ्र कर लेता है। इसके विपरीत अधर्मी, असत्यवादी, अन्यायी, पक्षपाती, आचारभृष्ट, स्वार्थी तथा विलासी राजनेता या कर्मचारी होने से राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। इसी को वेद संक्षेप में कहा गया है-**'ब्रह्मचर्येण तपसा राष्ट्र वि रक्षति।'** अर्थात् ब्रह्मचर्य तथा संयमरूपी तप से राजा राष्ट्र की रक्षा करता है तथा जितेन्द्रिय, धर्मात्मा नेता (राजा) ही प्रजा को वश में रख जाता है। इसीलिये प्राचीन काल के राजा अपनी योगमय

जीवनचर्या चलाते थे।

राष्ट्रीय कार्यों में सहायक विशेष शक्ति सामर्थ्यों के लिये योगाभ्यास से प्राप्त विभूतियों का आश्रय लेकर शासन में पर्याप्त सुविधा हो सकती है। योगचर्या से प्राप्त निष्काम-भावना राजकार्यों तथा लोकोपकार में नितान्त उपयोगी है। इसीलिये वेद में योग की उत्कृष्ट साधना के उपरान्त लोकोपकार में उसका प्रयोग करने के सन्देश मिलते हैं। इसी प्रकार समाज एवं राष्ट्र के प्रत्येक नर-नारी के व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को समुन्नत बनाने में वैदिक योगतत्वों का परिशीलन उच्चतर भूमिका निभाता है।

निष्कर्षत: वेदों में मानवीय जीवन के सर्वागीण विकास के साथ-साथ नि:श्रेयस् की प्राप्ति कराने वाली योगविद्या का उपदेश पद-पदे उपलब्ध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेद वर्णित योगविषय का वेद से घन्ष्ठि सम्बन्ध है।

संदर्भग्रन्थ-सूची

1. उदत्तमं वरूण पाशम् - ऋगवेद 1/24/15
2. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशा: पञ्चक्लेशा:- यो0 2/3
3. ब्रह्मचर्येण तपसा. अर्थवेद 11/5/17
4. वेदो में योगविद्या-स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती

रोमन लिपि से उत्कृष्ट देवनागरी लिपि

डॉ0 मृदुल जोशी
हिन्दी विभाग
क0गु0 महाविद्यालय, हरिद्वार
(अन्तर्गत गु0का0वि0वि0 हरिद्वार)

भावों, विचारों, अनुभूतियों के पारस्परिक विनिमय का सशक्त माध्यम है- भाषा। भारतीय मनीषियों का उद्घोष है- शब्द ब्रह्म हैं। **'वाग्वै विश्वकर्म्मणि वाचा हीदं सर्व्वकृतम्'** अर्थात् वाणी ही समग्र चेतना है और वाणी द्वारा ही प्रत्येक वस्तु का गठन हुआ है। भाषा अपने मूल रूप में ध्वनि पर ही आधारित है। भाषा के अभाव में कोई भी राष्ट्र 'गूँगे' से इतर कुछ भी नहीं है। पाश्चात्य विचारक सस्यूर ने भाषा को दो भागों में विभाजित किया- Langue (लाँग) और Parole (पैरोल)। प्रथम 'भाषा' व द्वितीय 'वाक्' के रूप में प्रचलित हैं। 'वाक्' अर्थात् भाषा का वह स्तर जो वाणी के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता हुआ बोलने तक सीमित है व 'लाँग' या भाषा- वह व्याकरणिक संरचना जो 'लिपि' के माध्यम से अभिव्यक्ति पा रही हैं। इसे ही डॉ0 भोलानाथ तिवारी जी ने 'भाषा-व्यवहार' (Language-behaviour) व 'भाषा-व्यवस्था' (Language-system) नाम दिया हैं।[1]

'भाषा' अपने मूल रूप में ध्वनियों पर आधारित है, 'लिपि' में उन ध्वनियों को रेखाओं द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की जाती हैं। **'आउटलाइन ऑफ लिंग्विस्टिक एनालिसिस'** से 'लिपि' को परिभाषित करते हुए ब्लाख और जी0एल0 ट्रेगर लिखते हैं, 'भाषा को दृश्य रूप में स्थायित्व प्रदान करने वाले यादृच्छिक वर्ण-प्रतीकों की परम्परागत व्यवस्था 'लिपि' कहलाती हैं।'

लिपि का कार्य भावों का अंकन करना हैं। अपने इस कार्य में जो लिपि जितनी सफल होगी, उसे उतना ही सशक्त व समर्थ माना जायेगा। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् से ही एक ऐसी भाषा की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा जो समूचे विश्व की सम्पर्क-भाषा बन सके। अनेक विद्वान् अंग्रेजी भाषा को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनाने के पक्षधर थे लेकिन 'रोमन लिपि' की असमर्थता ने उसे इस पद के अयोग्य ही ठहराया है। सर विलियम जोन्स सदृश पाश्चात्य विद्वान् स्वयं रोमन लिपि की अपूर्णता को पूरी ईमानदारी से स्वीकारते हैं। उनके इस कथन में सत्यता की झलक है, 'हमारी अंग्रेजी वर्णमाला और हिज्जे लज्जाजनक तथा हास्यास्पद ढंग से अपूर्ण हैं।' (Devnagari system, which as it is more naturally arranged than any other, shall be standard of my observations on Asiatic letters, our English alphabet and orthography are disgracefully and most rediculously imperfect.)[2]

भारत ही नहीं विश्व के अनेक विद्वान् 'देवनागरी लिपि' को सर्वाधिक वैज्ञानिक व सुव्यवस्थित लिपि के रूप में स्वीकारते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् मोनियर विलियम्स का भी यह मत था कि **'यदि सम्पूर्णता में देखा जाए तो यह लिपि प्रत्येक वर्ण के स्तर पर सर्वाधिक पूर्ण एवं व्यवस्थित है। यदि देवनागरी में कोई दोष है तो यह कि यह दोषरहित है। आज के उपयोगितावादी युग में सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए यह सर्वाधिक पूर्ण लिपि है।'** फोनोग्राफी के अनुसंधानकर्ता आइजक पिटमैन का भी यही विचार है, **'संसार की कोई लिपि यदि सर्वाधिक पूर्ण है, तो वह एकमात्र देवनागरी ही है।'**

जॉन क्राइस्ट, जे0आर0फर्थ, ब्लूम फील्ड, हेनरी स्वीट, डेनियल जोन्स, लैम्बर्ट, पेरिजका, फ्रेडरिक, जोन शोर, एफ0एस0गाउस, बेरिजर प्रभृति अनेक विद्वानों की श्रृंखला मुक्त कण्ठ से देवनागरी लिपि को सर्वाधिक वैज्ञानिक लिपि स्वीकारती है।

भारतीय भाषाविद् डा0 सुनीत कुमार चट्टोपाध्याय मानते हैं,

"------------भारतीय लिपि रोमन से बहुत ऊँची है- वह है, विज्ञान-सम्मत प्रणाली से भारतीय वर्णमाला के अक्षरों का समावेश या क्रम। इसमें स्वर वर्ण पहले दिए गए हैं, तदनन्तर व्यंजन वर्ग समूह-मुँह के अन्दर या कण्ठ से लेकर उच्चारण स्थानों के अनुसार तालु, मूर्धा, दंत, क्रमश:, मुँह के बाहर ओष्ठ तक आकर कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य में पाँच स्पर्श वर्णों के वर्ग, फिर प्रतिवर्ग में अघोष (यथा क, स) और घोषवत् (यथा न, घ) तथा नासिका (यथांग) और अघोष अल्पप्राण (क) अघोष महाप्राण (ख) घोषवत् अल्पप्राण (ग) घोषवत् (घ) इस तरह से वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम वर्ग सजाए गए हैं। स्पर्श वर्ण के बाद अन्त:स्थ वर्ण (य, र, ल, व) अंग्रेजी में जिन्हें (Liquids and semi vowels) कहते हैं। तदनन्तर ऊष्म वर्ण (श, ष, स, ह) इन्हें अंग्रेजी में Spirants कहते हैं। इस प्रकार का विज्ञान सम्मत वर्णक्रम संसार की किसी भी वर्णमाला में नहीं हैं।"[3]

देवनागरी लिपि रोमन की अपेक्षा वैज्ञानिक, सुव्यवस्थित व सम्पूर्ण है। वास्तव में **पतंजलि व पाणिनि अभूतपूर्व लिंपि वैज्ञानिक थे।** पाणिनी द्वारा स्वर व व्यंजनों का वर्गीकरण सुव्यवस्थित क्रम से किया गया। प्रथम: स्वरों की व्यवस्था है, उनमें भी 'हस्व' व दीर्घ का क्रम हैं। तत्पश्चात् व्यंजन- क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग आते हैं। ये भी उच्चारण-स्थान के आधार पर वर्गीकृत किये गए हैं। **देवनागरी लिपि का वैशिष्ट्य ही यही है कि इसमें उच्चारण के अनुरुप लेखन है। अत: उच्चारण की शुद्धता व स्पष्टता अनिवार्य है। यही कारण है कि उच्चरण-स्थान की स्पष्टता, करण इत्यादि का विस्तृत वर्णन हमें एक सटीक व्यवस्था प्रदान करता है।**

संस्कृत व्याकरण में देवनागरी वर्णमाला को ईश्वर प्रदत्त माना गया हैं। **'नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपंचवारम्'** के आधार पर भगवान् शंकर डमरू के निनाद की लय में ताण्डव नृत्य प्रस्तुत कर रहे थे। डमरु-निनाद में नि:सृत ध्वनियों को महावैयाकरण महर्षि पाणिनी ने ग्रहण कर माहेश्वर सूत्रों के रूप में प्रस्तुति दी।

(1) अइउण् (2) ऋलृक् (3) एओङ् (4) ऐऔच् (5) हयवरट् (6) लण् (7) ञमङणनम् (8) झभञ् (9) घ ढ ध ष् (10) ज ब ग ड द श् (11) ख फ छ ठ त च ट त व् (12) कपय् (13) शषसर् (14) ह ल्। इनके उच्चारण स्थान व वर्गीकरण का भी कण्ठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य, दन्त्य, ओष्ठ्य, अनुनासिक इत्यादि अनेक भेद हैं।[4]

ये सभी वर्ण ह्स्व, दीर्घ, प्लुत विभेद से अनुस्वार व विसर्ग को सम्मिलत कर 63 या 64 हो जाते हैं।5 हिन्दी का उत्स संस्कृत है, अत: उच्चारण सौन्दर्य यहाँ भी विद्यमान हैं। हिन्दी में प्लुत विभेद विलुप्त है। 'ळ' (मराठी) की स्वीकृति के साथ हिन्दी वर्णमाला में 53 वर्ण हैं। वैसे हिन्दी में सभी वर्णो को मिलाकर वह संख्या 99 तक पहुँच जाती है। (स्वर चिन्ह- 1, स्वरों की मात्राएँ-10, व्यंजन चिन्ह 35, चिह्नों के आधे रूप 37 और विशेषक चिह्न 6)। क्ष, त्र, ज्ञ को जोड़ने पर यह संख्या 102 तक पहुँचती हैं। देवताणी संस्कृत उच्चारण-शुद्धता पर अत्यन्त बल देती है। भारत 'शब्द ब्रह्म' का उपासक है। यही कारण है कि वैदिक, ऋचाओं, सूक्तों, मंत्रों के शुद्धोच्चारण की परम्परा आज भी जीवित है। माना गया है कि शब्द ब्रह्म का साधक ब्रह्मलोक में पूजित होता है।[6] देवनागरी लिपि में मात्रानुसार व्यवस्था, संयुक्ताक्षर व्यवस्था, स्थान के आध ार पर वर्गीकरण, प्राणतत्त्व के आधार पर वर्गीकरण, घोष और अघोष के आधार पर वर्गीकरण नासिक व निरनुनासिक के आधार पर वर्गीकरण इतना तो स्पष्ट कर ही देता है कि इस लिपि के वैयाकरणों ने सघन तपस्या व अनवरत साधना के फलस्वरूप इस लिपि का निर्माण किया है जो असीम संभावनाओं से भरित हैं।

रोमन लिपि में कही भी कोई व्यवस्थित क्रम या नियम नहीं दिखाई पड़ता। देवनागरी लिपि में जहाँ स्वरों व व्यंजनों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था है, वहीं रोमन लिपि में स्वरों को व्यंजनों के मध्य ही रखा गया हैं। रोमन में ह्स्व व दीर्घ विभेद की व्यवस्था भी कहीं नही दिखाई पड़ती। मात्र छब्बीस (26) वर्णो में विशाल ध्वनि को समाहित करना असंभव हैं।

देवनागरी में प्रत्येक ध्वनि के लिए चिह्न और उस चिह्न की एक अलग विशिष्ट ध्वनि इसकी वैज्ञानिकता को लक्षित करती है। उदाहरण के लिए यदि हम देवनागरी की अनुनासिक्य ध्वनियों को ही लें, ञ, म्, ङ्, ण्, न्, म् - प्रत्येक पृथक् चिह्न की एक अलग विशिष्ट ध्वनि हैं। एक भी ध्वनि का स्थान दूसरी नहीं ले सकती। जबकि रोमन लिपि में एक ही ध्वनि चिह्न अनेक ध्वनियों का बोध कराता हैं। यह स्थिति अत्यन्त भ्रामक हैं।

उदाहरण के लिए रोमन में 'ऽ' चिह्न से ज, स, श, सदृश अनेक ध्वनियों का बोध होता हैं। 'u' चिह्न 'अ', उ, य आदि ध्वनियों का बोध कराता हैं।

जैसे :-

Put	-	u - उ
But	-	u - अ
unity, mule, utilization	-	u - आदि

रोमन में लिखे शब्द आप अनेक प्रकार से बोल सकते है। यथा

Ram- राम, रम, रेम आदि

रोमन में एक ही ध्वनि के लिए अनेक चिह्न भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे 'क' हेतु ch,c,k,q आदि। (King, call, quick, cheque, school) आदि

देवनागरी लिपि में जो बोला जाता है, वही लिखा जाता है। कोई भी मूक वर्ण देवनागरी में नही है। रोमन लिपि में अनुच्चारित वर्ण भी लिखे जाते हैं। अंग्रेजी भाषा में अनेक वर्ण मूक हैं।

उदाहरणर्थ :-

calm, Half, calf	L मूक
subtle	b मूक
knitting, knife	k मूक
Honest, Honesty	H मूक
Foreigner, assignments	'G' मूक
Listener, Fasten	t मूक
might,daughter,lights,through	gh मूक
scent	c मूक
autumn, comb, thumb	क्रमशः n व b मूक
wrist,	W मूक
Psychology	p मूक
Receipt	p मूक

रोमन लिपि में स्वराघात के लिए विशेष व्यवस्था नहीं हैं। 'I' से ह्रस्व 'इ' व दीर्घ 'ई' या 'u' से ह्रस्व 'उ' व दीर्घ 'ऊ' दोनों का काम लिया जाता है। देवनागरी में ऐसा नहीं हैं।

पाणिनी ने उच्चारण के जितने भी उतार-चढ़ाव हो सकते है, जितने भी मृदु, कठोर, कठोरतर बलाघात हो सकते हैं, सभी का समावेश देवनागरी लिपि में किया हैं।7

रोमन में लगभग 43 ध्वनियाँ हैं, जबकि स्माल(small) कैपिटल (capital) मिलाकर चिह्नों की संख्या 52 है। फिर भी प्रत्येक ध्वनि स्वतंत्र रूप में व्यक्त नहीं हो पाती। कुछ ध्वनियों को व्यक्त करने हेतु दो या दो से अधिक ध्वनियों की सहायता ली जाती है क्योंकि रोमन, में महाप्राण ध्वनियों के लिए स्वतंत्र चिह्न नहीं है। उन्हें व्यक्त करने के लिए अल्पप्राण ध्वनि के साथ 'H' का प्रयोग करना पड़ता है। यथा- kh, gh, ph

देवनागरी जहाँ अक्षरात्मक (sylabic) और वर्णात्मक (Alphabetic) का समन्वित रूप है, वही रोमन वर्णात्मक (Alphabetic) हैं। लिपि चिह्नों और उच्चारण नैकट्य की दृष्टि से देखा जाये तो देवनागरी रोमन से उत्कृष्ट है। वस्तुतः अक्षरात्मक लिपि वर्णात्मक का परिष्कृत रूप है। वर्णात्मक लिपि में व्यंजन के साथ स्वर के संयुक्त रूप को एकीकृत कर स्वतंत्र रूप से दिखलाना नहीं होता।

उदाहरणार्थ- 'वैदेही' शब्द में वै, दे, ही (ै, े, ी) जैसी स्वरयुक्त ध्वनियों को स्वतंत्र रूप में दिखाया जा सकता है। लेकिन रोमन लिपि Veidehi में यह संभव नहीं है। रोमन लिपि में लिपि चिह्न क्रम (लीनियर ऑडर) में लिखे जाते है लेकिन हिन्दी में ये (वर्णो क उपवर्णो के संदर्भ में) छः स्थानों पर - उपरि वर्ण , अधोवण्र, पश्चवर्ण, पश्चोपरिवर्ण, पूर्वोपरिवर्ण, पश्च-मध्य वर्ण के रूप में अंकित किये जा सकते हैं।

उदाहरणार्थ :-

1. उपरिवर्ण - ए. ऐ. की मात्राएँ (े ै)
2. अधोवर्ण - उ, ऊ और ऋ की मात्रा (ु ू ृ)
3. पश्चवर्ण - आ की मात्रा (ा)
4. पश्चोपरिवर्ण - ई, ओ और औ की मात्राएँ (ी, ो, ौ)
5. पूर्वापरिवर्ण - इ की मात्रा (ि)
6. पश्च - मध्यमवर्ण - उ और ऊ की मात्राएँ र के साथ (ु, ू)

रोमन लिपि में विशेषक चिह्नों (डयाक्रिटिक मार्क्स) का प्रयोग नहीं किया जाता जबकि देवनागरीलिपि में छह विशेषक चिह्न प्रयुक्त होते हैं, जिनका ध्वनित महत्त्व हैं। प्रत्येक चिह्न एक विशेष निर्दिष्ट ध्वनि का सूचक है।

(क), उपरिवर्ण
1. अनुस्वार (ं) कंबल, अंकन,
2. अनुनासिक (ँ) चाँद, बाँधना
3. आ, ओ (ॅ) कॉलेज, डॉक्टर
(ख). अधोवर्ण
4. हलंत (्) चिट्ठी
5. नुक्ता (़) ज़रूरत, खून, फूल
(ग) पश्चर्ण
6. विसर्ग (:) प्राय:, अत:, आदि

अनेक विद्वान् त्वरा की दृष्टि से रोमन को उत्कृष्ट मानते है, लेकिन यह भ्रामक हैं आज विभिन्न भाषाओं के स्वनात्मक लिप्यंकन (फिनोटिक्स ट्रांसक्रिप्शन) की समस्या है। नव्यतम अनुसंधानों से यह स्पष्ट है कि संसार की विविध भाषाओं में वाग्यंत्र के विविध स्थानों से उच्चरित सुर एवं तान युक्त अनेक सूक्ष्म स्वन है, जिनके लिए नए चिह्नों का निर्माण असंभव है। रोमन लिपि उन सूक्ष्म स्वनांकनों में असमर्थ है। उनमें से अधिकांश ध्वनियों को देवनागरी लिपि-चिह्नों में बिना किसी परिवर्तन के अंकित किया जा सकता है। कतिपय ध्वनि- वैशिष्ट्य को नागरी-लिपि में नए संकेतक चिह्न लगाकर सहज ही व्यक्त किया जा सकता है।

आज पाश्चात्य विद्वान् भी कम्प्यूटर पर संस्कृत, हिन्दी के लिए देवनागरी की उपयुक्तता को उन्मुक्त कंठ से स्वीकारते हैं। देवनागरी में कतिपय सुधार द्वारा इसे इंटरनेट व कम्प्यूटर का अहं माध्यम बनाया जा सकता हैं।। रोमन लिपि इसके सामने बौनी नजर आती है।

संदर्भ संकेत-

1. भोलानाथ तिवारी, भाषा विज्ञान, प्रवेश, पृ0 15
2. H.M. Lambert: Introduction to theDevnagari etc., introduction'by J.R.Firth, W. Jones quoted.
3. श्री सुनीति कुमार चट्टोपध्याय, भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ, पृ0 176
4. (क). अकुह विर्जनीयानां कण्ठः। (अ, क वर्ग, ह, व विसर्ग का उच्चारण-स्थान कण्ठ है।)
(ख). इचुयशानां तालु (इ, च वर्ग, य एवं 'श' का उच्चारण स्थान तालु है।)
(ग). ऋटुरषाणां मूर्द्धा (ऋ, ट वर्ग, र एवं 'ष' का उच्चारण स्थान मूर्द्धा है।)
(घ). लृतुलसानां दन्ता: (लृ, त वर्ग एवं स का उच्चारण स्थान दन्त हैं।)
(ड़). उपूपध्मानीयानां ओष्ठौ (उ, प वर्ग, उपध्मानीय का उच्चारण स्था ओष्ठ हैं।)
(छ). एदैतो कण्ठतालु, (ए, ऐ का स्थान कण्ठ-तालु है।)

(ज). ओदौतो कण्ठोष्ठम् (ओ, औ, का कण्ठ और ओष्ठ हैं।)
(झ). वकारस्य दन्तोष्ठम् (व का दन्त और ओष्ठ हैं।)
(ण). जिहवामूलीयस्य जिह्वा मूलम् (जिहवा मूलीय का उच्चारण स्थान जिहवा का मूल हैं।)
(ट). नासिकानुस्वारस्य। (अनुस्वार का उच्चारण-स्थान नासिका है।)
-लघु सिद्धान्त कौमुदी, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1998 (प0 श्री सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा सम्पादित), पृ0 6

5. त्रिषष्टिचतुषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयम्भुवा।

6. एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीड़िताः।
सम्यग् वर्ण प्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते।

7. तदित्थम्- अ, इ, उ, ऋ, एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः।
एचामपि द्वादश। तेषां हस्वाभावात्। (पाणिनी ने 'ए' को केवल दीर्घ माना है अतः उसके बारह ही भेद किए हैं।- लघु सिद्धान्त कौमुदी, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1998, (पं0 श्री सूर्यनारायण शुक्ल द्वारा सम्पादित), पृ0 6

"भारतीय आचार्यों का वेदाङ्ग शिक्षाक विषयक चिन्तन"

डॉ0 श्रीधर मिश्र
गां0 वि0 वि0, गोरखपुर

सृष्टिकर्ता विधाता ने सृष्टि के आदि में ही मनुष्य को भाषा एवं धर्म साथ-साथ प्रदान किया था। मुख्य भाषा के रूप में संस्कृत भाषा एवं प्रमुख धर्म के रूप में सनातन धर्म प्राप्त हुआ था, इस प्रमुख भाषा संस्कृत के द्वारा लोक व्यवहार का संचालन होता था-

"वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते"[1]

कालान्तर में जब यह मनु की संतति भारतवर्ष से बाहर पूर्व पश्चिम देशों में फैल गयी तो उसके साथ संस्कृत भाषा भी देशान्तरों में जाकर अपभ्रष्ट होती हुई संसार की नाना भाषाओं में बिखर गयी। तब भी भारत में उसका मूलरूप सुरक्षित रहा, जो आज भी विद्यमान है। सनातनधर्म के विचार ही जगत् के अन्य मतों एवं सम्प्रदायों में किसी ना किसी रूप में कमोवेश स्वीकार किये गये हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अनेक पाश्चात्य विचारकों ने भी इसे माना है, प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विलड्यूराँ का कथन है कि "भारत हमारी जाति का मातृदेश और संस्कृत समस्त यूरोपीय भाषाओं की जननी रही है। यह भारतभूमि हमारे दर्शनशास्त्र की जननी थी, अरबों के माध्यम से हमारे अधिकांश गणित शास्त्र की भी जननी रही है। बुद्धदेव के माध्यम से ईसाई धर्म में व्याप्त उत्तम सिद्धान्तों की तथा ग्राम समाज के माध्यम से स्वायत्त शासन एवं प्रजातन्त्र की जननी थी। अत: भारतमाता अनेक प्रकार से हम सभी की माँ है।"[2]

इसमें से संस्कृत भाषा को संस्कार सम्पन्न भाषा कहा जाता है। अनेकार्थक संस्कार का आशय यहाँ प्रकृति-प्रत्यय विभाग से है न कि दोषहान एवं गुणाधान से है। "प्रकृति प्रत्ययादि संस्कार"[3] यहाँ आदि शब्द से वर्णागम लोप एवं विकार को ग्रहण किया गया है।4 यद्यपि यह संस्कार वेदाङ्ग व्याकरण द्वारा किया जाता है फिर भी संस्कृत भाषागत वर्णों का नासिका स्थानीय है- "शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।"1

उदात्तादि स्वरों तथा वर्णोच्चारण के स्थान, करण एवं प्रयत्न आदि के उपदेशक शास्त्र को शिक्षा कहते हैं- "शिक्षा स्वरवर्णोपदेशक शास्त्रम्।"2

भाष्यकार सायण ने शिक्षा का अर्थ करते हुए कहा हैं कि- "वर्णस्वराद्युच्चारणप्रकारो यत्रोपदिश्यते सा शिक्षा।"3 अर्थात् जिसमें वर्ण, आदि उच्चारण प्रकारों का उपदेश हो, उसे 'शिक्षा' कहते हैं। शिक्षा शब्द "शिक्षा विद्योपादाने" (भ्वादिगण) धातु से 'गुरोश्च हल:' सूत्र द्वारा 'अ' प्रत्यय तथा टाप करके निष्पन्न होता है। यह शब्द "शिक्षते उपादीयते विद्या यया सा शिक्षा" अर्थात् जिसके द्वारा विद्या का उपादान किया जाय। सामान्य अर्थ में विद्या के आदान-प्रदान

हेतु शिक्षा शब्द ग्रहण होता है, जहाँ तक सामान्य शिक्षा का सम्बन्ध है वहाँ संस्कृत साहित्य में परा, अपरा दो विद्याओं, आन्वीक्षिकीत्रयी वार्ता दण्डनीति चार विद्याओं, चौदह एवं अट्ठारह विद्याओं की चार प्रकार से मान्यता है। इन विद्याओं की समाप्ति के अनन्तर गुरुकुलों में कुलपति सभी को "सत्यं वद धर्मं चर" आदि की अन्तिम शिक्षा देता रहा है। यह तैत्तिरीय शिक्षा में द्रष्टव्य है। परन्तु यहाँ पर शिक्षा शब्द अपने विशेष अर्थ में वेदांग के रूप में ग्रहीत है। चतुर्दश या अष्टादश विद्याओं की गणना में शिक्षा वेदांग की सर्वत्र मान्यता है।4 इस वेदांग शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय ऋषियों के अत्यन्त व्यापक चिन्तन हैं, जिसके परिणामस्वरूप इस विद्या के क्षेत्र में लगभग 50 ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, इनमें से पाणिनीय शिक्षा एवं याज्ञवल्क्य शिक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध है। यद्यपि डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा ने (65) पैंसठ शिक्षा ग्रन्थों को स्वयं देखने की बात अपने ग्रंथ में कहीं है परन्तु उनके द्वारा उन शिक्षा ग्रन्थों का नाम नहीं गिनाया गया है।5 काशी से इन शिक्षा ग्रन्थों का प्रकाशन दो बार हो चुका है जिसमें 1893 में इकतीस शिक्षा ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ था जो आज दुर्लभ हो गया है। मद्रास के पाण्डुलिपि संग्रहालय में सोलह शिक्षा ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत हैं। इसमें से अधोलिखित शिक्षा ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत है -

1. याज्ञवल्क्य शिक्षा
2. वासिष्ठी शिक्षा
3. पाराशरी शिक्षा
4. गौतमी शिक्षा
5. कात्यायनी शिक्षा
6. माण्डवी शिक्षा
7. माध्यन्दिन शिक्षा
8. अमोघानन्दिनी शिक्षा
9. वर्णरत्न प्रदीपिका शिक्षा
10. केशवी शिक्षा
11. चारायणी शिक्षा1
12. लघु अमोघानन्दिनी शिक्षा
13. लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा
14. मल्लशर्म शिक्षा

18. व्यास शिक्षा
19. पाणिनीय शिक्षा
20. कोहलीय शिक्षा
21. बोधायनी शिक्षा ⎤
22. वाल्मीकि शिक्षा ⎥ 2
23. हारीति शिक्षा ⎦
24. नारदीय शिक्षा
25. लोमशीय शिक्षा
26. स्वराङ्कुश शिक्षा
27. षोडशश्लोकी शिक्षा
28. अथावसान निर्भय शिक्षा
29. स्वरभक्ति लक्षण परिशिष्ट शिक्षा
30. मनः स्वार शिक्षा
31. प्रातिशाख्य प्रदीप शिक्षा

15. माण्डूकी शिक्षा
16. भारद्वाज शिक्षा
17. व्यास शिक्षा
32. क्रमसन्धान शिक्षा
33. गलदृक शिक्षा

इन शिक्षा ग्रन्थों में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम एवं सन्तान पर व्यापक गम्भीर किन्तु संक्षिप्त विचार किया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में कहा गया है –"अथ शीक्षां व्याख्यास्याम: वर्ण: स्वरो मात्रा बलं साम सन्तान इत्युक्त: शीक्षाध्याय:।"3

उपर्युक्त पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य है – "तत्र वर्णोऽकारादि:, स्वर उदात्तादि:, मात्रा ह्रस्वाद्या:, बलं प्रयत्न विशेष:, सामवर्णानां मध्यमवृत्योच्चारणं समता, सन्तान: सन्तति: संहितेत्यर्थ:।"4

शिक्षा ग्रन्थों का प्रणयन करके प्राच्य विद्या मनीषियों ने शुद्ध उच्चारण से पुण्यप्राप्ति एवं मनोरथ सिद्धि के लिए वर्ण, स्वर, मात्रादि का सम्यक् ज्ञान प्रदान किया है। स्वर, व्यंजन के रूप में विभक्त वर्ण समुदाय का स्पष्ट उच्चारण स, श एवं ष के उच्चारण में अवनधानता से आगत दोषों के प्रति सतर्कता का ज्ञान दिया है। उदात्तादि स्वरों के समुचित प्रयोग का ज्ञान ह्रस्व, दीर्घादि मात्रा का विशेष ध्यान एवं उच्चारण में वर्णो एवं शब्दों में कहाँ कितना बल प्रयोग करना है, इसका विशेष ज्ञान इन शिक्षा ग्रन्थों में प्रदान किया गया है। उच्चारण में न बहुत शीघ्रता न बहुत विलम्ब इस अद्भुत विलम्बोच्चारण रूप साम का सम्यक् विवेचन है। वर्णो के परम सन्निकर्ष को शिक्षा ग्रन्थों में सन्तान कहा गया है। जैसे – ज और ञ के सन्तान से बनने वाले ज्ञ का उच्चारण गुरुपदिष्ट प्रणाली से होना चाहिए।

शिक्षा ग्रन्थ वैदिक वाङ्मय के उपकारक हैं। वेदों के छ: अंगों में प्रधान रूप में इनकी गणना –

" दुष्ट: शब्द: स्वरतो वर्णतो व मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्र शत्रु: स्वरतोऽपराघात।।"1

इत्यादि कथनों से उच्चारण में जो स्वर दोष, वर्ण दोष निषिद्ध माने गये हैं इन शिक्षा ग्रन्थों के द्वारा इनकी रक्षा होती है। ये शिक्षा ग्रन्थ सम्यक् उच्चारण का बोध कराते हैं। शाब्दिकों के सिद्धान्तानुसार सभी ज्ञान शब्दानुविद्ध होते हैं, ज्ञान का स्वरूप शब्द स्वरूप से प्रतिबद्ध होता है-

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।2

इन शब्दों के सम्यक् उच्चारण का उपदेश शिक्षा ग्रन्थों द्वारा प्राप्त होता है। उक्त से इन शिक्षा ग्रन्थों की प्रधानता एवं महत्ता स्पष्ट है, यद्यपि सभी शिक्षा ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय

उच्चारण विधि ही है परन्तु इन ग्रन्थों में वर्णों की संख्या, स्थान, करण आदि के विषय में भी विचार किया गया है। जिसमें परस्पर अनेक प्रकार की विषमता भी दिखायी देती है। शिक्षा ग्रन्थों में पाणिनीय शिक्षा को जिस प्रकार की प्रसिद्धि प्राप्त है उस प्रकार की प्रसिद्धि अन्य शिक्षा ग्रन्थों की नहीं है।

इन शिक्षा ग्रन्थों में सामान्य विशेष दो प्रकार के उच्चारण विधि का विवेचन प्राप्त होता है। सामान्य उच्चारण विधि में वर्ण सामान्य को विषयी कहा गया है जैसे - ''व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रान्''। इत्यादि स्थलों में सामान्य उच्चारण विधि प्रतिपादित है। विशेष उच्चारण विधि में वर्ण विशेष के उच्चारणों की विधि बतायी गयी है इसमें अनुस्वार के, रंग वर्णों आदि के उच्चारण विधि को प्रधानता से प्रतिपादित किया गया है। जैसे-

अलाबुबीणानिर्घोषो दन्त्यमूल्यस्वराननुं।
अनुस्वारस्तु कर्त्तव्यो नित्यं ह्वोः शषसेषु च।।[2]

तुम्बी फल वीणा की जिस प्रकार की ध्वनि होती है उसी प्रकार का ही ध्वनि अनुस्वार के उच्चारण में होना चाहिए। इसी तरह विशेष उच्चारण विधि में रंग वर्णों के उच्चारण के सम्बन्ध में पाणिनीय शिक्षा में पाँच श्लोक कहे गये हैं[3]-

यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्याभिभाषते।
एव रंगा प्रयोक्तव्याः रवे अराँ इव खे दया।।
रंगवर्ण प्रयुञ्जीरेन् नो ग्रसेत पूर्वमक्षरम्।
दीर्घस्वरं प्रयुञ्जीयात्, पश्चान्नासिक्यामाचरेत्।।
हृदये चैकमात्रस्त्वर्ध मात्रस्तु मूर्धनि।
नासिकायां तर्थार्ध च रंगस्यैवं द्विमात्रता।।
हृदयाद्रुतकरे तिष्ठन् कांस्येन समनुस्वन्।
मार्दव च द्विमात्रं च जघन्वां इति निदर्शनम्।।
मध्ये तु कम्पयेत् कम्पमुभौ पाश्वौ समौ भवेत्।
सरंग कम्पयेत् कम्पं रथीवेति निदर्शनम्।।

तक्र विक्रय के प्रसंग में सौराष्ट्र देश की स्त्रियाँ 'तक्रँ' इस प्रकार शब्द प्रयुक्त करती हैं उसी प्रकार रंग अनुनासिक वर्णों का प्रयोग करना चाहिए। इस लौकिक दृष्टान्त के साथ ''रवे अरां इव खेदया'' वैदिक उदाहरण भी प्रस्तुत है।

उक्त कारिकाएं शब्दत: अथवा अर्थत: अनेक शिक्षा ग्रन्थों में भी समान रूप से उपलब्ध होती हैं।[4] याज्ञवल्क्य शिक्षा में रंग वर्णों के पांच भेद वर्णित हैं। याज्ञवल्क्य शिक्षा ग्रन्थ में इन रंग वर्णों का विवेचन पाँच श्लोकों में विस्तार से किया गया है जिसमें से प्रथम श्लोक यहाँ प्रस्तुत है।-

यथा सौराष्ट्रिका नारी अराँऽइत्यभिभाषते।
एव रंग प्रयोक्तव्यो उ.कारेण विवर्जित:।।

इसी प्रकार माण्डूक्यं शिक्षा, नारदी शिक्षा, मल्लशर्म शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, शम्भु शिक्षा एवं शै:शिरीय शिक्षा में रंग विषयक वर्णों के विशेष उच्चारण विधि प्रतिपादित है। अमोघानन्दिनी शिक्षा में पांच प्रकार के रंग वर्णों पर विचार किया गया है-

पञ्च रंगा प्रवर्तन्ते घातनिर्घातवज्रिण:।
अहिण: प्रहिणो ज्ञेयो यथा ऽऽई ऊ ऋ निदर्शनम्।।[2]

मल्लशर्म शिक्षा में रंग विषयक वर्णों के विषय में ग्रन्थकार का मत है-

ह्रस्वात्तु द्विगुणो दीर्घो दीर्घादेकगुण: प्लुत:।
प्लुतादेकगुणो रंगों रंगादेक गुणाधिक:।।3

सामवेदीय लोमशी शिक्षा में रंग वर्ण दो प्रकार के बताये गये हैं-

रंगस्तु द्विविधो ज्ञेय: स्वरपरो व्यजंन: पर:।
पारावत: सवर्णाभो सवर्णाभो विहितोऽक्षर चिन्तकै:।।[4]

अत: सभी शिक्षा ग्रन्थों के आधार पर यह प्राप्त होता है कि शुद्ध स्वर की अपेक्षा रंग स्वरों का उच्चारण कुछ विलम्ब से करना चाहिए।

प्रसिद्धि प्राप्त याज्ञवल्क्य शिक्षा में वर्ण समूहों को चार प्रकार से विभाजित कर विचार किया गया है - (1) स्वर, (2) स्पर्श, (3) अन्तस्थ, (4) ऊष्म, अनुस्वार, जिह्वामूलीय, उपध्यमानीय, रंग वर्ण और यम वर्णों को अलग-अलग बताया गया है। इस याज्ञवल्क्य शिक्षा में इन वर्णों की संकलित संख्या नहीं बतायी गयी है परन्तु इनके अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि इन्हें या इनको अष्टषष्टि: वर्ण अभिमत है। इनके अनुसार स्वरों की संख्या 23 है, वर्ण स्थान निरूपण के प्रसंग में दीर्घ लृकार को माना गया है। 33 स्पर्श वर्ण, विसर्ग, जिह्वामूलीय, नासिक्य अनुनासिक वर्णों की संख्या 6, यम 4, ह्रस्व, दीर्घ के भेद के अनुस्वार 2 माना गया है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य शिक्षा में 68 वर्णों की मान्यता है।

लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा में मुख्य रूप से वैदिक सन्धि विचार, विसर्ग-उच्चारण विधि एवं

उदात्तादि स्वरों का अङ्गुलयानिर्देश प्रकार इन तीन विषयों का निरूपण किया गया है।[1] वर्णरत्न प्रदीपिका में पाणिनीय शिक्षा की तरह तिरसठ वर्ण ही मान्य है, इसमें प्लुत लृकार को स्वीकार नहीं किया गया है। मल्लशर्म कृत शिक्षा ग्रन्थ में मुख्य रूप से हस्त स्वर प्रक्रिया पर विचार किया गया है। जयन्तस्वामी प्रणीत स्वराकुंश शिक्षा ग्रन्थ में आरम्भ से अन्त तक उदात्तादि स्वरों का विवेचन किया गया है इसमें जाति आदि स्वरित के भेदों का निरूपण वर्णित है। षट्श्लोकी शिक्षा में तिरसठ वर्णों की गणना की गई है इसमें 22 स्वर, 33 व्यञ्जन, 4 यम एवं अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय एवं उपध्यमानीय 1-1 मान्य हैं। दीर्घ लृकार ग्रन्थकार को मान्य नहीं है। अनन्तदेव विरचित अवसान निर्णय शिक्षा ग्रन्थ में यजु के गद्यात्मक मन्त्रों में उच्चारण में कहाँ-कहाँ कितने विराम होने चाहिए यह निर्णय किया गया है, अवसान शब्द का अर्थ यहाँ विराम से है।

उपलब्ध शिक्षा ग्रन्थों में वर्णों के स्वरूप, वर्णों की संख्या आदि के विषय में जो यत्किञ्चित् विरोधी मत प्रतिपादित हैं, ये चिन्तन के विषय हैं। स्थान आदि के भेद से देश काल आदि के भेद से असंख्य वर्ण हो जाते हैं, उन सभी का एकत्र समीक्षण किसी से सम्भव नहीं है। ये शिक्षा ग्रन्थ भी शाखा विशेष के सम्बन्ध में ही प्रवृत्त है। यद्यपि भगवान् पतजंलि प्रणीत महाभाष्य में - 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति'' इस वचन से स्पष्ट है कि एक शब्द का सम्यक् ज्ञान एवं उसका शुद्ध प्रयोग समस्त कामनाओं को प्रदान करता है। व्याकरण शास्त्र के द्वारा शब्दों का सही-सही शुद्ध ज्ञान होता है परन्तु इन स्वरों एवं वर्णों के शुद्ध प्रयोग का ज्ञान शिक्षा ग्रन्थों से ही हो सकता है। शिक्षा ग्रन्थों में प्रतिपादित विधि से उच्चारित करना ही सुप्रयोग है। जिसको शिक्षा ग्रन्थों के अध्ययन से जानना सम्भव है ना कि व्याकरण से। साधु वा असाधु प्रयुक्त शब्द से भी अर्थ बोध होता है, अर्थ प्रतीति में बाधा नहीं होती, किन्तु उस असाधु शब्द से पुण्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। कहना यह है कि, शुद्ध उच्चारण के लिए शिक्षा ग्रन्थों के अध्ययन के बिना व्याकरणशास्त्र का प्रयोजन अधूरा रह जाता है। द्रष्टव्य है-

भेदभेदकसम्बन्धोपाधिभेद निंबन्धनम्।
साधुत्वमतदभावेऽपि बोधोनेह निवार्यते।।[1]

कात्यायनी शिक्षा में वेद में आये हुए स्वरों पर प्रकाश डाला गया है। मुख्य रूप से स्वरित के सोदाहरण लक्षण का निरूपण किया गया है।

पाराशरी शिक्षा में त्रिमात्र, त्रिदेव, त्रिरूप, त्रिस्थान, त्रिगुण रूप प्राणों पर विचार कर स्वरों के पौर्वापर्य पर विचार किया गया है। लघु-लघुत्तर, गुरु-गुरुत्तर एवं वर्णों के विन्यास पर विचार कर वर्णोच्चारण की शुद्धता पर विशेष जोर दिया गया है-

अशुद्धतपठनाच्चैव नैव मोक्षं प्रपेदिरे।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शुद्धपाठी भवेद् द्विज:।।[2]

अमोघानन्दिनी शिक्षा ग्रन्थ में विलक्षण दृष्टान्तों के द्वारा वर्णोच्चारण विधि का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है[3]-

शून्ये गृहे पिशाचोऽपि गर्जते न च दृश्यते।

एवं वर्णा: प्रयोक्तव्या उपज्जमन्निति निदर्शनम्।।

स्फुरितं चिबुकोन्मूलं वायुना सम्प्रपूरितम्।

मण्डूकरस्फुरणं नाम अपाम्फेने निदर्शनम्।।

यथा बालस्य सर्पस्य निश्श्वासी लघुचेतस:।

एवमूष्मा प्रयोक्तव्यो हकारपरिवर्जित:।।

यथा कामातुरा नारी शब्दं करोति यादृशम्।

तच्छब्दं कुरुते प्राज्ञ: सिंहयसि निदर्शनम्।।

लध्वमोघानन्दिनी शिक्षा ग्रन्थ में शुद्ध वर्णोच्चारण पर ही विशेष जोर दिया गया है-

पादादौ च पदादौ च संय्योगावग्रहेषु च।

ज: शब्द इति विज्ञेयो योऽन्त्य: सय इति स्मृत:।।[4]

माध्यन्दिनीय शिक्षा में कहा गया है-

स्वरेण वर्णेन वा हीनो मन्त्रोऽभीष्टमर्थ न साधयति।

इत्येवं मन्त्रस्योच्चारणे सर्वथाऽवधातव्यमित्युक्तम्।।[1]

नव सूत्रों के द्वारा केशवी शिक्षा में आचार्य केशव ने समस्त अभिप्रायों को प्रस्तुत किया है। सामवेदीय लोमशी शिक्षा में कम्प पर विशिष्ट चर्चा की गई है।

द्रष्टव्य है-

केन कम्पातित: कम्प: संयोगो येन कम्पते।

किं वा कम्प इति प्रोक्तो येनासौ कम्प उच्यते।।[2]

अथर्ववेदीय माण्डूकी शिक्षा में द्रुत आदि भृत्तियों के लक्षण का निरूपण किया गया है। सामवेद में प्रतिपादित सप्तस्वरों का इस शिक्षा में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है3-

सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामाभि: सामगैर्बुधै:।

षड्ज-ऋषभ-गान्धारो, मध्यमः, पञ्चमस्तथा
धैवतश्च निषादश्च, स्वराः सप्ततु सामसु।।
षड्जे वदति मयूरा गावो रम्भन्ति चर्षभे।
अजा वदन्ति गान्धारे क्रौञ्चनादस्तु मध्यमे।।
पुष्प साधारणे काले कोकिलः पञ्चमे स्वरे।
अश्वस्तु धैवते प्राह, कुञ्जरस्तु विषादवान्।।

इन सप्त स्वरों का निरूपण नारदी शिक्षा में भी किया गया है।[4] करिणी-कुर्विणी, हंसपदा, स्वरभक्ति, विवृति आदि भेदों का भी भली-भांति निर्देश किया गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में भी ऋषि ने विस्तार से इसका प्रतिपादन किया है[5]-

करिणी कुब्विर्णी चैव हरिणी हरिता यथा।
तद्वद्धंसपदा नाम पञ्चैताः स्वरभक्तयः।।
करिणी रहयोर्योगे कुर्विणी लशकारयोः।।
या तु हंसपदा नाम सा तु रेफषकारयोः।
देवं वर्हिरिति करिंणि उपबल्हेति कुर्विणी।।
आचार्याः सममिच्छन्ति पदच्छेदन्तु पण्डिताः।
स्त्रियो मधुरमिच्छन्ति विक्रुष्टमितरे जनाः।।[1]

शुद्ध उच्चारण से इहलौकिक एवं पारलौकिक सकल मनोरथ को प्रदान करने वाली कामदुहा[2] जिस संस्कृत भाषा की शुद्धता के लिए शिक्षा ग्रन्थों के प्रणयन की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है आज नयी शिक्षा नीति में माध्यमिक स्तर पर उस संस्कृत भाषा को महत्त्व नहीं दिया जा रहा है। इस वर्तमान के आधार पर भविष्य का आकलन किया जा सकता है कि आगे स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में इस संस्कृत भाषा एवं उससे सम्बद्ध साहित्य की क्या गति होगी, परन्तु मेरा दृढ़ अभिमत है कि इस संस्कृत भाषा का विनाश किसी के चाहने से या विविध प्रयत्नों से सम्भव नहीं है क्योंकि यह तो ठहरी दैवी वाक्।[3] यह देवताओं की अमरभाषा है, अमृतभाषा है इसी कारण अनेक विपत्तियों का सामना करती हुई यह आज भी विद्यमान है और भविष्य में भी गरिमा के साथ विद्यमान रहेगी। और इस भाषा को यथोचित सम्मान प्रदान कर हम राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रीयता के भाव का परिचय दे सकेंगे तथा अपने राष्ट्र में आत्म चेतना का द्वीप प्रज्वलित कर सकेंगे और तब शिक्षा अपने आदर्श स्वरूप को प्राप्त कर पायेगी।

1 काव्यादर्श- दण्डी 1-3

2 विलड्यूरा Our Oriental Heritage

3 शुक्ल यजु प्रातिशाख्य सूत्र

4 भाष्यकार उब्बट आदिशब्देन वर्णायमलोपविकारा गृह्यन्ते।

5 पाणिनीय शिक्षा-42

6 ऋक्पातिशाख्यभाष्य-विष्णुमित्र

7 सायण : ऋग्वेदभाष्य भूमिका

8 विष्णु पुराण-प्रायश्चित्तत्त्वम् वामन शिवराम आप्टे-संस्कृत अंग्रेजी कोश

9 डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा

10 कीलहार्न महोदय द्वारा इण्डियन एण्टीक्वेरी पत्रिका में इसे स्वीकार किया गया है।

11 वेदलक्षणानुक्रमणिका नामक हस्तलिखित ग्रन्थ में इसका उल्लेख है।

12 तैत्तिरीयोपनिषद: शीक्षावल्ली (कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक 7) सांहिती उपनिषद्

13 शांकर भाष्य।

14 आचार्य पतञ्जलि-महाभाष्य, पाणिनीय शिक्षा-52, मल्लशर्म शिक्षा-6, अमोघानन्दिनी शिक्षा 122, माध्यन्दिनीय शिक्षा-1, नारदी शिक्षा-5

15 वाक्यपदीय, 1.123

16 पाणिनीय शिक्षा- 25, नारदी शिक्षा द्वितीय प्र0पा0 8.30

17 पाणिनीय शिक्षा-23

18 पाणिनीय शिक्षा-26-30

19 याज्ञवल्क्य शिक्षा, 190-194

20 अमोघानन्दिनी शिक्षा, 43

21 मल्लशर्म शिक्षा, 45

22 सामवेदीय लोमशी शिक्षा, 06

23 लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा

24 भूषणसार:

25 पाराशरी शिक्षा:

26 अमोघनन्दिनी शिक्षा : 50, 51, 61, 63

27 लघ्वमोधानन्दिनी शिक्षा-01, याज्ञवल्क्य, 150

28 माध्यन्दिनीय शिक्षा :

29 सामवेदीय लोमशी शिक्षा : 03

30 अथर्ववेदीय माण्डूकी शिक्षा : 7-10

31 नारदी शिक्षा द्वितीय कण्डिका : 4-9

32 याज्ञवल्क्य शिक्षा : 98-100

33 अथर्ववेदीय माण्डूकी शिक्षा : 178 याज्ञवल्क्य शिक्षा : 120, नारदी शिक्षा, कण्डिका 3.13

34 (क) गौर्गौः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते वुधैः दण्डी, काव्यादर्श 1-6

(ख) एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति, महाभाष्य, 6-1-84, वा.5

35 संस्कृत नाम दैवीवागन्वाख्याता महर्षिभिः दण्डी, काव्यादर्श 1-33

'ऋग्वेद में मोक्ष की अवधारणा'

डॉ0 उमाकान्त यादव
रीडर, संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्राचीन भारतीय परम्परा मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार करती है। √मुच्लृ मोचने धातु से व्युत्पन्न मोक्ष शब्द का शाब्दिक अर्थ है-छुटकारा पाना। सामान्यतया भारतीय दर्शन में दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाने को मोक्ष की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इसे भारतीय दर्शन की विविध विधाओं में इस प्रकार व्यक्त किया गया है - **चार्वाक** देह को ही आत्मा मानते हैं। उनकी दृष्टि में देह का विनाश ही मोक्ष है - **देहच्छेदोमोक्षः।**[1] जबकि बौद्धों का मानना है कि विविध दुःखों का अन्त ही मोक्ष या निर्वाण है।[2] **जैनमतावलम्बी** कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने को मोक्ष कहते हैं।[3] न्यायदर्शन जन्म रूप दुःख को सदैव विमुक्ति को मोक्ष कहता है - **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।**[4] यहाँ मोक्ष की अपवर्ग संज्ञा है। इसी तरह **वैशेषिकों** का मानना है कि जिस प्रकार अग्नि ईंधन को भस्म करके शान्त होती है, वैसे दुःखों से निवृत्ति मोक्ष है। यहाँ मोक्ष निःश्रेयस के रूप में परिलक्षित है।[5] सांख्य-मतानुसार त्रिविध दुःखों (आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक) की आत्यान्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है - **अथ त्रिविधदुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।** **योगदर्शन** में मोक्ष की शास्त्रीय संज्ञा कैवल्य है जहाँ जीवात्मा स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है--**तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानं।**[7] **मीमांसक** प्रपञ्च के साथ जीव के सम्बन्ध के विलय को मोक्ष कहते हैं- **प्रपञ्च सम्बन्धविलयोमोक्षः।**[8] वेदान्त अविद्या निवृत्ति को मोक्ष मानता है- **अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः।**[9] यहाँ मोक्ष ब्रह्मभाव है- **'ब्रह्मभावश्चयंमोक्षः'**। सकल प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म है, ब्रह्म में ही सकल प्रपञ्च है या अविद्याकृत है। जब अविद्याकृत है। जब अविद्या ज्ञान से निवृत्त हो जाती है तो ब्रह्म ही एकमात्र रहता है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रहता अविद्या निवृत्ति मोक्ष है और अविद्या संसार है।[1] आचार्य **मध्वाचार्य** ब्रह्म की प्रसन्नता से वैकुण्ठ प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं।[2] जबकि **बल्लभाचार्य** का मानना है कि भगवत् स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष है। इस अवस्था में जीव अपने अन्यथाभाव को त्यागकर उसी के स्वरूप में स्थित हो जाता है। बल्लभ मत के अनुसार अविद्या की निवृत्ति होने पर जीवनमुक्ति प्राप्त होती है। पुनश्च भगवान् की विशेष कृपा से परम व्योम में प्रवेश करने पर परम मुक्ति मिलती है। यहाँ जीवन्मुक्ति में सगुणभाव तथा परममुक्ति में निर्गुणभाव का प्रदर्शन है।[3] **निम्बार्क** के अनुसार मुक्ति भव-बन्धन का उच्छेद है। उन्होंने भगवान् के मधुररूप तथा कान्ताभक्ति पर अधिक बल दिया है। उनकी दृष्टि में माधुर्य, सौन्दर्य, लावण्य, मृदुलता तथा सौकुमार्य में ब्रह्म से अभिन्नता प्राप्त होती है।[4] इस तरह भारतीय दर्शनों में दुःखों से सर्वथा मुक्त हो जाने को अपवर्ग, निर्वाण, आर्हतीदशा, स्वरूपावस्थान या

कैवल्य, नि:श्रेयस, प्रपञ्च सम्बन्धी विलय, ब्रह्मपदप्राप्ति, परमपुरुषार्थ आदिरूपों में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। यद्यपि ऋग्वेद में मोक्ष सिद्धान्त का वह विकसित दार्शनिक स्वरूप परिलक्षित नहीं होता जो भारतीय दार्शनिक विधाओं में उपलब्ध होता है। फिर भी ऋग्वेद की ऋचाओं में ऋषियों द्वारा देवताओं से अमृतत्व प्राप्ति, परमपद की प्राप्ति, दु:ख एवं बन्धनों से मुक्ति की कामनाओं तथा देवयान, अहं एवं त्वं पद द्वारा अग्निदेव के साथ एकरूपता स्थापित करने एवं अमरज्योति, ध्रुवज्योति विषयक परिकल्पनाओं में परमपुरुषार्थ मोक्ष के सिद्धान्त की मूल प्रवृत्ति के बीज को देखा जा सकता है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के एक मन्त्र में अग्नि की ज्वाला को मुमुक्ष्वः (मोक्ष प्रदान करने वाली) कहा गया है।[5] **रामगोविन्द त्रिवेदी** ने भी मुमुक्ष्वः का अर्थ 'मोक्षप्रदा' किया है।[6] **सायण** ने यहाँ मुमुक्ष्वः का अर्थ 'मोक्षप्राप्त करने की इच्छावाली' किया है।[7] यद्यपि मुमुक्षु शब्द ऋग्वेद में मात्र एक स्थान पर प्रयुक्त है, जो निश्चित रूप से मोक्ष के सम्प्रत्यय को उद्घाटित करता है, भले ही भाष्यकार यहाँ इसे अलग-अलग अर्थों में ग्रहण करें। इस पद के प्रयोग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋषियों के मस्तिष्क में मोक्ष विषयक परिकल्पना अवश्य विद्यमान थी।

ऋग्वेद में प्रयुक्त अमृतत्व शब्द मोक्ष का ही द्योतक है। नवम मण्डल के एक सौ तेरहवें सूक्त के कई मन्त्रों में पवमान सोम से अमर होने की कामना की गई है। उदाहरणार्थ - एक मन्त्र में कहा गया है कि हे सोम! जहाँ आनन्द, हर्ष, आह्लाद और प्रमोद विद्यमान है एवं जहाँ सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण होती हैं, वहाँ मुझे अमर कर दो।[1] इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में सोम को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि हे सोम! मुझे इस अमृतलोक में अमर बना दो, जहाँ अविनश्वर प्रकाश है।[2] इसी तरह अन्य मन्त्रों में भी सोम से अमर होने की कामना की गई है।[3] प्रथम मण्डल के एक मन्त्र में मरुत्गणों से निवेदन है कि हे मरुत्गणों! तुम्हारा स्तोता अमर हो- **'स्तोता वो अमृतः स्यात'**।[4] इसी तरह सातवें मण्डल के एक मन्त्र में रुद्र से कामना है कि मुझे मृत्यु के बन्धन से मुक्त करो किन्तु अमरत्व से नहीं - **'बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।'**[5] अथर्ववेद में भी - **'परैतु मृत्युरमृतं न एतु'**[6] कहकर मृत्यु को दूर करने तथा अमृत को प्राप्त करने की कामना की गई है। 'यहाँ भी अमरत्व प्राप्ति की ही अभिलाषा है। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में पितरों के लिए अमरलोक में सोम, घृत एवं मधु के प्रवाह का उल्लेख है।[7] इन सन्दर्भों से यह व्यक्त होता है कि मृत्यु के बाद मानव एक ऐसे विलक्षण लोक में जाता है जो सारी रमणीयताओं से परिपूर्ण है, जो पुण्यात्माओं के लिए है। ऋग्वेद में इसे सुकृतों का लोक कहा गया है- **ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्।**[8] इस लोक में जाने के लिए जिन पुण्यकर्मों की आवश्यकता है उनका वर्णन भी वैदिक ऋचाओं में प्राप्त होता है। अमरलोक उन व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो कठोर तपश्चर्या करते हैं, जो युद्ध में राष्ट्र के लिए लड़ते हुए वीरगति प्राप्त करते हैं और जो

प्रचुर दक्षिणा प्रदान करते हैं।

अमरता का सौरजगत् से भी सम्बन्ध परिलक्षित होता है। चतुर्थ मण्डल के एक मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि सूर्य की किरणों के द्वारा मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है।[1] उपांशुना सममृततवमानट्।[2]

मोक्ष को 'परमपद' के नाम से अभिहित किया गया है। यह वही शाश्वत प्रकाश का लोक है।[3] जिसमें निहित प्रकाशमान विश्व आलोकित हो रहा है। माण्डूक्योपनिषद् में इसी को ब्रह्मधाम कहा गया है जिसे निष्कामसाधक परमपुरुष की उपासना कर प्राप्त करता है।[4] ऋग्वेद में भी विष्णु के आनन्दमय 'परमधाम' का उल्लेख है। जहाँ कहा गया है कि विष्णु का यह परमधाम द्युलोक में फैले हुए प्रकाश के समान है जिसे ज्ञानी सदा देखते हैं। **तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।**[5] विष्णु का यह परमधाम मोक्ष को ही इंगित करता है। प्रथम मण्डल के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि मैं विष्णु के उस प्रिय स्थान को प्राप्त करूँ, जहाँ देवत्व को प्राप्त करने वाले मनुष्य आनन्द करते हैं – **'तदस्यमभि प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवोमदन्ति।'**[6] सायण ने यहाँ पाथः का अर्थ 'अविनश्वर' ब्रह्मलोक किया है।[7] इसी मन्त्र में आगे कहा गया है कि विष्णु के परमधाम में अमृत का झरना बहता रहता है–**'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।**[8] यहाँ सायण ने परमपद का सुखात्मक, भूख, प्यास, जरा मरण तथा पुनरागमन इत्यादि के भय से रहित और संकल्प मात्र से ही अमृतकुल्यादि भोगों के प्राप्ति स्थान के रूप में स्वीकार किया है।[9] विष्णु का प्रिय स्थान जिसे सायण ने ब्रह्मलोक कहा है और उन्होंने उस स्थान की जो विशेषतायें इंगित की है, उससे यह द्योतित होता है कि मुक्त होने के बाद आत्मा वहीं निवास करता है। यह परमपद सबका काम्य है अतः तत्कालीन युग में उसकी प्राप्ति परम पुरुषार्थ रहा होगा। जो अवान्तरकालीन दर्शन में मोक्ष की संज्ञा से अभिहित किया गया। **एच0 जी0 नरहरि** का कथन है कि विष्णु का परम धाम मन्त्रद्रष्टा ऋषियों एवं विशेष रूप से केवल उन्हीं लोगों के लिए प्राप्य था जो अपनी दया एवं भक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं।[1] **गीता** में भी सम्भवतः इसी को परमधाम कहा गया है **यं प्राप्य न निवर्तन्तेतद्धामं परमं मम।**[2]

ऋग्वेद में ऋषियों द्वारा देवताओं से की गई दुःख एवं बन्धनों से मुक्ति की प्रार्थनाओं में भी मोक्ष की भावना का उत्स देखा जा सकता है। प्रथम मण्डल के एक मन्त्र में वरुण देवता से प्रार्थना की गई है कि हे वरुण! हमारे किये गये पापों से हमें मुक्त कर दो – **कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत्।**[3] द्वितीय मण्डल के एक मन्त्र में ऋषि वरुण से प्रार्थना करता है कि जिस प्रकार बछड़े को रस्सी से खोलकर उसे मुक्त किया जाता है उसी प्रकार आप मुझसे पाप बन्धन को छुड़ा दो।[4] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के एक सम्पूर्ण सूक्त में **'अप नः शोशुचदघम्'** इस ध्रुव पंक्ति के द्वारा अग्निदेव से पाप नष्ट करने की प्रार्थना की गई है।[5] इसी तरह ऋग्वेद में

मृत्यु के बन्धन से मुक्ति की भी कामना है। मृत्यु का भय जीवन का सबसे बड़ा भय है।[6] ऋग्वेद के सातवें मण्डल के एक मन्त्र में ऋषि की प्रार्थना है कि मैं पके खरबूजे की भाँति मृत्यु के बन्धन से छूट जाऊँ। एक अन्य मन्त्र में इन्द्र का कथन है कि मैं कभी मृत्यु के लिए प्रस्तुत नहीं होता - **न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।**[7] दशम मण्डल की एक ऋचा में इन्द्र देवता से मुक्ति की कामना करते हुए ऋषि का कथन है कि हे इन्द्र! अन्धकार को दूर करो, हमारे पशुओं को तेज से भर दो और जाल से बंधे हुए की भाँति हमें मुक्त कर दो।[8] **जयदेव विद्यालंकार के अनुसार** अज्ञान ही मानव के बन्धन का कारण है। यहाँ अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान चक्षुओं को पूर्ण करने का अभिप्राय भी ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती - **ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः।**[9] क्योंकि ब्रह्मज्ञान से समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं। **मुण्डकोपनिषद्** में कहा गया है - कार्यकारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तम को तत्त्व से जान लेने पर इस जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय समाप्त हो जाते हैं और शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं -

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।1

ऋग्वेद में देवयान की परिकल्पना भी मोक्ष की भावना को पुष्ट करती है। यद्यपि वैदिक ऋचाओं में 'देवयान' शब्द द्वारा मोक्ष का मार्ग उस रूप में स्पष्ट नहीं है जिस रूप में उपनिषदें स्वीकार करती हैं, किन्तु इसके द्वारा औपनिषद् दर्शन में स्थापित मोक्ष सिद्धान्त के विकास को प्रेरणा अवश्य मिली होगी। ऋग्वेद में देवयान शब्द 14 बार प्रयुक्त हुआ है।[2] सायण ने प्रायः सभी स्थलों पर इसका अभिप्राय दो रूपों में ग्रहण किया है-(1) वह मार्ग जिससे मनुष्य देवताओं तक जाते हैं (2) वह मार्ग जिससे देवता यात्रा करते हैं और उपासकों की छवि ग्रहण करने आते हैं।[3] **डॉ0 गणेश दत्त शर्मा के अनुसार** - देवयान मोक्ष का मार्ग है जिसमें प्रयाण करते हुए जीव फिर जन्म-मरण के चक्र में नहीं आता।[4] **छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार** जो लोग पंचाग्नि विद्या को जानते हैं तथा वन में श्रद्धा एवं तप में रत रहते हैं, वे मरने के बाद, वे अर्च के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं.......अन्त में वहाँ एक अमानव पुरुष है जो उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। यह देवयान मार्ग है।[5] देवयान मार्ग में प्रकाश ही प्रकाश है जो निष्काम कर्म वालों का मार्ग है। **डॉ0 गणेश दत्त शर्मा** कठोपनिषद् में इसे श्रेय मार्ग की संज्ञा से अभिहित स्वीकार करते हैं।[6] दशम मण्डल के एक मन्त्र में अग्निदेव से देवयान मार्ग को सुखप्रद बनाने की प्रार्थना की गई है।[7]

उपनिषदों में जीव और ब्रह्म के ऐक्यज्ञान को मोक्ष स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में इस भावना का निदर्शन उस समय परिलक्षित होता है। जब साधक अग्निदेव के साथ एकरूपता स्थापित करने की परिकल्पना करते हुए कहता है कि हे अग्नि! यदि मैं तुम हो जाऊँ तो तू मैं

बन जा तब इस लोक में तेरे आशीर्वाद सत्य हों। तो यहाँ अहं एवं त्वं के अभेद की इस प्रार्थना में आत्मा एवं परमात्मा की एकता सम्बन्धी दार्शनिक भावना परिलक्षित होती है जिसे उपनिषदों में प्रज्ञानं ब्रह्म1, अहं ब्रह्मास्मि2, तत्वमसि3, अयमात्मा ब्रह्म4 आदि महावाक्यों के द्वारा निरूपित किया गया है।

ऋग्वेद में अमरज्योति विषयक परिकल्पना मोक्ष की परवर्ती अवधारणा के प्रेरक तत्व के रूप में स्वीकार की जा सकती है छठे मण्डल के एक मन्त्र में ऋषि कहता है कि वह आत्मा मनुष्यों में अमरज्योति के रूप में हैं - **'इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु'**।[5] आगे इसी सूक्त में कथन है कि दर्शन करने के लिए ध्रुवज्योति अन्तर्निहित है-**ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कम्**।[6] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि हृदय में दिव्य ज्योति आत्मा है, विद्वान् उसे ज्ञान नेत्र से देखते हैं **दिवस्पदम्......गुहा हितम्, सूरः पश्यति चक्षसा**।[7] **वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्**[8] अर्थात् 'यह आत्मा रूपी ज्योति हृदय में निहित है' के द्वारा भी इसी कथन का समर्थन किया गया है। आदित्यों को सम्बोधित एक अन्य मन्त्र में कामना है कि मैं आपकी कृपा से अभयज्योति को प्राप्त करूँ-**युष्मानीतो अभयंज्योतिरश्याम्**।[9] **छान्दोग्य उपनिषद्** में वर्णित है कि आत्मा इस शरीर से उत्थान कर 'परमज्योति' को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से युक्त हो जाता है।[10] उपनिषद् में वर्णित परम ज्योति को संभवतः अमृतज्योति, ध्रुवज्योति, तथा अभयज्योति के रूप में द्योतित किया गया है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के चौवीसवें सूक्त के प्रथम मन्त्र में एक जिज्ञासा व्यक्त की गयी है कि हम अनेक अमृतों में से किस अमृत स्वरूप देव के सुन्दर नाम का मनन करें?[11] इस जिज्ञासा के उत्तर में इसी सूक्त के अग्रिम मन्त्र में कहा गया है कि हम अमृतों में सर्वप्रथम एवं समस्त ब्रह्माण्ड के अग्रणी उस दिव्य प्रकाशमय अग्नि देव के नाम का मनन करें-**अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम**।[1] यहाँ दिव्य ज्योतिर्मय अग्निरूप परमेश्वर का तादात्म्य उपनिषदों में वर्णित परमज्योति से किया जा सकता है जो ज्योति स्वरूप हर जीव के हृदय रूपी गुहा में स्थित है, जिसके दर्शन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का संन्देश याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को इस रूप में दिया था - **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'**।[2]

इस तरह ऋग्वेद में अमृतत्व प्राप्ति, परमपद की प्राप्ति, दुःख एवं बन्धनों से मुक्ति हेतु की गई प्रार्थनाओं तथा देवयान, अहं एवं त्वं पद के द्वारा अग्निदेव के साथ तादात्म्य स्थापित करने एवं अमरज्योति, ध्रुवज्योति एवं अभयज्योति के द्वारा परमज्योति विषयक परिकल्पनाओं के द्वारा मोक्ष की अवधारणा को व्यक्त किया जा सकता है। यद्यपि ऋग्वेद में मोक्ष की अवधारणा उस रूप में विकसित नहीं प्राप्त होती जो उपनिषदों एवं भारतीय दर्शन की विविध-विधाओं में विकसित रूप से वर्णित है तथापि मोक्ष विषयक चिन्तन के मूल तत्त्व ऋग्वैदिक ऋचाओं में यत्र तत्र बिखरी

अवस्था में अवश्य प्राप्त होते हैं, जो मोक्ष सिद्धान्त के विकास में सहायक हैं।

1. सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ 9
2. संयुत्तनिकाय, 15.3
3. तर्कसूत्र 10.1
4. न्यायसूत्र 1.1.22
5. यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धि: स:धर्म:। वैशेषिक सूत्र-1.1.2
6. सांख्यसूत्र 1.1
7. योगसूत्र 1.3
8. मीमांसादर्शन, शास्त्रदीपिका, पृष्ठ 358
9. ब्रह्मसूत्र 1.1.4 पर शांकर भाष्य-1
10. अविद्यास्तमयो मोक्ष: सा संसार उदहृता
    विद्यैव चाद्धयाशान्त तदस्तमय उच्यते।। ब्रह्मसिद्धि 3.106
11. सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ 279
12. प्रो0 संगमलाल पाण्डेय, भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण-वैष्णवमत, पृष्ठ 292
13. वही, पृष्ठ 289
14. 1.140.4 पर सातवलेकर का हिन्दी अनुवाद
15. वही, रामगोविन्द त्रिवेदी का हिन्दी अनुवाद
16. 'मुमुक्ष्व: मुमुक्ष्व: आहुतिद्वारा यजमानं मोक्तुमिच्छन्त्य: ब्रह्मलोकं प्रापयन्त्य:'। ऋ0 1.140. 4 पर सायण भाष्य।
17. यत्रानन्दश्च मोदाश्च मुद: प्रमुद आसते।
    कामस्य यत्राप्ता: कामास्तत्र माममृतं कृधि........। ऋ0 9.113.11
18. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम।
    तस्मिन् मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित.....। ऋ0 9.113.7
19. ऋ0 9.113, 8, 9, 10
20. ऋ0 1.38.4
21. ऋ0 7.59.12
22. अथर्व0 18.3.62
23. ऋ0 10.154.1
24. ऋ0 10.16.4
25. ऋ0 10.154.2, 3
26. ऋ0 4.58.1
27. ऋ0 9.113.7
28. मुण्डकोपनिषद 3.2.1
29. ऋ0 1.22.20

30. ऋ0 1.154.5
31. वही सांषण भाष्य
32. वही 1.154.5
33. वही सायणभाष्य
34. एच0 जी0 नरहरि, आत्मन्, अध्याय-4, पृष्ठ 81
35. श्रीमद्गवद् गीता 8.21
36. ऋ0 1.24.9
37. दामेव वत्साद् वि मुगुग्ध्यहों नहि त्वदारे निमिषश्चनेशे। ऋ0 2.28.6
38. ऋ0 1.97.1-8
39. ऋ0 7.59.12 एवं यजुर्वेद 3.60
40. ऋ0 10.48.5
41. ऋ0 10.73.11अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्स्मान् निध्येवबद्धान्?
42. ऋ0 10.73.11 पर जयदेव विद्यालंकार का भाष्य।
43. मुण्डकोपनिषद् 2.28
44. ऋ0 1.72.7, 162.4, 183.6, 3.5.8.5, 4.37.1 5.43.6, 7 38.8, 76.2, 10.18.1, 2, 5, 98.11, 181.3
45. वही, सायण भाष्य
46. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व, पृष्ठ 152
47. छान्दोग्य उपनिषद् 5.10.1-2
48. ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व, पृष्ठ 153
49. ऋ0 10.51.5, सुगान् पथ: कृणुहि देवयानान्।
50. ऐतेय एप0 5.1
51. बृहदाण्यक उप0 1.4.10
52. दान्छोगय उप0 6.8.7
53. वृहदारण्यक उप0 2.5.19
54. ऋ0 6.9.4
55. ऋ0 6.9.5
56. ऋ0 9.10.9
57. ऋ0 6.9.6
58. ऋ0 2.27.11
59. ऋ0 दान्दो0 8.3.4
60. कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारू देवस्य नाम।
61. ऋ0 1.24.2
62. वृहदा 2.4.5

वैदिक और आधुनिक नारी-एक तुलनात्मक परिदृश्य

हरीश चन्द्र गुरुरानी
प्रोजेक्ट फेलो, संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी वि०वि०, हरिद्वार

आर्य नारी भारतीय संस्कृति के भव्यतम प्रासाद का आधार स्तम्भ है। यदि समाज को रथ मान लिया जाए तो नारी व पुरुष उस रथ को आगे बढ़ाने वाले दो समवाही पहिए हैं। नारी पुरुष की इच्छा का ही प्रतिपालन हैं। ऐसा कहा जाता है कि अपने जीवन को अनुरंजनकारी और जीने योग्य बनाने के लिए परम-पुरुष ने स्वयं अपने भीतर से प्रकृति की सृष्टि की। नारी पुरुष जन्य प्रकृति है। उसकी व्युत्पत्ति सोदेश्य है। अत: निसन्देह रूप से सार्थक और महत्वपूर्ण है। उसके अभाव में जीवन की पूर्णता की कल्पना नहीं की जा सकती है।

भारतीय मनीषा के अनुसार स्त्री-पुरुष एक ही परमतत्त्व के दो भिन्न अंग हैं-एक तेज द्वै नाम। नारी शब्द न + अरि से विनिर्मित होकर अपने अर्थवत्ता में विशाल फलक को रूपायित करता है। कोमलता, दृढता, इत्यादि गुण पुरुषों की अपेक्षा नारी में विशेष होने तथा रूप आकार, शरीर संगठन, कार्य-व्यापार एवं जीवन यापन की विविध स्थितियों में नारी विधाता की उच्चतम परिकल्पना मानी जाती है, अत: मानव जीवन का समस्त सौरभ इसी नारी नाम से निहित है।

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नम:।।[1] **दुर्गासप्तशती 5/**

नारी सशक्तीकरण से तात्पर्य-स्त्रियों का पुरुषों के समान वैधानिक, राजनीतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में उनके परिवार, समुदाय, समाज एवं राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निर्णय लेने की स्वायत्तता देना है। संसार की सबसे छोटी इकाई परिवार है तथा परिवार के सभी सदस्यों के सफल जीवन की सूत्रधारक नारी ही होती है। यदि परिवार सफल होगा तो समाज, देश तथा विश्व भी सफल होगा। नारी में निहित इन्हीं सम्भावनाओं को लक्ष्य करते हुए नेपोलियन ने कहा था- **''मुझे एक योग्य माता दो, मैं तुमको योग्य राष्ट्र दूंगा।''**[2]

प्राचीन काल से ही नारी की महत्ता एवं शक्ति को 'नारी तू नारायणी' जैसे कथनों से स्पष्ट किया गया है। उसके बिना अकेला पुरुष अपूर्ण और अधूरा समझा जाता है, इसीलिए स्त्री 'शरीरार्द्ध' और अर्द्धांगिनी कही गई। सृष्टि के आरम्भ से ही नारी में पृथ्वी की क्षमा, सूर्य जैसा तेज, समुद्र जैसी गम्भीरता, चन्द्रमा जैसी शीतलता और सर्वगुण सम्पन्नता रही है। नारी मनुष्य की जीवन दात्री है, जिसका त्याग और बलिदान, भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। मनु का भी कथन है कि अर्थात्-

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।

जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ नारी की पूजा नहीं होती वहाँ सारी क्रियाएं निष्फल हो जाती हैं[3]। नारी को देवी मानकर पूजा जाता था, उसे सदैव से ही सम्मान प्राप्त है। अपने धर्मशास्त्रों और धर्मावलम्बियों के दिये हुए मतों पर गौर करें या फिर अपने प्राचीन परम्पराओं के उदाहरणों पर नजर डालें तो ये सभी नर और नारी की समानता की बात को सिद्धान्ततया स्वीकार करते हैं।

भारतीय समाज और साहित्य में नारी त्याग तपस्या की देदीप्यमान मूर्ति है उसका गुण और स्वरूप दोनों ही जाज्वल्यमान है। हमारी आर्यनारी के जीवन का मूल तत्त्व है-त्याग तपस्या। बाल्यावस्था अर्थात् कन्या अवस्था में वह तपस्या का स्वाध्याय करती है और उत्तरावस्था यानी पत्नी एवं माता के रूप में वह त्याग की देवी बन जाती है। उसका त्याग कभी पति के लिए तो कभी माता के रूप में पुत्र एवं समाज के लिए होता है। कौमार्य काल नारी जीवन की साधनावस्था है तो उत्तर काल अर्थात् भार्या एवं मातृरूप सिद्धावस्था है। माता के रूप में नारी पूज्या है। तमाम तपस्या की देवी होने के नाते ही महाकवि वाल्मीकि ने आदि काव्य रामायण में श्री राम के मुख से-

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।[3]

कहकर स्वर्ग से भी माता को ऊँचा माना है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्य लोग नारियों का बहुत सम्मान करते थे। गृहणी ही घर की पर्याय मानी जाती थी। यह सर्वविदित है कि ऋषि, मुनि भी नारी के महत्व को समझते हुए वैवाहिक जीवन व्यतीत करते थे। आर्य लोग पूषा देवता से कमनीय कन्या की याचना करते थे।[5] और उनके पुत्र अर्थात् दौहित्र को अपना उत्तराधिकारी बनाते थे।[6] प्राचीन काल में स्त्रियाँ घर के कामों के साथ-साथ खेती का काम भी करती थी।[7] आमरण अविवाहिता रहने वाली कन्या अपने पिता के घर में हिस्सा पाती थी।[8]

वृद्धावस्था तक नारी की घर में प्रभुसत्ता होती थी।[9] पशु-रक्षिणी और वीर-प्रसविनी नारी के लिए देवों से बार-बार प्रार्थना की गयी है।[10] ऋग्वेद के अनेक मंत्रों से ज्ञात होता है कि स्त्रियों की शिक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध वैदिक काल में किया जाता था। स्त्रियाँ वेदाध्ययन करने के साथ-साथ कविताओं और मंत्रों की रचना भी किया करती थीं।

वैदिक चिन्तन कर्ता किसी नारी को भी हीन नहीं समझते थे। भारतीय संस्कृति में आज भी नारी को 'मातृ देवो भव' द्वारा नारी के अग्रिम स्थान की अभिव्यंजना होती है। ऋग्वेद में ही पत्नी को नेम अर्थात् अर्द्धांगिनी बतलाया गया है।[11]

तैधोत्तिरीय संहिता में पत्नी को आत्मार्द्ध के रूप में उद्‌घोषित किया गया है। यथा-

आर्थोहवा एवं आत्मानो यत् पत्नी[12]

इसी तथ्य को यजुर्वेद में सुपत्नी को नमन करते हुए कहा गया है-

तस्मै नमन्ता जनयः सुपत्नी-यजुर्वेद 12/25[13]

ऋग्वेद में ही नहीं, उपनिषदों में भी सुलभा, मैत्रेयी, गार्गी, वाचक्नवी आदि ऐसी स्त्रियों का उल्लेख है जो वेद का अध्ययन-अध्यापन करती थीं। इसी बात को आपस्तम्ब धर्मसूत्र (1.5.1-8) में भी विस्तृत रूप से लिखा गया है। यम स्मृति में लिखा है-

पुराकल्पे कुमारीणां मोञ्जीबन्धनमिष्यते।

अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनंतथा।।

पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः।।

अर्थात् पुराने समय में कन्याओं का उपनयन होता था, वे वेद पढ़ती थी और गायत्री का गान भी करती थीं। वैदिक काल में स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र धारण करती थीं (ऋग्वेद 10.114.3)। बुनाई का काम भी लगभग स्त्रियों के हाथ में होता था। वैदिक काल में स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य का पालन भी करती थीं। युवावस्था को प्राप्त होने के पश्चात् वे युवा और ब्रह्मचारी वर का वरण करती थीं।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् (ऋग्वेद 10.30.5-6)

कदाचित कुछ अधिक अवस्था में विवाह होता था। विवाह के लिए कुमारियों को बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त थी। कन्या को अपना वर चुनने की अनुमति थी। विवाह में कन्या को सौभाग्यवती और सुपुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया जाता था। (ऋग्वेद 10.85.25) विवाह में पत्नी का हाथ पकड़कर पति कहता था-

"गृम्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।

भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यां त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।" ऋग्वेद (10.85.36)

अर्थात् तुम्हारे सौभाग्य के लिए मैं तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। इस पति को प्राप्त होकर तुम वृद्धावस्था को प्राप्त होना, यही मेरी प्रार्थना है। भग अर्यमा और पूषा ने तुम्हें गृहकार्य चलाने के लिए तुम्हे मुझे दिया ही लज्जा को स्त्री का गहना समझा जाता था।

"अद्यः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।

मा ते कशप्लकौ दृशन्त्स्त्री हि ब्रह्माबभूविथ।।(ऋग्वेद-8/33/19)

सुन्दर स्त्री को प्रिया कहा गया था-

तस्माद्रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका (शतपथ 13.1.9.6)

आर्य लोग पत्नी को अर्द्धांगिनी कहते थे-

"अर्थो अर्द्धो वा एष आत्मनः। यत्पत्नी" (तैत्तरीय 3.3.3.5)

ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करें तो भारतीय समाज में नारी की स्थिति सदैव ही परिवर्तन शील रही है। "तत्कालीन समाज में नारी शिष्टाचार एवं आदर की पात्रा थी। वह मीठा बोलने वाली, सबका हित चाहने वाली, और बिना कारण किसी का विरोध न करने वाली थी। (सत्यार्थ प्रकाश-स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ0 85) देश की आजादी के बाद नारी की सामाजिक स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर आया है। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय पुरुष बाहुल्य समाज में आज भी नारी का व्यक्तित्व पुरुष द्वारा नियन्त्रित है। नारी का संरक्षक और पोषक बनकर पुरुष ने आज भी नारी को अनेक सामाजिक बन्धनों और मर्यादाओं में बांधकर रखा है। लेकिन आज की नारियाँ पूर्ण रूप से शिक्षित होकर आत्मनिर्भर बन रही हैं। सरकार द्वारा संचालित अनेक प्रकार की योजनाओं जैसे "बालिका समृद्धि योजना" कन्या-विद्या-धन" आदि योजनाओं और वैचारिक आन्दोलनों ने उनमें नया प्राण फूंका है और इसका सशक्त प्रमाण है मेरिट लिस्टों में सर्वतः लड़कियां अपने नाम को दर्ज करा रहीं हैं। बरसों से पुरुष-प्रधान परिवार और समाज की अवहेलनाओं और वर्जनाओं का गरल पीते-पीते आधुनिक नारी विक्षुब्ध हो उठी है।

आज उसने वैवाहिक संस्था के प्रति भी विद्रोह किया है। वह अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी भी लंगड़े-लूले अपाहिज या नपुंसक व्यक्ति को पति रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है। आज वह भी पुरुष की तरह स्वच्छन्द प्रेम और मुक्त भोग में विश्वास करने लगी है। सुख-सम्पन्नता, ऐशो-आराम विलास काम सम्बन्धों की स्वतन्त्रता उसे मिल चुकी है। आज उसे पुरुषोचित समाज की वैसाखी का सहारा नहीं लेना पड़ रहा है। आज वह डॉक्टर बनकर रूग्ण जनों की सेवाकर रही है और वकील बनकर अपने अधिकारों के लिए आवाज उठा रही है। आज वह प्रत्येक समाज का आधा भाग है।

"कभी स्त्री के लिए डाक्टरनी और मास्टरनी बनना भले ही फैशन अथवा गौरव की बात रही हा लेकिन आज यह हर नारी की जरूरत हो गई है।।[1] आज खगोल से लेकर वह पृथ्वी के अन्तरतम को भेद रही है। कभी कोमलांगी कहलाने वाली नारी आज दुश्मन के छक्के छुड़ाने को उतावली हो रही है। आज वह सीता और सावित्री के रोल का अभिनय करती हुई "सास और बहू" की जागरूकता में परिणत हुई है। आज नारी महिलाओं की अधीनता को समाप्त करने के लिए विश्वव्यापी लिंग आन्दोलन (Gender Revalution) की आकांक्षिणी है। आज वह महिला उत्पीड़न का हर स्तर पर 'महिला आयोग' (Women commision) द्वारा विरोध कर रही है।

आज की नारी निम्न आन्दोलनों से जुड़ी हुई देखी जा रही है- अकादमिक नारीवाद (Academic feminism) सांस्कृतिक नारीवाद(Cultural feminism) उदारवादी नारीवाद (Libral feminism) मनोविश्लेषणात्मक नारीवाद (Psycheanalytic femisism) राजनैतिक समलैंगिक वाद (Poltical Lesbioanism), उग्रवादी नारीवाद (Radical feminism) समाजवादी नारीवाद (Socialist feminism) आदि।

सिमोन ने स्त्रियों को जागरूक करते हुए 1949 में अपनी पुस्तक The second sex में लिखा था कि- "औरत पैदा नहीं होती, बल्कि बना दी जाती है"। स्त्री-सुलभ गुण-दोष या व्यक्तित्व लिंग भेद के प्राकृतिक आधार पर नहीं वरन् संस्कार और सीख के आधार पर उनमें आधानित किए जाते हैं। स्त्री-विमर्श महिला सशक्तीकरण के वर्ष में महिला आरक्षण का प्रश्न संसद में बार-बार गिर पड़ता है। 21वीं सदी के आते ही नारी घर की चार दीवारी से बाहर निकलकर समाज में अपना अस्तित्व बना रही है। आज महिला आरक्षण, महिला सशक्तीकरण, भ्रूण हत्या पर रोक, निशुल्क महिला शिक्षण, महिला कल्याण समिति, नारी मुक्ति आन्दोलनों का प्रभाव उसके दैनिक जीवन को पूर्णता प्रदान कर रहा है।

आज की नारी सानिया मिर्जा, कल्पना चावला, सुनीता विलियम्स, अरुंधती राय, सोनिया गांधी और सुषमास्वराज के रूप में भारतीय नारी को नेतृत्व प्रदान कर रहीं हैं। आज नारी गर्भ में ही अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही है। आज उसे शिक्षित करके ही नारी कल्याण की बात सोची जा सकती है। स्त्री पुरुष अनुपात भविष्य में हमें सृष्टि में असंतुलन को जन्म देगा। अतः आज से ही हमें जागरूक होना होगा, तभी महिला सशक्तीकरण को सार्थक रूप में जाना जा सकेगा।

1. नेपोलियन बोनापार्ट
2. मनुस्मृति 3/56
3. वाल्मीकि रामायण-
4. ऋग्वेद 9.67.1011
5. ऋग्वेद 3.31.12
6. ऋग्वेद 1.135.7
7. ऋग्वेद 2.17.7
8. ऋग्वेद 10.05.27
9. ऋग्वेद 10.85.44
10. ऋग्वेद 10.85.29
11. राजेन्द्र यादव उखड़े हुए लोग, पृ0 96

रजि० पंजीकरण सं० : एल-1277

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

जून, जुलाई, अगस्त

2007

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग

अध्यक्ष, प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक मण्डल

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334-245975

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

वेदमञ्जरी

आचार्यः रामनाथ वेदालङ्कारः

तेजस्विना परमेश्वरेण संबन्धं स्थापय

वाजयन्निव रथान् योगानग्नेरुप स्तुहि।
यशस्तमस्य मीळहुषः॥ (ऋग्. २.८.१)

ऋषिः गृत्समदः। **देवता** अग्निः। **छन्दः** गायत्री।

हे अन्तरात्मन्! (**वाजयन्**) वेगमिच्छन्, आत्मबलविज्ञानाद्यैश्वर्याणि च कामयमानः त्वम् (**यशस्तमस्य**) यशस्वितमस्य (**मीढुषः**) सुखवर्षकस्य (**अग्नेः**) परमेश्वरस्य (**योगान्**) संबन्धान् (**उपस्तुहि**) गाय, कामयस्व, (**इव**) यथा (**वाजयन्**) वेगमिच्छन् जनः (**नु**) शीघ्रम् (**रथान्**) भूयानजलयानविमानादीन् (**उपस्तौति**) वर्णयति, कामयते वा॥

यदा मनुष्यः सद्यो वेगपूर्वकं क्वचिद् गन्तुमभिलषति, तदा स कञ्चिद् वेगगामिनं विमानादिकं कामयते तं प्राप्य, तमारुह्य सुदीर्घमपि मार्गम् अनायासम् स्वल्पसमयेनैव पारयति। हे अन्तरात्मन्! त्वयापि स्वकीयं मुक्तिरूपं लक्ष्यं निर्धारितमस्ति। तच्च दूरस्थं विद्यते। कालः स्वल्पः लक्ष्यं च दूरं विद्यते। साधनान्यल्पानि मध्ये धर्मार्थकामानां शिविराण्यपि सन्ति। कथं त्वं मार्गस्य पारं गमिष्यसि? त्वयापि वेगवत् साधनम् अपेक्ष्यते। अतस्त्वम् अग्नेः परमेश्वरस्य योगरूपं रथम् आरुढो भव। तेन तेजोमयप्रभुणा अध्यात्मसंबन्धं स्थापय। ऋषिभिः तेन सहयोगं कर्तुम् अष्टाङ्गयोगस्य मार्गो निर्धारितः। तं मार्गमवलम्ब्य त्वं तेन सह योगं कुरु। स परमेश्वरो यशस्वितमो वर्तते। जगतः सूर्यचन्द्रविद्युत्प्रभृतितेजोमयपदार्थेभ्योऽपि असौ अधिककीर्तिशाली विद्यते। तस्य योगरूपा रथा अपि तथैव वेगवन्तः सन्ति । स परमेश्वरो मीढ्वान् वर्तते। स्वात्मना सह रथारूढजनस्योपरि स आत्मबल-वेग-सद्गुणादीनां वृद्धिं करोति। त्वं तद्रथारोहणं परीक्षस्व, कियता वेगेन लक्ष्यं प्रति तव गतिर्भवति।

'वाज' शब्दो वेगातिरिक्तम् इतरेषां विविधैश्वर्याणामपि वाचकः। यथा अन्नधनादीन्यैश्वर्याणि कस्माच्चित् स्थानान्नेतुमिष्यन्ते चेत्, तर्हि मनुष्यो रथानुपयुङ्क्ते, तथैव विपुलानि आत्मबल-विज्ञान-सत्य-न्याय-भूतदयाद्यैश्वर्याणि स्वात्मनि नेतुमपि परमात्मयोगरूपा रथा अभिलषिता भवन्ति। उत्कृष्टा रथा बहुमूल्यप्राप्या भवन्ति। किन्तु परमात्मयोगरूपाय रथाय तु त्वया किञ्चिदपि भौतिकं मूल्यं देयं न भविष्यति। प्रभुप्रेम्णः सत्या अभीप्सा पूर्णतः आत्मसमर्पणं चैव तन्मूल्यमस्ति। अयि मदीय अन्तरात्मन्। चिरं मा कार्षीः, त्वरितमेवं अग्निनामकस्य प्रभोः रथमारुह्य लक्ष्यं प्राप्नुहि अनुपमम् आनन्दं च लभस्व।

सम्पादकीय

गुरुकुल पत्रिका का प्रस्तुत अंक आप सभी पाठकों के कर कमलों में अर्पित करते हुए मुझे हर्ष हो रहा है। प्रत्येक वर्ष का अगस्त माह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण होता है। हमारे भारतवर्ष महान् का **स्वतन्त्रता दिवस १५ अगस्त**, प्रत्येक भारतवासी के हृदय में देश प्रेम की भावना जगाने वाला है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए **लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय, शहीदे आजम भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, चन्द्रशेखर आजाद, अमर शहीद रामप्रसाद, बिस्मिल** सदृश असंख़्य अमर हुतात्माओं ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। इस वर्ष जब सम्पूर्ण राष्ट्र स्वाधीनता दिवस पर राष्ट्रध्वज को प्रणाम कर रहा था। सन् 1857 की क्रान्ति की 150 वीं वर्षगांठ मना रहा था, तब एक ओर भारत माता की अर्चना में अपने जीवन सुमन भेंट चढ़ाने वाले असंख्य बलिदानी स्मरण आ रहे थे तो दूसरी ओर भौतिक समृद्धि के होते हुए भी नैतिक मूल्यों के ह्रास की बिभीषिका चिन्तित कर रही थी। संपूर्ण विश्व को मानवता सदाचार एवं संस्कृति का सन्देश देने वाला यह देश स्वयं अपने गौरवमय इतिहास को विस्मृत कर रहा है। समय की पुकार है कि धर्म, संस्कृति, जीवनमूल्य एवं परम्परा की बात कहने वाले हम सब आलस्य, प्रमाद एवं व्यक्तिगत स्वार्थ का परित्याग कर युवा पीढ़ि का मार्गदर्शन करें।

इसी अगस्त माह में **रक्षाबन्धन** (श्रावणी) का पावन पर्व भाई-बहन के निश्छल सात्त्विक प्रेम की याद दिलाता है। भाई-बहन का यह आदर्श प्रेम इस देश की महान् धरोहर है। श्रावणी के इस पर्व के साथ वेदाध्ययन की पावन परम्परा जुड़ी हुई है। हम भारतवासियों का यह सुदृढ़ विश्वास है कि वेद हमारा सर्वस्व है, हमारा प्राण है। राष्ट्रीय नवजागरण के पुरोधा युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती का सन्देश **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है'** हमें स्वाध्याय की प्रेरणा देता है। मानव धर्म के उपदेष्टा मनुजी महाराज ने **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** कहकर वेद की धर्ममूलकता घोषित की थी। आज की आपाधापी और भागदौड़ की जिन्दगी में वेद का स्वाध्याय छूट गया, यज्ञ छूट गया, परम्परायें टूट रही हैं, हमें इन सबकी रक्षा का संकल्प लेना होगा।

देश की प्रथम महिला राष्ट्रपति सौ. डॉ० प्रतिभाताई पाटिल

स्वतन्त्रता की 61वीं वर्षगाँठ मना रहे हमारे देश ने राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद पर नारी के दिव्य गुणों से विभूषित, कुशल प्रशासिका, भारतीय संस्कृति के उच्चादर्शों को

जीवन में धारण करने वाली सौ. डॉ0 प्रतिभाताई पाटिल को विभूषित किया है। यह हम सबके लिए परमगौरव का विषय है। मध्यकाल में भले ही नारी जाति के सम्मान में न्यूनता आई हो किन्तु सृष्टि के प्रारम्भ काल से ही इस देश के ऋषियों ने घोषणा की थी- **'स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ'** अर्थात् नारी साक्षात् ब्रह्मा है। वह सृष्टि का निर्माण करती है, अतः ब्रह्मा के समान वन्दनीया है। मानव धर्म के उद्‌गाता मनु ने कहा है- **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'** जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं।

छत्रपति शिवाजी महाराज, समर्थ गुरु रामदास, सन्त तुकाराम, सन्त ज्ञानेश्वर, महात्मा लोकमान्य तिलक, वीर सावरकर, अमर बलिदानी चापेकर बन्धुओं के जन्म से पवित्र वीरभूमि महाराष्ट्र में जन्म लेकर देश भक्ति एवं अध्यात्म के विचारों से अनुप्राणित, नारी जाति के उत्थान, शिक्षा के उन्नयन एवं समाज सेवा में समर्पित पूज्या सौ. प्रतिभा ताई ने अपना जीवन मानवता के कल्याण में लगाया है। राजस्थान की राज्यपाल के रूप में आपका कार्यकाल अभिनन्दनीय रहा है। अब आप इस विशाल भारत देश के सर्वोच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित हैं। हम श्रद्धा पूरित अन्तःकरण से आपको नमन करते हैं। आपको **कोटि-कोटि शुभकामनाएं** अर्पित करते हैं और सर्वनियन्ता, परमदयालु ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि आपकी धवल कीर्ति दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो। आपके कुशल मार्गदर्शन में यह देश परम वैभव को प्राप्त करें। यहाँ भारतीय संस्कृति की प्रेम, दया, करुणा, मित्रता एवं विश्वबन्धुत्व की पावन धारा प्रवाहित हो। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को आपका स्नेह और आशीर्वाद प्राप्त होता रहे, इस प्रार्थना के साथ देश की प्रथम महामहिमशालिनी राष्ट्रपति महोदय का शत्-शत् अभिनन्दन एवं वन्दन।

प्रो. महावीर
प्रधान सम्पादक
गुरुकुल पत्रिका

संस्थापक
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
The Founder of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
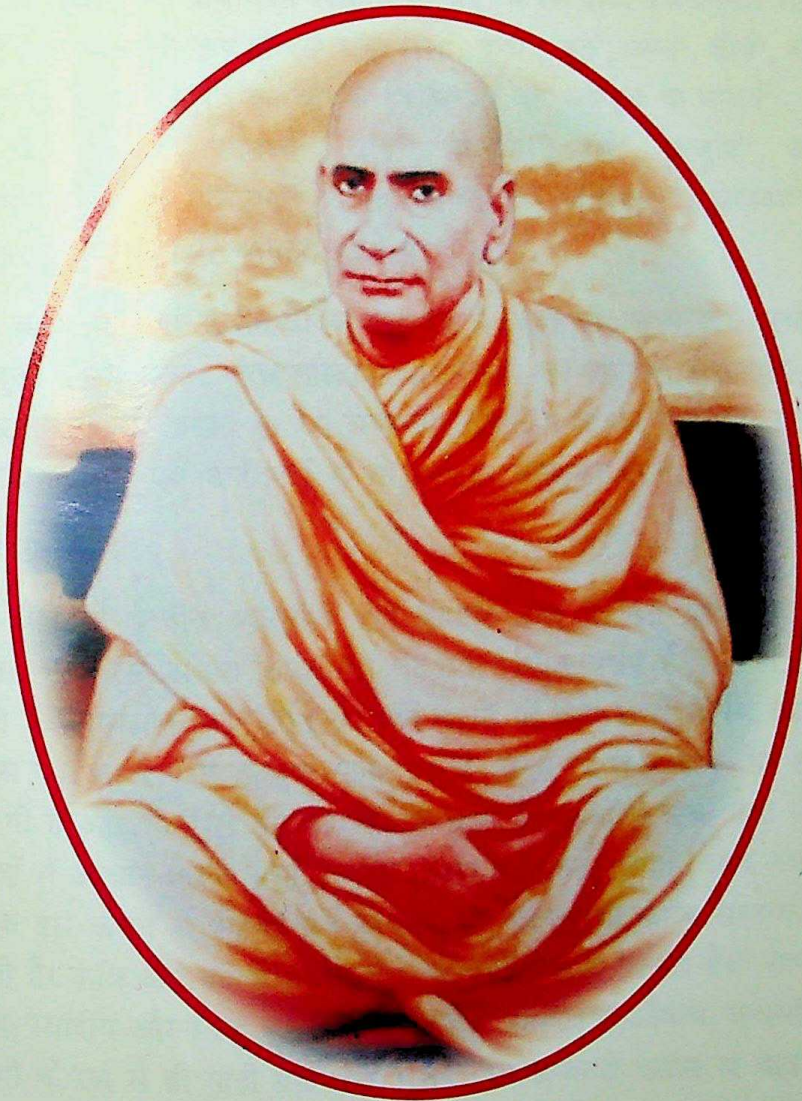
स्वामी श्रद्धानन्द जी

Swami Shraddhanand Ji

(1856 – 1926)

वैदिक वाङ्मय में रस निरूपण

डॉ. विजयवीर विद्यालंकार
पूर्व अधिष्ठाता, प्राच्य भाषा संकाय
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

वेद :-

वेद विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। वेद में रस शब्द प्रसंगानुसार शतशः प्रयुक्त हुआ है। चारों वेदों में स्थूल रूप से रस शब्द जल[1], दुग्ध[2], घृत[3], अन्न[4], वीर्य[5], सोमरस[6], भैषज्य[7], षड्ऋतु[8], वायु[9] और सूर्य[10] का बोधक है। अन्यत्र वह स्वादुता या माधुर्य[11], षड्रस[12], पुष्टि[13] अथवा प्रीति स्निग्ध[14], सामर्थ्य[15], ब्रह्म[16], पराक्रम[17], हर्ष[18], ऋजुता[19], अनुराग[20], भोग[21], आत्मदोषरूपी विष[22], तत्वज्ञान[23], अमृत या भक्ति[24], जीवनरस[25], वेदसार[26], आह्लाद[27] और आनन्दैकरस[28] के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।

वस्तुस्थिति यह है कि वैदिक वाङ्मय में स्थूल और सूक्ष्म दोनों अर्थों में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। विशेषतः काव्यशास्त्रीय आनन्ददायी रस ब्रह्मवेद, भैषज्यवेद अथवा अथर्ववेद में ही प्रधानताः उल्लिखित है। रस सम्बन्धी सामग्री न केवल मूल वेदों में अपितु वेदाख्यान भाग ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में भी स्पष्टतः उपलब्ध है।

ब्राह्मण ग्रन्थ :-

वेदों के प्राचीन व्याख्यान भाग ब्राह्मण ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों में वेदोंक्त अर्थों के अतिरिक्त छन्द रस अथवा काव्य रस का भी विस्तृत वर्णन है।[29] उनमें कहा गया है कि प्रजापति ने मनुष्यलोक को अमृत का पान कराने के लिए छन्दों में रस का आधान किया।[30] छन्द-रस को सब रसों में उत्कृष्ट माना गया है। छन्दों के सरस होने पर ही इष्ट की सिद्धि मानी गयी है और उन्हीं से यज्ञ का विस्तार हुआ है।[31] देवों ने ऋक् तथा साम में वर्णित रस का छन्दों में आधान करके स्वर्ग अर्थात् आनन्द को प्राप्त किया।[32] छन्द-रस द्वारा आनन्द की प्राप्ति के इस कथन से ऋग्वेद एवं सामवेद की नाट्य तथा काव्य सम्बन्धी उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। कवि और काव्य का उल्लेख तो चारों वेदों में मिलता है।[33] सामवेद के एक मन्त्र में स्वाद, स्वादीय और स्वादु का स्पष्ट वर्णन है।[34] शतपथ में औषधि, वनस्पति आदि की सृष्टि भी वाणी के रस से ही मानी गयी है।[35] मूलतः देव सम्बन्धी वाग्रस या वाक्यरस से इस लोक में भी वाक्य अथवा काव्य रस की उत्पत्ति हुई है। रसात्मक वाक्य को काव्य[36] मानने का मूल आधार इसको मानना असंगत न होगा। नाट्यरसों की भाँन्ति आत्माओं की गणना द्वारा रस और आत्मा[37] का सम्बन्ध स्थापित कर शतपथ ने एक प्रकार से परवर्ती काव्यशास्त्रीय काव्यात्मा

सम्बन्धी प्रश्न का पथ प्रशस्त किया है। शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर वाणी में रस का आधान[38] बतलाते हुए रस को असीम[39] मानकर उस की चिरन्तनता का प्रतिपादन किया गया है। शतपथ के रस विधान की प्रक्रिया में काव्यरस का स्पष्टत: उल्लेख हुआ है। तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी रस वर्णन पाया जाता है।[40]

उपनिषद्:

उपनिषद् काल में रस शब्द का प्रयोग ब्रह्म तथा सारभूत तत्व के लिए किया जाने लगा। उपनिषदों में इस का महत्त्व इतना बढ़ा कि यह प्राण-तत्व के रूप में स्वीकृत हो गया।[41] बृहदारण्यक में ब्रह्म के मूर्त-अमूर्त -प्रसंग में रस को सार रूप में स्वीकार किया गया है।[42] कदाचित् परवर्ती काव्यशास्त्रियों को काव्य की आत्मा रस मानने की प्रेरणा इसी वाक्य से मिली हो। तैत्तिरीय उपनिषद् में परमात्मा को रस रूप में प्रतिष्ठित कर उसे आनन्द का स्रोत माना गया है।[43] शांकर भाष्यानुसार रस ब्रह्म है। अत: ब्रह्मवेद अथर्ववेद से रस-ग्रहण युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अन्य उपनिषदों में आस्वाद्य मधुरादि के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग हुआ है।[44] छान्दोग्योपनिषद् में बड़े ही प्रभावशाली ढंग से रस को समग्र संसार का सार कहा गया है। 'इन भूतों का रस पृथिवी है। पृथिवी का रस जल है। जल का रस उन पर निर्भर रहने वाली औषधि है। औषधि का रस पुरुष है। पुरुष का रस वाणी है वाणी का रस ऋचा है। ऋचा का रस साम है। साम का रस उद्‌गीथ है।[45]

निरुक्त :

निरुक्त वेदार्थ की कुंजी हैं उसमें वेद के शब्दों का निर्वचन और उनकी व्युत्पत्ति की प्रक्रिया है। निरुक्त में रस शब्द का प्रयोग जल[46], दुग्ध[47] और तुषार[48] आदि भौतिक अर्थो में हुआ है।

नाट्यशास्त्र प्रणेता आदि रसाचार्य भरत मुनि ने चारों वेदों की उपयोगिता को स्वीकार कर अपने नाट्यशास्त्र का निर्माण किया है। अभिनयदर्पणकार नन्दिकेश्वर के अनुसार ब्रह्मा ने सर्व प्रथम भरत को नाट्यवेद दिया था।[49] नाट्याचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के लिए ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का ग्रहण किया है।[50]

यद्यपि चारों वेदों में विभिन्न अर्थों में रस सम्बन्धी मन्त्र उपलब्ध होते हैं तथापि विशेष रूप से अथर्ववेद से रस का लिया जाना विचारणीय विषय है। गीतिपरक होने से सामवेद से गीत का लिया जाना और कर्मकाण्ड परक होने से यजुर्वेद से अभिनय का लिया जाना स्वत: स्पष्ट है। ऋग्वेद का पाठमात्र होता था, उसका गायन या तदाधारित कर्मकाण्ड का कोई रूप प्रचलित नहीं था। अत: उससे पाठ्य का लिया जाना कहा गया। विभिन्न रस-सम्बन्धी मन्त्र

यद्यपि चारों वेदों में उपलब्ध हैं तथापि विशेष रूप से अथर्ववेद से ही रसों का लिया जाना सहेतुक है क्योंकि विविध मन्त्रों में रस के विविध अर्थ इसी वेद में उपलब्ध हैं। ब्रह्मविद्या का स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में ही पाया जाता है।[51] अतः अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहा जाता है।

भैषज्य का सम्बन्ध भी रस से ही है तथा अथर्ववेद भैषज्यवेद के रूप में भी प्रथित है। विभिन्न रोग-औषधियों का वर्णन भी अथर्ववेद में उपलब्ध है।[53] सम्भवतः भरत ने अथर्ववेद के आधार पर अपने नाट्यशास्त्र में नाना व्यंजनौषधियों के दृष्टान्त द्वारा नाट्यरसों का व्याख्यान किया है।[54] भरत नाट्यशास्त्रानुसार शान्त रस से ही रति आदि आठों स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है और उनका विलय भी शान्त में ही होता है।[55]

भरत का कथन है कि मोक्ष और अध्यात्म की भावना से जिस रस की उत्पत्ति होती है, उसको शान्त रस नाम दिया जाता है।[56] नाट्यशास्त्रोल्लिखित शान्तरस का आधार भी अथर्ववेद ही है।[57] इसी प्रकारश्रृंगार, वीर, रौद्र आदि कतिपय अन्य रसों का वर्णन भी अथर्ववेद में मिलता है। इससे विदित होता है कि नाट्शास्त्रप्रणेता भरत ने तत्सम्बन्धी श्लोक में जो रसः शब्द का प्रयोग न कर 'रसान्' कहा है, उसका उद्देश्य जीवनोपयोगी नाट्यरसों का प्रतिपादन एवं उनको महत्त्व प्रदान करना है। नन्दिकेश्वर कृत अभिनयदर्पण में भी 'रसान्' शब्द का ही पाठ मिलता है।[58]

कतिपय आधुनिक विद्वान्[59] इस मत से सहमत नहीं हैं कि 'काव्यरस' के शास्त्रीय अर्थ में रस का स्पष्ट प्रयोग वैदिक वाङ्मय में मिलता है। इन विद्वानों द्वारा मान्य दृष्टिकोण को यथार्थ भी मान लिया जाए तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आदि रसाचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में रसानाथर्वणादपि' कह कर जिन रसों का उल्लेख किया है, वे रस कौन से हैं? जबकि ऋग्यजुसामवेद में रस शब्द नाना अर्थो में प्रयुक्त है तब अथर्ववेद से ही रस ग्रहण की बात क्यों कही गयी है?

भरतमुनि ने कदाचित् अथर्ववेदोक्त सद्यः प्रसूता गौ के हृदय में अपने नवजात वत्स के प्रति जो अनुराग चेतना (वात्सल्य) उमड़ती है, उसी को आधार बनाकर और उसके अंगरूप में प्रकट होने वाले विविध मनोविकारों को दृष्टि में रखकर वात्सल्य को आधार रूप रस और शेष को उसी से उत्पन्न विभिन्न रसों के रूप में स्वीकार किया है। गौ में अपने वत्स के प्रति उमड़ती भाव-चेतना नाना रसों के लिए कारणभूत बन जाती है। अपने वत्स को हर स्थिति में सुरक्षित रखने की दृष्टि से सद्यः प्रसूता गौ रौद्र, वीर भयानक, वीभत्स व अद्भुत आदि रूपों को अपनाकर सामाजिक के विभिन्न अनुभूतियों का प्रदर्शन करती है, जो नाना रसों के रूप में परिणत हो जाती है। निश्चय ही वात्सल्य समस्त रसों का आधारभूत है।[60]

भरत परवर्ती टीकाकार मम्मट, विश्वनाथ कविराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने

भी वात्सल्य रस की स्थिति स्वीकार की है। भक्तिकालीन हिन्दी कवि सूरदास ने तो वात्सल्य रस की स्थिति स्वीकार की है। भक्तिकालीन हिन्दी कवि सूरदास ने तो वात्सल्य का सजीव चित्र प्रस्तुत कर उसे महती गरिमा प्रदान की है। रस का शास्त्रीय और व्यवस्थित विवेचन स्पष्ट रूप में भरत नाट्यशास्त्र में मिलता है। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र प्रथम रस-सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थ है। भरत मुनि ने रस का शास्त्रीय पद्धति पर विवेचन कर निश्चित ही रस-सिद्धान्त और सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना की है। शारदातनय के 'भाव प्रकाशन' में ब्रह्म, सदाशिव, भरत, ब्रह्मभरत, वृद्धभरत, तुण्डु, नन्दि, नन्तिकेश्वर, अगस्त्य, व्यास वासुकि, पद्मभू, शौद्धोदनि, द्रुहिण, शिलालिन, आंजनेय, कृशावृत आदि पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों तथा रसाचार्यों का उल्लेख।61 इस बात की पुष्टि करता है कि रस सम्प्रदाय अति प्राचीन और प्रौढ सम्प्रदाय है। स्वयं भरत ने कहा है कि उनसे पूर्व रस की दो परम्पायें प्रचलित थीं। एक द्रुहिण की जो आठ रस मानते थे और दूसरी वासुकि की, जो शान्त नामक नवाँ रस भी मानते थे। भरत ने स्वयं द्रुहिणी की परम्परा स्वीकार की और द्रुहिण से रस की उत्पत्ति मानी।[62] रस का विवेचन भरत ने नाट्य के सन्दर्भ में किया है। उनके अनुसार रस नाट्य की परिणति है।

'काव्यमीमांसा' के अनुसार नन्दिकेश्वर रस के और भरत नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक सिद्ध होते हैं।[63] नाट्यशास्त्र का अध्ययन करने पर यह निश्चित हो जाता है कि भरत ने पूर्व प्रचलित रस सम्बन्धी विचारों को अपने नाट्यशास्त्र में सुव्यवस्थित शास्त्रीय रूप प्रदान किया है। नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्त अध्यायों में क्रमश: 'रसविकल्प' तथा 'भावव्यंजक' नाम से रस और भाव का विशद विवेचन किया गया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र का सर्वाधिक विवेच्य तत्व 'रस' जो काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है, नाट्यशास्त्र की ही देन है। समूचे संस्कृत वाङ्मय में काव्यगत रसों का विवेचन सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय में ही हुआ है।

भरत मुनि ने प्रश्नकर्ता मुनियों के सम्मुख रस की व्याख्या करते हुए बतलाया कि नाट्यरस आठ माने गये हैं।[64] प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव, तथा सात्विक भावों का परिचय भी नाट्यशासत्र में स्पष्टत: दिया गया है। उसमे रसों के भेद, वर्ण[65] एवं देवताओं[66] का उल्लेख भी किया गया है। इसके बाद भरत ने शम स्थायी भावात्मक और मोक्ष में प्रवृत्त करने वाले शान्त रस का विवेचन किया गया है। वह तत्वज्ञान, वैराग्य, चित्तशुद्धि आदि भावों (कारणों) से उत्पन्न होता है। इस विषय में आर्या और श्लोक भी हैं।[67] जो विद्वान् यह मानते हैं कि शान्तरस का प्रकरण बाद में जोड़ा गया है और आर्या प्रक्षिप्त हैं, उन्हें इसी ग्रन्थ के 'रस' की 'त्रिविधता' विषयक भाग पर विचार करना चाहिए। वहाँ कहा गया है 'बीभत्स' अद्भुत तथा शान्त रस की त्रिविधता का यहाँ कथन नहीं किया जा रहा है, अनेक भावों तथा रसों से समन्वित छ: रसों की त्रिविधता का प्रयोग कहा गया है।[68] स्पष्ट है कि भरत

को नवम रस शान्त मान्य था।

रस संबन्धी धारणा एवं तद्भूत सिद्धान्तों पर सम्यक् दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि रस शब्द का प्रयोग वैदिककाल से होता आ रहा है। वेदों और उनके उपांगों में रस शब्द के प्रयोग स्थान-स्थान पर हुए हैं। इन प्रयोगों के आधार कहा गया है कि प्राचनीचार्य रस के आस्वाद्य, रूप एवं पारमार्थिक स्थिति के संबन्ध में भली-भांति अवगत थे। साथ ही रस को जीवनप्रद एवं अति उपयोगी तत्व के रूप में स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख जीवन की गत्यात्मक स्थिति विशेष के सन्दर्भ में हुआ है। वैदिक अथवा वाङ्मय में स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों अर्थों में रस शब्द का प्रयोग है। नाट्य अथवा काव्यशास्त्रीय आनन्ददायी रस ब्रह्मवेद, भैषज्यवेद अथवा अथर्ववेद में ही प्रधानतः उल्लिखित है। उसे काव्य, नाट्य या अन्य साहित्य सम्बन्धी विधाओं से सम्बद्ध कर निरूपित करने का श्रेय अवश्य ही नाट्याचार्य भरत को प्राप्त होता है। आचार्य भरत ने नाटक में भावतत्व को महत्त्व देकर उसके अन्तिम लक्ष्य रसास्वादन को सिद्ध किया है और सूक्त रूप में उसके उन्मीलन पर भी प्रकाश ड़ाला है। भरत परवर्ती रसवादी आचार्य एक प्रकार के रस सिद्धान्त के व्याख्याता मात्र रहे हैं और उनकी व्याख्याओं में उनके धार्मिक एवं दार्शनिक विचारधाराओं को अधिक प्रश्रय मिला है। अपने मान्य मत मतान्तरों से असंपृक्त हो रस की मौलिक व्याख्या नहीं की थी। रस एक ऐसा उपजीव्य तत्व सिद्ध हुआ है, जिसका सहारा लेकर विद्वान् आचार्य विद्वता की प्रतिस्पर्धा में उतरे हैं।

रस संबन्धी मूल सिद्धान्त के सम्बन्ध में किसी को कोई आपत्ति भले ही न रही हो, किन्तु उसकी आस्वादन योग्यता उसकी विगलित वेद्यान्तर स्थिति, उसके उन्मीलन, स्वरूप, संख्या आदि पर समय-समय विवाद खड़े होते गये और उन पर एक रूप विचार-विमर्श होता रहा है। आश्चर्य की बात यह है कि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में जितने भी मत-मतान्तरों की प्रतिष्ठा हुई, उन सब ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रस की अवस्थिति किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार की है।

वस्तुतः रस - सिद्धान्त एक सार्वभौम सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त मानवमात्र की चेतना को आन्दोलित करता है। विभावित करता है। रस-सिद्धान्त मानवतावाद की दृढ़ भित्ति पर अधिष्ठित है। अतः मानव-सृष्टि और स्थिति के साथ इसका संबन्ध है। मानवता के विकास के साथ रस के विकास की अनायास कल्पना की जा सकती है। कालातीत यह रस हर युग का शाश्वत सत्य बनकर समान रूप से मानव मात्र के अन्तस्तल को परितुष्ट करता रहा है। और यह क्रम सदा बना रहेगा।

सन्दर्भ संकेत

1- आपो अद्यान्वचारिषं रसेन समगस्महि।
पयस्वानग्न आ गहि तं मा सं सृज वर्चसा।।

ऋग्वेद 1/23/23, 10/9/9 यजुर्वेद 20/22

सिन्धुर्ह वां रसया सिञ्चदश्वान्घृणा वयोरुषासः परि ग्मन्।
तदू षु वामजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः।।

ऋग्वेद 4/43/6

दक्ष क्षिपो युञ्जते बाहू अद्रिं सोमस्य या शमितारा सुहस्ता।
मध्वो रसं सुगभस्तिर्गिरिष्ठां चनिश्चदद् दुदुहे शुक्रमंशुः।।

ऋग्वेद 5/43/4

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे।
गिरेरिव प्ररसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः।।

ऋग्वेद 8/49/2, सामवेद 812, अथर्ववेद 20/51/2

परि णः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः।
सरा रसेव विष्टपम्।।

ऋग्वेद 9/41/6, सामवेद 897

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णों हस्ताभ्याम्।
सं वपामि समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन।
संरेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्तां सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्।

यजुर्वेद 1/21

सरस्वती योग्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति।
अपां रसेन वरुणो न साम्नेन्द्रँ श्रियै जनयन्नप्सु राजा।

यजुर्वेद 19/94

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयों विश्वरूपाः।।

अथर्ववेद 4/15/2

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन।
यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्।।

अथर्ववेद 4/35/3

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन।।

अथर्ववेद 6/124/1

2. सुतम्भरो यजमानस्य सत्पतिर्विश्वासामूधः स धियामुदञ्चनः।
भरद्धेनू रसवच्छिश्रिये पयोंनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्।

ऋग्वेद 5/44/13

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ।

अथर्ववेद 2/26/4

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्।।

अथर्ववेद 2/26/5

3 ब्रह्म क्षत्रं पवते तेजऽ इन्द्रियꣳ सुरया सोमः सुत ऽ आसुतो मदाय।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि रसेनान्नं यजमानाय धेहि।

यजुर्वेद 19/5

देवानां भाग उपनाह एषोपां रस ओषधीनां घृतस्य।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद् यच्छरीरम्।

अथर्ववेद 9/4/5

4 प्रशंसा गोष्वघ्न्यं क्रीळं यच्छर्धो मारुतम्।
जम्भे रसस्य वावृधे।।

ऋग्वेद 1/37/5

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा तना च।।

ऋग्वेद 7/104/10 अथर्ववेद 8/4/10

अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु।।

यजुर्वेद 19/75

आ सुते सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम्।
रसा दधीत वृषभम्।।

ऋग्वेद 8/72/13, यजुर्वेद 33/21, सामवेद 1480

पयश्च रसश्छान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च
प्रजा च पशवश्च।।

अर्थववेद 12/5 (2)10

अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ।।

अर्थवेद 18/4/34

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ।। अर्थवेद 18/4/81

5. विधृतिं नाभ्या घृतꣳ रसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वा अश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाꣳसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीं त्वचा जुम्बकाय स्वाहा।।

यजुर्वेद 25/9

तेन भूतेन हविषायमाप्यायतां पुनः।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम्।। अथर्ववेद 6/78/1

6. वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानाम्।
वृष्णे त इन्दुवृषभ पीपाय स्वादू रसो मधुपेयो वराय।। ऋग्वेद 6/44/21

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्व स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ।।

ऋग्वेद 6/47/1, अथर्ववेद 18/1/48

पिबा त्वऽस्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव।
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते।

ऋग्वेद 8/1/26, सामवेद 1393

प्र ते सोतार ओण्यो रसं मादय धृष्वये।
सर्गो न तक्त्येतशः ।। ऋग्वेद 9/16/1, सामवेद 1333

सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम्।
सुवीरो अभिशस्तिपाः ।। ऋग्वेद 9/23/5

एष स्य मद्यो रसोऽव चष्टे दिवः शिशुः।
य इन्दुर्वारमाविशत्।। ऋग्वेद 9/38/5, सामवेद 1277

आत्सोम इन्द्रियो रसो वज्रः सहस्रसा भुवत्।
उक्थं यदस्य जायते।। ऋग्वेद 9/47/3

आदीमश्वं न होतारोशू शुभन्नमृताय
मध्वो रसं सधमादे।। ऋग्वेद 9/62/6, सामवेद 1010

सोमो देवो न सूर्योद्रिभिः पवते सुतः।
दधानः कलशे रसम्।। ऋग्वेद 9/63/13

रसं ते मित्रो अर्यमा पिबन्ति वरुणाः कवे।
पवमानस्य मरुतः ।। ऋग्वेद 9/64/24, सामवेद 1078

ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः।
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः।।

ऋग्वेद 9/86/10, सामवेद 1031

यदत्र रिप्त ँरसिन: सुतस्य यदिन्द्रो अपिबच्छचीभि:।
अहं तदस्य मनसा शिवेन सोम ँराजानमिह भक्षयामि।।

यजुर्वेद 19/35

7. अर्थमिद्वा उ अर्थिन आ जाया युवते पतिम्।
तुञ्जाते वृष्ण्यं पय: परिदाय रसं वित्त में अस्य रोदसी।।

ऋग्वेद 1/105/2

ऊर्क् च मे सूनृता च में पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।

यजुर्वेद 18/9

अ ँशुना ते अ ँशु: पृच्यतां परुषा परु:।
गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसो अच्युत:।। यजुर्वेद 20/27

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ता:।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्।।

अथर्ववेद 3/13/5

अपां रस: प्रथमजोथो वनस्पतीनाम्।
उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम्।।

अथर्ववेद 4/4/5

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु।
पुरो दधे मरुत: पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहस:।।

अथर्ववेद 4/27/2

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।
शग्मा भवन्तु मरुतो न: स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वं हस:।।

अथर्ववेद 4/27/3

8. नमो व पितरो रसाय नमो: व: पितर: शोषाय नमो व: पितरो जीवायनमो व: पितर: स्वधायै नमो व: पितरो घोराय नमो व: पितरो मन्यवे नमो व: पितर: पितरो नमो वो गृहान्न: पितरो दत्त सतो व: पितरो देष्मैतद्व: पितरो वास:।।

यजुर्वेद 2/32

9. अपा ँरसमुद्वयस ँ सूर्ये सन्त ँ समाहितम्।
अपा ँ रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वां जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वाजुष्टतमम्।।

यजुर्वेद 9/3

10 सद्यो ह जातो वृषभ: कनीन: प्रभर्तुमावदन्धस: सुतस्य।
साधो पिब प्रतिकामं यथा ते रसाशिर: प्रथमं सोम्यस्य।। ऋग्वेद 3/48/1

11. रसाय्य: पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुभ्।
पवमानं: संतनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमान:।।
ऋग्वेद 9/97/14, सामवेद 807

मनस: काममाकुतिं वाच: सत्यमशीय।
पशूना ँ्रूपमन्नस्य रसो यश: श्री: श्रयतां मयि स्वाहा। यजुर्वेद 39/4

12. तव त्ये पितो रसा रजांस्यनु विष्ठिता:।
दिवि वाता इव श्रिता:।। ऋग्वेद 1/187/4
तव त्ये पितो ददतस्तव स्वादिष्ठ ते पितो।
प्रस्वाद्मानो रसानां तुविग्रीवाइवेरते।। ऋग्वेद 1/187/5

13. माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयु:।।
ऋग्वेद 1/164/8, अथर्ववेद 9/9/8

अद्भ्य: सम्भृत पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मण: समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे।। यजुर्वेद 31/17

14. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु:।
यस्येमा: प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
ऋग्वेद 10/121/4, यजुर्वेद 25/12

15. वर्म मह्यमयं मणि: फालाज्जात: करिष्यति।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा।। अथर्ववेद 10/6/2
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा। अथर्ववेद 10/6/22

16. यस्ते रस: सम्भृत ऽ ओषधीषु सोमस्य शुष्म: सुरया सुतस्य।
तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम्।। यजुर्वेद 19/33
या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा। अथर्ववेद 1/28/3, 4/17/3

17. अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा। अथर्ववेद 7/89/1, 10/5/46
शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृत: कृष्या अन्यो रसेभ्य:।
अथर्ववेद 2/4/5

18. धर्ता दिव: पवते कृत्व्यो रसो दक्षो देवानामनमाद्यो नृभि:।
हरि: सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृता पाजांसि कृणुते नदीष्वा।।
ऋग्वेद 9/76/1, सामवेद 558, 1228

19. पदेपदे मे जरिमा नि धायि वरूत्री वा शक्रा या पायुभिश्च।
सिषक्तु माता मही रसाः नः स्मत्सूरिभिऋजुहस्त ऋजुवनिः।।

ऋग्वेद 5/41/15

20. तेन भूतेन हविषाय माप्यायतां पुनः।
जायां यामस्या आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम्।।

अथर्ववेद 6/78/1

21. उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।
व्य हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा।।

अथर्ववेद 3/31/10

22. यत् ते आपोकदं विषं तत् त एतास्वग्रभम्।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते।।

अथर्ववेद 5/13/2

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण मे वचसा बाध आदु ते।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः।। अथर्ववेद 5/13/3

23. पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो बले।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः।।

अथर्ववेद 2/29/1

24. पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः।
आपिर्नो बोधि सधमाद्यो वृधेऽ स्माँ अवन्तु ते धियः।। ऋग्वेद 8/3/1
निरग्नयो रुरुचुर्निरु सूर्यो निः सोम इन्द्रियो रसः।
निरन्तरिक्षादधमो महामहिं कृषे तदिन्द्र पौंस्यम्।।

ऋग्वेद 8/3/20

25. इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव।
तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित् तेषामसद् रसः।।

अथर्ववेद 10/4/18

26. यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना।।

ऋग्वेद 9/67/31, सामवेद 1299

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।

ऋग्वेद 9/67/32, सामवेद 1299

पावमानीः स्वत्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चतुः।

ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम्। सामवेद 1300

27. अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।
अथर्ववेद 10/8/44

28. पवमानस्य ते रसो मदो राजन्नदुच्छुनः।
वि वारमव्यमर्षति।।
ऋग्वेद 9/81/17, सामवेद 9/91

पवमान रसस्तव दक्षो विराजति द्युमान्।
ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे।।
ऋग्वेद 9/61/18, सामवेद 890

इन्द्राय सोम सुषुतः परि स्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह।
मा ते रसस्य मत्सत द्वयाविनो द्रविणस्वन्त इह सन्त्विन्दवः।
ऋग्वेद 9/85/1, सामवेद 561

अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम्।
सुतः प्रेषा पवित्रं पर्येति रेभन्मितेव सद्म पशुमान्ति होता।।
ऋग्वेद 9/97/1, सामवेद 526, 1399

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः।।
ऋग्वेद 10/9/2, यजुर्वेद 11/51, 36/15, सामवेद 1838, अथर्ववेद 1/5/2

ष्ट्वा परिस्रुतो रसः शुक्रेण शुक्रं व्यपिबत् पयः सोमं प्रजापतिः।
ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानः शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोमृतं मधु।।
यजुर्वेद 19/79

सरस्वती मनसा पेशलं नासत्याभ्यां वयति दर्शतं वपुः।
रसं परिस्रुता न रोहितंनग्नहुर्धीरस्तसरं न वेम।।
यजुर्वेद 19/83

29. ऐतरेय ब्राह्मण 3/27, 5/19, 7/31, 8/7, 8/20
शतपथ ब्राह्मण 'रसो वै मधु' 6/4/3/2, अपो वै देवा मधुमतीरगृभ्रर्वन्नति अपो देवा रसवतीरगृह्णन्नित्येवैतदाह '5/3/4/3' स्वाधायैत्वेति रसाय त्येत्येवैतदाह '5/3/4/3' रसो वा आपः '3/3/3/18'

30. शतपथ ब्राह्मण 1/2/2/2, 1/3/1/25, 2/3/1/10, 3/1/4/3, 3/3/3/18,

31. 'छन्दसां रसो लोकानध्येष्यतीति तं परस्ताच्छन्दोभिः पर्यगृह्णात् ...... पुनः छन्दस्सु रसमादधात्। सरसैर्हास्य छन्दोभिरिष्टं भवति सरसैश्चन्दोभिर्यज्ञं तनुते। 'शतपथ' ब्राह्मण 1/2/41/8

32. छन्दोभिर्हि देवा स्वर्गं लोकं समाश्नुवत। ... यो वा ऋचि मदो यः सामन् रसो वै स तच्छन्द 'स्वैवैतद्रसं दधाति ......।' शतपथ ब्राह्मण 4/3/2/5
33. ऋग्वेद 8/8/2, 8/8/11, 9/7/4, 9/84/5, 9/96/17, 18
यजुर्वेद 4/25, 7/24, 11/25, 12/3, 21/64, 65/66, 33/8, 33/72,
सामवेद 325, 359, 476, 524, 679, 1131, 1175, 1250, 1334
अथर्ववेद 8/3/20, 9/4/8, 10/8/32
34. सामवेद 1485
35. शतपथ ब्राह्मण 4/6/9/16
36. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' साहित्य दर्पण (1/2 की व्याख्या पृ. 23)
37. शतपथ ब्राह्मण 7/2/3/4, 'यावानु वै रसस्तावानात्मा' 7/3/43/6,
38. शतपथ ब्रह्मण 8/5/2/17
39. शतपथ ब्राह्मण 8/7/2/17
40. तैत्तिरीय संहिता 2/1/7/1 तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/3/10
41. 'प्राणो वा अंगानां रस' बृहदारण्यकोपनिषद् 1/3/19
42. बृहदारण्यकोपनिषद् 2/3/2, 3,4,5
43. 'रस सार' चिदानन्द प्रकाशः। रसो वै सः। रसह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। तैत्तिरीयोपनिषद् 2/7/1, 2/1/, 2/2
44. कठोपनिषद् 2/1/3 प्रश्नोपनिषद् 4/2, 4/8, 4/9 बृहदाण्यकोपनिषद् 4/3/25
45. एषां भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या वाग् रसः। अपामोषधयो रसः। औषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग् रसः। वाचः ऋग् रसः। ऋचः साम रसः। साम्नः उद्गीथो रसः। - छान्दोग्योपनिषद् 1/1
46. 'अथास्यकर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधः' निरुक्त 7/3/11
47. 'सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्याद् रसहरणाद्वा। निरुक्त 2/6/20
48. 'उषसमस्य स्वसारमाह साहचर्याद्वा। रसहरणाद्वा।' निरुक्त 3/3/16
'अश्विनौ यद्व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषान्यः' निरुक्त 12/1/1
49. नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः
नाट्योत्पत्तिः, श्लोक सं 2, पृ. 81 के. एल. मुखोपाध्याय
50. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि। नाट्यशास्त्र 1/17
51. अथर्ववेद 10/2, 2/1
अथर्ववेद 10/7
अथर्ववेद 10/8
अथर्ववेद 11/7/8

अथर्ववेद 13/2, 3, 4(1-6)
अथर्ववेद 15/(1-4), (6-18)

52. अथर्ववेद 19/42
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च। अथर्ववेद 15/6/8

53. यक्ष्मनाश्नम् - अथर्ववेद 1/12, 2/5
हरिमा, हृद्रोग - अथर्ववेद 1/22
यक्ष्मकुष्ठादिनाशनम् अथर्ववेद 2/3
ओषधि अथर्ववेद 2/8
ओषधि अथर्ववेद 2/27
यक्ष्म विबर्हणम् अथर्ववेद 2/30/3-4
उच्छुष्मौषधि अथर्ववेद 2/33
अपामार्ग - अथर्ववेद 4/8
अपामार्ग - अथर्ववेद 4/19
ओषधि - अथर्ववेद 4/20
ओषधि - अथर्ववेद 4/37
तक्मनाशनकुष्ठः अथर्ववेद 5/4
मधुला ओषधि - अथर्ववेद 5/15
तक्मनाशनम् अथर्ववेद 5/22
यक्ष्मनाशनम् - अथर्ववेद 6/91/95/109/127
यक्ष्मनाशनम् अथर्ववेद 7/76
अपचिद् भैषज्यम् अथर्ववेद 8/7
भैषज्यम् ओषधयः अथर्ववेद 19/39

कुष्ठः अथर्ववेद 19/38

54. नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः,
तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः।
नाट्यशास्त्र, अ. 6 पृष्ठ 314-315

55. स्वं निमित्तमादाय शान्तात् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शान्त एवोपलीयते।

नाट्शास्त्र अ. 6 श्लोक 5 पृ. 393

56. अथ शान्तो नाम ....। मोक्षाध्यात्मसम्पृक्तु ...शान्तो रसो भवति।।

नाट्यशास्त्र अ. 6 पृ. 391

57. अथर्ववेद काण्ड 19 सूक्त 9,10, 11, (1-3)

58. ऋग्यजुः सामवेदेभ्यो वेदाख्याथर्वणः क्रमात्।
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
अभिनव दर्पण श्लो. सं. 7 पृ. 81-82

59. द थ्योरीज़ ऑफ रस एण्ड ध्वनि- सम एस्पेक्ट्स ऑफ संस्कृत अलंकारास डॉ0 शंकरन, पृ. 5
रस सिद्धान्त, डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 6

60. यदुस्त्रिया स्वाहुतं ..... अथर्ववेद 7/73/4
तप्तो वा घर्मो ...... अथर्ववेद 7/73/5
उपद्रव पयसा ..... अथर्ववेद 7/73/6
उपह्वये सुदुघां ...... अथर्ववेद 7/73/7
हिङमशिवभ्यां पयो अघ्न्येयं सा धर्वतांमहेत सौभगाय।

अथर्ववेद 7/73/8

उपह्वये सुदुघां ..... अथर्ववेद 9/10/4
हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसान्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय।।

अथर्ववेद 9/10/5

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्कृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः।।

अथर्ववेद 9/10/6

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
स चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत।।

अथर्ववेद 9/10/7

61. नाट्यशास्त्रः अनुवादकः - भोलानाथ शर्मा, भूमिका पृ. 28
62. एतेह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः दृहिणेन महात्मना नाट्यशास्त्र 6/16
63. रूपकनिरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।

काव्यमीमांसा 1, पृ.2

64. शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौं चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।

नाटयशास्त्र 6/15

65. श्यामो भवति शृंगारः सितो हास्य प्रकीर्तिताः।।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः।।
गौरो वीरस्तु विज्ञेय कृष्णश्चैव भयानकः।।
नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः।

नाटयशास्त्र 6/42, 43

66. शृंगारो विष्णु दैवत्यो हास्यः प्रथमदेवतः।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यं करुणो यमदेवतः।।

बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदेवतः।।

नाट्यशास्त्र 6/44, 45

67. अथ शान्तोनाम शम स्थायि भावात्मको मोक्ष प्रवर्तकः। स तु तत्त्वज्ञानवैराग्यशयशुध्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। .... अत्रार्याः श्लोकाश्च भवन्ति।
मोक्षाध्यात्म समुत्थस्तत्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
नैः श्रेयसोपदिष्टः शान्तरसोनाम सम्भवति।।1।।
बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसंरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः।
सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः।।2।।
न यत्र दुःख न सुखं न द्वेषो नापि विज्ञेयः।
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितोरस।।3।।
भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते।।4।।
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निर्मित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।।5।।
नवं वनरसा दृष्टा नाट्यज्ञैर्लक्षणान्विताः।

नाट्यशास्त्र, रघुवंश, पृष्ठ 391-393

68. बीभत्साद्भुतशान्तानां त्रैविध्यं नाति कथ्यते।।126।।
षण्णां रसानां त्रैविध्यं नाना भावरसान्वितम्।
.... ।। 127।। नाट्यशास्त्र, रघुवंश, पृ. 502

वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में अर्थालंकार

डॉ. मंजुल गुप्ता,
भूत पूर्व रीडर संस्कृत
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

अलंकार भाषा में चमत्कार उत्पन्न करते हैं और काव्य में उत्कर्ष के आधायक होते हैं। वाल्मीकीय रामायण में अलंकारों का प्रयोग स्वभावतः ही हुआ है। रामायण में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग हुआ है। अनुप्रास और यमक का सुन्दर प्रयोग हुआ है किन्तु हमारा विवेच्य सुन्दरकाण्ड में अर्थालंकार होने से उन्हीं को विस्तार से लिया जा रहा है। सुन्दरकाण्ड में अर्थालंकारों में उपमा का प्रयोग मुख्यतः हुआ है किन्तु अन्य अर्थालंकार-रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, तुल्ययोगिता, समुच्चय काव्यलिङ्ग आदिका भी सुन्दर प्रयोग हुआ है।

उपमा- उपमेय और उपमान का समान धर्म से सम्बन्ध उपमा है। मम्मट के अनुसार 6 प्रकार की पूर्णोपमा, श्रौती और आर्थी वाक्यगा, समासगा और तद्धितगा होने से 19 प्रकार की लुप्तोपमा और उपमेय के अनेक उपमान होने से अभिन्न या भिन्न धर्म से मालोपमा होती है।

सुन्दरकाण्ड में उपमानों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। पूर्णोपमा, लुप्तोपमा और मालोपमा सभी का प्रयोग हुआ है। प्रथम सर्ग के प्रस्तुत श्लोक में पूर्णोपमा का सुन्दर प्रयोग दर्शनीय है।

दुष्करं निष्प्रतिद्वन्द्वं चिकीर्षन् कर्म वानरः।
समुदग्रशिरोग्रीवो गवां पतिरिवाबभौ" ॥ (१/२)

मस्तक और ग्रीवा ऊँची करने वाले हनुमान् की उपमा सांड से दी है। जैसे सांड सुशोभित होता है। ऐसे ही हनुमान् जी सुशोभित हुए। प्रस्तुत श्लोक में लुप्तोपमा का उदाहरण है।

अथ वैदूर्यवर्णेषु शाद्वलेषु महाबलः।
धीरः सलिलकल्पेषु विचचार यथासुखम्॥ (१/३)

इसी प्रकार प्रथम सर्ग के 4,7,10,16,32,34,35,39,44,47,48,50,51, में पूर्णोपमाका सुन्दर प्रयोग हुआ हैं। पंचम सर्ग के प्रस्तुत श्लोकमें मालोपमा का सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है।

हंसो यथा राजतपञ्जरस्थः।
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थ

श्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः॥ (५/४)

इसी प्रकार-

स्थितः कुकद्मानिव तीक्ष्णशृङ्गो

महाचलः श्वेत इवोर्ध्वशृङ्गो

हस्तीव जाम्बूनदबद्धशृङ्गः

विभाति चन्द्रः परिपूर्णशृङ्गः ॥ (५/५)

इसी प्रकार इसी सर्ग के 3,7, में मालोपमा अलंकार का प्रयोग हुआ है। उपमान के रूप में प्रकृति के तत्त्वों को भी लिया गया है यथा प्रस्तुत श्लो. में -

राक्षसीभिः परिवृता शोकसंतापकर्शिता।

मेघरेखापरिवृता चन्द्ररेखेव निष्प्रभा ॥ (एकोनषष्टि ५९/२२)

स्थूल की उपमा सूक्ष्म से भी दी गई है यथा प्रस्तुत श्लोक में,

सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी तद्वियोगाच्च कर्शिता।

प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुतां गता॥ (एकोनषष्टि, ५९/३१)

यहाँ सीता की उपमा विद्या से दी गयी है। इसी प्रकार वानरों की उपमा मन के संकल्प से दी यथा,

तस्य विक्रम सम्पन्नाः सत्त्ववन्तो महाबलाः।

मनः संकल्पसदृशा निदेशे हरयः स्थिताः॥ (अष्टषष्टि, १८)

ठोस की उपमा द्रव से दी है यथा

पूजयित्वाङ्गदं सर्वे वानरा वानरर्षभम्॥

जग्मुर्मधुवनं यत्र नदीवेग इव द्रुमम्। (द्विषष्टि, ५,६)

उपमा का प्रयोग प्रथम सर्ग :-

51-55,59,60-67,73,-75,77,80,102,105,108,120,122,144,146,161,165,170,173,176,180, -183, 187, - 188, 191-197,201,202,206,208,209,211,213, द्वितीय सर्ग, 16,18,24,25,39,51, तृतीय सर्ग 3,5,31, चतुर्थ सर्ग 6,7,26,28, पञ्चम सर्ग 1,4,7,14,17,18,22,25,26 षष्ठ।

सर्ग- 2,3,10,11,13,18,32,36, 38,40,41,43,46,47,48,50,52,54,63

दशम्-3,4,7,8,12,14,15,18,19,21,22,28,29,34,41,44,46,48,-49 एकादश - 11, 42 31,

35, 36, द्वादश 21, त्रयोदश-13,15,50,57,68 चतुर्दश- 4,6,13, 15, 18-20, 25-29, 38,39,51

पञ्चदश - 3,10,11,13,16,19,21,22,24,28,30,-32,37-38

षोडश-4, 6-9, 20,22,23,29-30, सप्तदश-1,10-14,22,25,28, अष्टादश-10,14,15,29

एकोनविंश-2,4-6,9,10-19, विंश-12,15,27-29,32, एकविंश-4,7,15,18,24,25,27,28,32,34 द्वाविंश-3,14,16,26,27,29-31,44 तथा अन्य सर्गों में भी हुआ है।

उत्प्रेक्षा- प्राकृत (वर्णनीय) की अप्रकृत (उपमान) के साथ सम्भावना करना उत्प्रेक्षा है। हेतूत्प्रेक्षा और क्रियोत्प्रेक्षा भेद से दो प्रकार की होती है। वाचक शब्द का प्रयोग न होने पर गम्योत्प्रेक्षा होती है। उपमा के बाद अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा का प्रयोग अधिक हुआ है।

प्रस्तुत श्लोक में 'तेन पादपमुक्तेन पुष्पौघेण सुगन्धिना।

सर्वत्र संवृतः शैलो बभौ पुष्पमयों यथा। (प्रथम,13)

सम्भावना की गई है कि पर्वत पुष्पों से ऐसा शोभित हुआ मानों पुष्पो से बना हो, इसी प्रकार प्रस्तुत श्लोक में

'तेन चोत्तमवीर्येण पीड्यमानः सः पर्वतः।

सलिलं सम्प्रसुस्राव मदमत्त इव द्विपः॥ (प्रथम, १४)

पर्वत में मद से मतवाले हाथी की कल्पना की गई है कि हनुमान के द्वारा दबाये जाने पर पर्वत इसी प्रकार जल बहाने लगा मानो कोई मतवाला हाथी मद बहा रहा हो। इसी प्रकार 55,56,57,59,61,68,71,72,104,132,206 तथा अन्यत्र भी उत्प्रेक्षाअलंकार का प्रयोग हुआ है।

प्रस्तुत श्लोक में क्रियोत्प्रेक्षा का सुन्दर प्रयोग हुआ है,

'विकर्षन्नूर्मिजालानि बृहन्ति लवणाम्भसि।

पुप्लुवे कपिर्शादूलो विकिरन्निव रोदसी। (प्रथम,७१)

मेरुमन्दरसंकाशानुद्गतान् सुमहार्णवे।

अत्यक्रामन्महावेगस्तरङ्गान् गणयन्निव॥ (वही, ७२)

प्रस्तुत श्लोक में गम्योत्प्रेक्षाका सुन्दर प्रयोग है-

'तास्तदा सविषैर्दष्टा कुपितैस्तैमहाशिलाः

जज्वलुः पावकोदीप्ता बिभिदुश्च सहस्रधा॥

यहाँ सम्भावना की गई है कि विषैले सर्पों के काटने से वे महाशिलाएँ इस प्रकार जल

उठी मानो उनमें आग गई हो। वाचक शब्द का प्रयोग न होने से उत्पेक्षा गम्य है।

इनके अतिरिक्त द्वितीय सर्ग- 19,20,22,23,57,58, तृतीय सर्ग- 10,18,19, (रूपक भी)

सप्तम-4,6,13, नवम- 13,14,20,21,25, (उपमा भी) 28,29,31 (उपमा भी) 42,48,51 (निगीर्ण अध्यवसाना अतिशयोक्ति भी) 67 दशम-9,24,37,38-40,51 एकादश-20,21 त्रयोदश-37 चतुर्दश-11, 30,31, पञ्चदश - 6-8,9,12,18,20,33,34 सप्तदश-3-(उपमा भी) 20,24,29 अष्टादश-23 एकोनविंश-7,21 विंश-2,21,31, द्वाविंश-28,44 पञ्चविंश 4,5, (उपमा भी) षड्विंश-2(उपमा भी) सप्तविंश-52 (उपमा भी)53 चतुस्त्रिंश-30 षट्त्रिंश-4,5 सप्तत्रिंश-3 अष्टात्रिंश-19,38 एकोनचत्वारिंशत्-23,24 द्विचत्वारिंश- 23 चतुश्चत्वारिंश-9 पञ्चचत्वारिंश-16 (गम्योत्प्रेक्षा) षट्चत्वारिंश-16 (गम्योत्प्रेक्षा) षट्चत्वारिंश 27,41 सप्तचत्वारिंश-22, एकोनपञ्चाश-3, एकपञ्चाश-34, त्रिपञ्चाश-34, चतुःपञ्चाश 33,41 पञ्चपञ्चाश-31 षट्पञ्चाश-27,33,44 सप्तपंचाश-5,6,18 अष्टपञ्चाश-13,145 (क्रियोत्प्रेक्षा), चतुःषष्टि-38, षट्षटि-7 ब, 8 (रूपक भी), सप्तषष्टि-7 में भी इस अलंकार का प्रयोग है।

रूपक- उपमान तथा उपमेय का अभेदारोप रूपक अलंकार है, वह सांग, निरंग, परम्परित भेद से तीन प्रकार का होता है और एक ही उपमेय के अनेक उपमान होने से माला रूपक भी होता है। सुन्दरकाण्ड में उपमा की अप्रेक्षा रूपक का प्रयोग अल्प हुआ है, किन्तु प्रस्तुत श्लोक में साङ्ग रूपक और उत्पेक्षा का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है।

वप्रप्राकारजघनां विपुलाम्बुवनाम्बराम्।

शतघ्नीशूलकेशान्तामट्टालकावतंसकाम्।।

मनसेव कृतां लकां निर्मितां, विश्वकर्मणा ।(द्वितीय, २१, २२)

तथा प्रस्तुत श्लोक में तां रत्नवसनोपेतां गोष्ठागारावतंसिकाम्।

यन्त्रागारस्तनीमृद्वां प्रमदामिव भूषिताम्।।

तां नष्टतिमिरां दीपैर्भास्वरैश्च महाग्रहैः।

नगरी राक्षसेन्द्रस्य स ददर्श महाकपिः।। (तृतीय, १८, १९)

यहाँ रावण की नगरी को प्रमदा के समान देखा जिसके रत्न के परकोटे वस्त्र गोष्ठागार आभूषण और यन्त्रागार स्तन है। यहाँ भी साङ्ग रूपक और उत्पेक्षा का समन्वय है। प्रस्तुत श्लोक में निरंग रूपक है। प्रादीपयद् दाशरथेस्तदा शोकहुताशनम्।। पंचत्रिंश 42 परम्परित रूपक का भी भी प्रयोग हुआ है। यथा-

शरजालांशुमाञ्छूरः कपे रामदिवाकरः।

शत्रुरक्षोमयं तोयमुपशेषं नयिष्यति॥ (सप्तत्रिंश,१८)

प्रस्तुत श्लोक में राम पर सूर्य का आरोप, शरों पर किरणों का आरोप राक्षस रूपी जल को सुखाने का कारण है। इनके अतिरिक्त रूपक का प्रयो एकोनविंश 7, पञ्चत्रिंश-62, एकोनचत्वारिंश-9 चत्वारिंश 23, त्रिपञ्चाशः - 30 चतुःपंचाशः- 35-36 (मालरूपक, उल्लेख भी, सन्देह भी) 51, सप्तपञ्चाशः-30, चतुःपंचाश :- 35-36 (मालारूपक, उल्लेख भी, सन्देह भी), 51 सप्तपञ्चाशः - 1-4, (साङ्ग रूपक, उपमा भी) अष्टपञ्चाशः -7-53, सप्तषष्टि- 42 श्लोको में भी हुआ है।

समुच्चय- प्रस्तुत कार्यकी सिद्धि के एक साधक के रहते अन्य कारण का भी होना कहा जाए, या गुण और क्रियाओं का एककाल में होना वर्णित किया जाये वहाँ समुच्चय अलंकार होता है। सुन्दरकाण्ड में द्वितीय प्रकार का समुच्चय अलंकार उपलब्ध होता है।

'तताप नहि तं सूर्यः प्लवन्त वानरेश्वरम्।

सिषेवे च तदा वायू रामकार्यार्थसिद्धये ॥ (प्रथम, ८४)

यहां सूर्य का हनुमान् को न तपाना तथा वायुका सेवा करना दो क्रियाएं एक साथ होने से समुच्चय अलंकार है। यहाँ पर काव्यलिङ्ग भी है क्योकि राम के कार्य की सिद्धि के लिये हेतु दिया है। इसी प्रकार

'ऋषयस्तुष्टुवुश्चैनं प्लवमानं विहायसा'

जगुश्च देवगन्धर्वाः प्रशंसन्तो वनौकसम्॥ (वही, ८५)

यहाँ भी क्रिया का युगपथ होना प्राप्त है। इसी सर्ग के 108, 129,137 में प्रस्तुत अलंकार का प्रयोग दृष्टिगत होता है। द्वितीय सर्ग के प्रस्तुत श्लोक में भी

इहाहं यदि तिष्ठामि स्वेन रूपेण संवृतः।

विनाशमुपयास्यामि भर्तुरर्थश्च हास्यतिं (द्वितीय,४५)

इसके अतिरिक्तउकादश-1, द्वादश-24, पञ्चदश-54, षोडश-6, सप्तदश-31, विंश- 24, 27-29,षडविंश-43,पञ्चत्रिंश-50, अष्टात्रिंश-2, द्विचत्वारिंश 2,32, सप्त चत्वारिंश- 13,24,30 अष्टचत्वारिशं, 24,38 त्रिपञ्चाश-40, सप्तपञ्चाश-11-12, 17 अष्टपञ्चाश - 33, 88, षष्टि-18-19, द्विषष्टि-32, सप्तषष्टि-43 में भी यह अहंकार विद्यमान है।

काव्यलिङ्ग्- वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में (किसी अनुपन्न अर्थ का उपपादक हेतु का कथन काव्यलिंग है। सुन्दरकाण्ड में काव्यलिंग का भी अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है यथा

प्रस्तुत श्लोक में ,

कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः।

सोऽयं तत्प्रतिकारार्थी त्वत्तः सम्मानमर्हति।। प्रथम, ११३, ११४)

यहाँ सम्मान के योग्य होने में प्रतिकारार्थी होना हेतु दिया गया है अतः काव्यलिंग अलंकारका प्रयोग है, यथा

पूजिते त्वयि धर्मज्ञे पूजां प्राप्नोति मारुतः।

तस्मात् त्वं पूजनीयो मे शृणु चाप्यत्र कारणम्।। (प्रथम, १२१)

इसके अतिरिक्त द्वादश-5, अष्टादश-18, पञ्चविंश-20, त्रिश-38, सप्तत्रिश - 7,10,4 अष्टात्रिंश - 46, षड्चज्वारिंश-8,9,11,17 पञ्चाश-17 द्विपञ्चाश-21, पञ्चपञ्चाश-16, सप्तपञ्चाश-23, चतुषष्टि-17, 27,28 में भी यह अलंकार द्रष्टव्य है।

उदात्त- किसी वस्तु (घन शौर्य आदि) की (असम्भावित) समृद्धि के वर्णन और उदारचरित्रों के अंग रूप में वर्णन में उदात्त अलंकार है यथा।

निष्प्रमाणशरीरः सँल्लिलङ्धयिषुरर्णवम्।

बाहुभ्यां पीडयामास चरणाभ्यां च पर्वतम्।। (प्रथम, ११)

वहीं पर 12,14,16,17,29,35,44,46,49,56,57,68,78,165,168,194, द्वितीय 49 में

सूर्ये चास्तं गते रात्रै देहं संक्षिप्य मारुतिः।

वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः।।

शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः।

वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः।। (प्रथम ७८)

द्वितीय सर्ग में लंका की सम्पत्ति के वर्णन में इन अलंकारों का प्रयोग हुआ है यथा 'तोरणैः काञ्चनैर्दियैर्लतापव्यैक्तिविराजितैः। ददर्श हनुमाँल्लङ्कां देवो देवपुरीमिव।। (द्वितीय 18)

इसी प्रकार द्वितीय सर्ग 19-44, 50-57, तृतीय सर्ग 1-13, रावण के अन्तःपुर के वर्णन में चतुर्थ सर्ग 24-30 में भी इस अलंकार का प्रयोग हैं यथा 'त्रिविष्टपनिभं दिव्यं दिव्यनादनिादतम्' (चतुर्थ 26) यथा

'स हेमजाम्बूनदचक्रवालं महार्हमुक्तामणिभूषितान्तम्।

परार्ध्यकालागुरुचन्दनार्हं स रावणान्तःपुरमाविवेश।। (चतुर्थ ३०)

इसके अतिरिक्त सप्तम -4-7 (6,7, में उत्प्रेक्षा भी), 9, 12-14, अष्टम - 8

नवम-13-19, 21-29,दशम - 1-6,16, चतुर्दश - 22, 23, पंचदश-6-7,16, सप्तचत्वारिंश 4-6 (उपमा भी), एकोनपञ्चाश-3-5, चतुःपञ्चाश-22-27-28, अष्टपञ्चाश-74, एकोनषष्टि-3 में भी इस अलंकार का प्रयोग द्रष्टव्य है।

तुल्ययोगिता - प्राकृत अथवा अप्रकृत के साधारण धर्म का एक बार ग्रहण करना तुल्ययोगिता है। सुन्दरकाण्ड में तुल्ययोगिता का भी अनेक बार प्रयोग हुआ है, यथा

शुश्रुवुश्च तदा शब्दमृषीणां भावितात्मनाम्।

चारणानां च सिद्धानां स्थिताना विमलेऽम्बरे॥ (प्रथम, २८)

शब्द सुनने का सम्बन्ध ऋषियों के चारणों के और सिद्धों के होने से तुल्ययोगिता है, इसी प्रकार निम्न श्लोक में-

नागाश्चतुष्टुवुर्यक्षा रक्षांसि विविधानि च।

प्रेक्ष्य सर्वें कपिवरं सहसा विगतक्लमम्॥ (वही, ८६)

नाग, यक्ष, रक्षों,का तुष्टुवु एक धर्म से सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता है। इसी प्रकार प्रथम सर्ग - 100,104, द्वादश - 1,18 त्रयोदश-21, 36,64-67, चत्वारिंश-9, चतुः चत्वारिंश-7,14 पंचचत्वारिंश - 13, पञ्चाश-13, एकपंचाश-30 द्विपंचाश 6 त्रिपंचाश 37 चतुः पंचाश 10, 12-16, 29 46 अष्टपंचाश 20, 168 एकोनषष्टि -2, द्विषष्टि-31, त्रिषष्टि-5 में भी इस अलंकार का चमत्कार द्रष्टव्य है।

ससन्देह- ससन्देह अलंकार में (सादृश्य के कारण) उपमेय का उपमान के साथ संशयत्मा ज्ञान (संशय) होता है और वह (उपमेय तथा उपमान के) भेद की उक्ति अथवा अनुक्ति से दो प्रकार का होता है। सुन्दरकाण्ड में सन्देह अलंकार का प्रयोग हुआ है यथा,

स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्यापि पुरी भवेत्।

सिद्धिर्वेयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः॥(सु.का.नवम, ३०)

लंका में शाला को देखकर हनुमान् जी को संशय हो रहा है कि यह स्वर्ग या देवलोक या परासिद्धि। इसी प्रकार अन्यत्र भी इस अलंकार का प्रयोग हुआ है यथा त्रयोदश 6-7, षड्विंश-42, 44, 45, त्रयस्त्रिंश 5-8, चतुस्त्रिंश, द्विचत्वारिंश - 15, 18, पञ्चाश7 2,3, चतुःपञ्चाशः- 35-38।

दीपक - उपमेय (प्रकृत) और उपमान (अप्रकृत) रूप वस्तुओं के (क्रियादिरूप) धर्म का एक बार ग्रहण से या बहुत सी क्रियाओं के होने पर किसी कारक का एक बार ग्रहण होने से दीपक अलंकार होता है। माला दीपक भी होता है यदि पूर्व वस्तु उत्तरोत्तर वर्णनीय वस्तु में उत्कर्षाधायक होती है। सुन्दरकाण्ड में दीपक अलंकार की भी सुन्दर योजना है। यथा प्रस्स्तु पद्य में,

आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं

ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम। स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ

निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम्।। (दशम, ५४)

हनुमान् जी एक ही कारक कीअनेक क्रियाओं का वर्णन होने से कारकदीपक अलंकार है। इसी प्रकार एकादश-2, द्वाद्वश-15, 16, विंश- 23,35, चतुर्विंश-33, द्विपञ्चाश: 5, चतु:पञ्चाश- 43, 44 में कारक दीपक का ही प्रयोग हुआ है।

अर्थापत्ति- दण्डापूपिका न्याय से दूसरे अर्थ का ज्ञान होने पर अर्थापत्ति अलंकार होता है। सुन्दरकाण्ड में अर्थापत्ति अलंकार का भी सुन्दर विनियोजन है, यथा-

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां जघान यः।

जनस्थाने बिना भ्रात्रा शत्रुः कस्तस्य नोद्विजेत्।। (सप्तत्रिंश, १६)

सीता के इस कथन में जिन्होंने बिना भाई की सहायता के जनस्थान में चौदह हजार राक्षसों को मार दिया कौन शत्रु भयभीत नहीं होंगे, दूसरा अर्थ भी निकलने से अर्थापत्ति अलंकार है। इसी प्रकार त्रयोदश-16, एकविंश - 16,31, द्वाविंश-14, द्विचत्वारिंश 21, एक पञ्चाश-19, त्रिपञ्चाश-36, पञ्चपचाश-4, चतु:षष्टि-19(अप्रस्तुत प्रशंसा तथा काव्यलिंग भी) में भी इस अलंकार का प्रयोग हुआ है।

भाविक - भाविक अलंकार में भूत तथा भविष्य काल में होने वाले पदार्थो को प्रत्यक्ष (वर्तमान) के समान (वर्णित) किया जाता है। सुन्दरकाण्ड में भाविक अलंकार की चारु छटा दर्शनीय है यथा,

'गिरी' कुबेरस्य गतोऽथवाऽऽनलयं सभां गतो वा वरुणस्य राज्ञः।

संशयं दाशरथेर्विमोक्ष्यसे महाद्रुमः कालहतोऽशनेरिव।। (एकविंश ३४)

यहाँ सीता ने भावी वस्तु का प्रत्यक्ष के समान वर्णन किया है। अत: भाविक अलंकार है। अन्यत्र एकविंश 23-28,31-34, अष्टात्रिंश- 50,51 एकोनचत्वारिंश - 46, एकपञ्चाश-29, पञ्चपञ्चाश-17-19, षटपञ्चाश-16-21, एकोनषष्टि-9, सप्तषष्टि-27-29, अष्टषष्टि-24, 28 में भी इसका प्रयोग हैं इसका सुन्दर उदाहरण है,

सीतायास्तेजसा दग्धा रामकोपप्रदीपिताम्।

दह्यमानामिमां पश्य पुरीं साट्टप्रतोलिकाम्। एकपञ्चाश, ३६)

यहाँ हनुमान् जी ने लंकापुरी के नष्ट होने का प्रत्यक्ष रूप के समान वर्णन किया है अत: भाविक का सुन्दर प्रयोग है।

परिकर- अभिप्राय युक्त विशेषणों के द्वारा (विशेष्य अर्थात् वर्णनीय) परिपुष्टि (उक्ति) परिकर अलंकार है। सुन्दरकाण्ड में अनेक स्थलों पर इस अलंकार का चमत्कार दर्शनीय है। उदाहरण के लिये-

अवतीर्य विमानाच्च हनुमान् मारुतात्मजः।

चिन्तामुपजगामाथ शोकोपहतचेतनः॥ (द्वादश, २५)

प्रस्तुत श्लोक में 'शोकोपहचेतनः' अत्यन्त साभिप्राय विशेषण है, इससे हनुमान् के दुःख और परिश्रम, मानसिक स्थिति की समस्त व्यञ्जना हो जाती है, जब वे कहीं सीता को नहीं देखते। इसी प्रकार इस अलंकार का चमत्कार अन्यत्र यथा पञ्चदश '2-5, 18-19, 22-23, 35, 37 सप्तदश- 19,21, 27,30, षट्चत्वारिंश-20,21 सप्त चत्वारिंश-10,11, अष्टचत्वारिंश-19, 45 चतुःपञ्चाश-32, 41 अष्टपञ्चाशः- 56, 58, में भी दर्शनीय है। सीताके कितने सार्थक विशेषण दिए है। 'श्यामां कमलपत्राक्षीमुपवासकृशाननाम्।

तदेकवासःसंवीतां रजोध्वस्तशिरोरुहाम्॥

शोकसंतापदीनाङ्गी सीतां भर्तृहिते स्थिताम्।

राक्षसीभिर्विरूपाभिः क्रूराभिरभिसंवृताम्॥

(अष्टपञ्चाश, 57,58) इन साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से सीता की करुण, दयनीय दशा का साक्षात् चित्र सा आँखों के समाने खिंच जाता है, उसकी विविशता, वियोगिनी की वेशभूषा आदि समस्त उजागर हो जाते हैं।

अनुमान - जहाँ साध्य और साधन (हेतु) भाव का कथन हो, अनुमान अलंकार होता है। सुन्दरकाण्ड में अनुमान अलंकार की योजना भी दृष्टिगत होती है। यथा हनुमान् जी सीता को न देखकर अनुमान कर रहे हैं,

ध्रुवं न सीता ध्रियते यथा न में विचिन्वतो दर्शनमेति मैथिली॥

सा राक्षसानां प्रवरेण जानकी, स्वशीलसंरक्षणतत्परा सती।

अनेन नूनं प्रति दुष्टकर्मणा हता भवेदार्यपथे परे स्थिता॥

बिरूपरूपा विकृता विवर्चसो, महानना दीर्घविरूपदर्शनाः।

समीक्ष्य ता सराक्षसराजयोषितो

भयाद् विनष्टा जनकेश्वरात्मजा॥ (द्वादश, २-४)

सीता जीवित नहीं है, इसमें न दिखना अपने शील की रक्षा करने, राक्षसियों से भय हेतु हैं इसी प्रकार त्रयोदश 6-15, 23-24, पञ्चपञ्चाश 8,11 सप्तपञ्चाश-23, त्रिषष्टि-17,

19,26, 27, चतुःषष्टि-27 चतुः षष्टि-27-31, 36,37 में भी इस अलंकार का चमत्कार द्रष्टव्य हैं।

विशेषोक्तिः-

कारणों के मिलने पर भी कार्य का कथन न किया जाना विशेषोक्ति है। यह उक्त निमित्ता अनुक्तनिमित्ता और औचिन्त्य निमित्ता भेद से तीन प्रकार ही होती है। इस प्रकार काण्ड में कतिपय स्थलों का इसे अलंकरी की सुन्दर योजना की दृष्टिपात्र होती है- यथा

यानि त्वौषधजालानि तस्मिञ्संजातानि पर्वते।

विषघ्नान्यापि नागानां न शोकु:शमितुं विषम्॥ (प्रथम, २९)

प्रस्तुत श्लोक में ओषधियों के विष को दूर करनेवाली होने पर भी नागों के विष को शान्त न कर सकी। कारण के होने पर भी कार्य न होने से अनुक्त निमित्ता विशेषोक्ति है। इसी प्रकार त्रिपञ्चाश - 34 में हनुमान जी की पूँछ में ल्वाला होने पर भी पीड़ा रूप कार्य के न होने का वर्णन होने से, पञ्चपञ्चाशः-28 में उक्त निमित्ता चतुःषष्टि-11 में भी इस अलंकार की योजना है।

अर्थान्तरन्यास- सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से साधर्म्य या वैधर्म्य से समर्थन होने पर अर्थान्तरन्यास होता है। सुन्दरकाण्ड में

नान्यत्र हि मया शक्या वैदेही परिमार्गितुम्।

स्त्रियो स्त्रीषु दृश्यन्ते सदा सम्परिमार्गणे॥ (एकादश, ३४)

इसमें विशेष या सामान्य से साधर्म्य से समर्थ न होने से अर्थान्तरन्यास है। अन्यत्र एकादश - 44, द्वादश-10, षोडश-3,26, विंश -12, द्वाविंश-4, चतुर्विंशः-34, षडविंश-41, अष्टाविंश-3, त्रिंशगाः -5 (अर्थापत्ति भी), 38, सप्तत्रिंश-4, एकोनचत्वारिंश - 39, द्विचत्वारिंश-9, सप्तचत्वारिंश -29, द्विपञ्चाश-5,13,16, पञ्चपञ्चाश-22, चतुःषष्टि-19, अष्टंषष्टि-22 में भी इस अलंकार की सुन्दर चमत्कृति है।

व्यतिरेक- उपमान से उपमेय का व्यक्तिरेक (उत्कर्ष) होने पर व्यतिरेक होता है। यह 24 प्रकार का हो सकता है। सुन्दरकाण्ड में इसका भी प्रयोग हुआ है, उदाहरण के लिये-

वसन्तपुष्पोत्करचारुदर्शनं वसन्तमासादपि चारुदर्शनम्।

स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं ददर्श तद् वानरवीरसत्तमः॥ (अष्टम,८)

प्रस्तुत पद्य में पुष्पक को वसन्तमास से भी अधिक चारु होने से व्यतिरेक है यह साम्य निवेदित के कारण है। इसी प्रकार यह अलंकार पञ्चदश-11-12, षोडश-14, विंश-34, सप्तत्रिंश-65, एकपंचाश- 33,41,43-44, द्विपञ्चाशः-17, पञ्चपञ्चाश-28, षष्टि-9 में भी

प्राप्त होता है।

कारणमाला- उत्तर अर्थ के प्रति पूर्व पूर्व पूर्व अर्थ की कारणता वर्णित् होने पर कारणमाला अलंकार होता है। सुन्दरकाण्ड में इस अलंकार का प्रयोगकेवलसर्ग में 23-33 श्लोकों में हुआ है यथा,

परुषं दारुणं तीक्ष्णं क्रुरमिन्द्रियतापनम्।
सीतानिमित्तं दुर्वाक्यंश्रुत्वा स न भविष्यति।।
तं तु कृच्छगतं दृष्ट्वा पञ्चत्वगतमानसम्।
भृशानुरक्तमेधावी न भविष्यति लक्ष्मणः।। (त्रयोदेश, २४, २५)
विनष्टौ भ्रातरौ श्रुत्वा भरतोऽपि मरिष्यति।
भरतंच मृतं दृष्ट्वा शत्रुघ्नों न भविष्यति।। (वही, २६)

विरोध - विरोध न होने पर भी (दो वस्तुओं का) विरुद्धों के समान या विरोधाभास होता है। सुन्दरकाण्ड में इसका प्रयोग एक दो स्थलों पर ही हुआ है, यथा,

अमृतं विषसम्पृक्तं त्वया वानर भाषितम्।
यच्च नान्यमना रामो यच्च शोकपरायणः।। (सप्तत्रिंशः, २)

अमृत का विषसम्पृक्त होना विरुद्ध सा वचन है अतः विरोधाभास है। इसी प्रकार प्रस्तुत श्लोक में भी विरोध प्रतीत होता है।,

'स चाप्यन्तर्हितः शैलो मानुषेण वपुष्मता।
शरीरेण महाशैलः शैलेन च महोदघौ।। (अष्टपञ्चाशः २०/१)

मनुष्य शरीर से अन्तर्हित होना और शैल शरीर से रहना विरुद्ध सा प्रतीत होता है।

भ्रन्तिमान- भ्रान्तिमान में उसके (अप्राकरणिक या अप्रस्तुत के) तुल्य पदार्थ अर्थात् प्राकरणिक का दर्शन होने पर अर्थात् अप्रस्तुत की प्रतीति होती है यथा,

रावणाननाशङ्काश्च काश्चिद् रावणयोषितः।
मुखानि च सपत्नीनामुपाजिघ्रन् पुनः पुनः।।
अत्यर्थं सक्तमनसो रावणे ता वरस्त्रियः।
अस्वतन्त्राः सपत्नीनां प्रियमेवाचरंस्तथा ।। (नवम, ५७, ५८)

यहाँ रावण की स्त्रियों को सपत्नियों के मुख में रावणकी भ्रान्ति होती है और उन्हें वे चूम लेती है, सपत्नियों को भी उनमें रावण के मुख की भ्रान्ति होती हैं इसी प्रकार नवम-62,

चतुर्दश के 12 चतु:पञ्चाश-51 में भी भ्रान्ति अलंकार है।

इस प्रकार वाल्मीकीय रामयण के सुन्दरकाण्ड में इन्ही अलंकारों की व्यञ्जना हुई है, ये अलंकार स्वत: ही आकर काव्यत्व का उत्कर्ष कर रहे हैं। प्रधानता उपमा, उत्प्रेक्षा की ही है।

सन्दर्भ :-

1. अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णनां सा पुन: श्रुति यमकम्। काव्यप्रकाश नवमउल्लास 83अ
2. साधर्म्यमुपमा भेदे! पूर्ण लुप्ता च। साऽग्रिमा। श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा।। (क्र.प्र. दशम उल्लास, का 87 एवमेकोनविंशति लुप्ता: पूर्णामि: सह पञ्चविंशति: (पृ0 483, इति भिन्ने च तस्मिन् एकस्येव बहूपमानोपादाने मालोपमा (पृ0 484)
3. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् का प्र. दशम उल्लास, का 92 अ।
4. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो:। 'समस्तवस्तुविषयंश्रौता आरोपिता यदा।। श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेश विवर्ति तत्। साङ्गमेतत्, निरङ्गन्त शुद्धम्, माला तु पूर्ववत्।।

   नियतारोपणोपाय: स्यादारोप: परस्य य:। तत्परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा।।" (का.प्र. दशम उल्लास, का, 94,95)
5. तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्। समुच्चयोऽसौ, स त्वन्यो या गुणक्रिया।। (का.प्र. दशम उल्लास, का. 126)
6. काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता।। (का.प्र.दशम उल्लास का. 144)
7. 'उदात्त वस्तुन: सम्पत्। महता चोपलक्षणम्।। (वही. का. 115)
8. नियतानां सकृद्धर्म:सा पुनस्तुल्योयगिता।। (वहीं. का. 104)
9. ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशय:।। (वही. का. 92)
10. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृतापकृतात्मनाम्।

    सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्।। मालादीपकपाद्यं

    चेद्यथोत्तरगुणावहम्। (का. प्र.दशम उल्लास का 103, 104)
11. दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।। (सा.द. दशम परिच्छेद का. 86)
12. प्रत्यक्षा इव यद्भावा: क्रियन्ते भूतभाविन:। तद्भाविकम्। (का. प्र. दशम उल्लास का. 114)
13. विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्ति: परिकरस्तु स:।। (का. प्र.द.उ. का 118)

14. अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयो वचः।। (वही, का. 117)
15. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः। (वहीं. का. 108)
16. सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
    यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।। (वहीं. का. 109)
17. उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये विवेदिते।।
    शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्टतत्। (वही, का. 105, 106)
18. यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।। तदा कारणमाला स्यात् (वही, 120)
19. विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः (वही, 110)
    भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने।। (वही, 123)

★★★★★★★★

गतांक से आगे-

नारी शिक्षा के क्षेत्र में एक पौराणिक बाधा

डॉ० अरुणा रामचंद्र ढेरे
अनुवादक प्रा. डॉ0 कुशलदेव शास्त्री

मन में नाराजगी है, उन्हीं के पास आनन्दी बाई का निवास, और उनसे जुड़ा उनका पारिवारिक नाता, और अपश्रेय का भय।

हाँ, देवधर जी की परीक्षा पर इस आंतरिक द्वेष का परिणाम नहीं हुआ। बापू साहब जी के नकार के कारण डॉ0 गर्दे और वैद्य नाराज़गी परीक्षक के रूप में सुनिश्चित हुए और व्यक्तिगत राग-द्वेष को दूर रखकर डॉ0 गर्दे जी को भी देवधर जी की परीक्षा विषयक तैयारी की मुक्त कंठ उसे प्रशंसा करनी पड़ी।

यदि बापू साहब में बदले परीक्षक के रूप में नहीं आये थे, फिर भी उन्होंने सभा सचिव बलवंतराव सहस्रबुद्धे जी की ओर संदेश भेजा था वह मनोरंजक नमूनेदार व विशेष था। उन्होंने यह सूचित किया था कि-''जिस विद्यार्थी की परीक्षा लेनी है, वह संप्रति हर रोज मेरी ओर आने के कारण मुझे उसके अध्ययन की गहराई मालूम है। अर्थात् ऐसे विद्यार्थी को जो परीक्षक अनुत्तीर्ण करेगा, उसकी परीक्षा लेने के लिए मैं अवश्य जाऊँगा।''

ऐसी पृष्ठभूमि की स्थिति में देवधर जी ने सभा की परीक्षा में अद्भुत-अपूर्व यश प्राप्त किया। कालांतर में देवधर जी को यह प्रतीत हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं कि अपनी शिष्या ने भी उस पुरानी उज्ज्वल परम्परा को और आगे बढ़ाना चाहिए तथा इतिहास की सुखद पुनरावृत्ति करनी चाहिए। दुर्गा को उन्होंने केवल शिष्या की तरह ही नहीं, कन्या की दृष्टि से भी पाला-पोसा था। वे सुधारक नहीं थे, पर वे धर्मपरम्परा का मानवतावादी दृष्टि से विचार करने वाले थे। उनके गुरु गणेश शास्त्री तो अनेक उदार मतवादियों के मित्र थे। महात्मा फुले जी के सहयोगी और गृहिणी मासिक के संपादक मोरोपंत बालवेकर जी ने ही अपने मित्र की कन्या देवधर जी को दी थी। समाज सेवा को वह वैद्यकीय कर्त्तव्य का हिस्सा मानते थे।

अतः दुर्गा खडकीकर का बाल विवाह नहीं हुआ, इस संदर्भ में सनातनी धारणा के अनुसार किसी प्रकार का द्वेष भाव नहीं रखते हुए उन्होंने उसे उत्तम ज्ञान प्रदान किया और बड़ी आशा के साथ उसकी परीक्षा का प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया।

यह बात आघात पहुँचाने वाली सिद्ध हुई कि कि बीस वर्ष की अवस्था हो जाने के बाद भी उस पर विवाह का विधिवत्-संस्कार न होने के कारण उसका प्रार्थना पत्र अस्वीकृत कर दिया, देवधर जी की परीक्षा के समय के सचिव बलवंतराव सहस्राबुद्धे का निधन हो चुका था और उनकी जगह नारायण दासो बनहट्टी नामक रूढिवादी पौराणिक सनातनी विद्वान् ने ले ली थी।

'मराठी भाषेची लेखन पद्धती' इस उत्कृष्ट मराठी पुस्तक के लेखक नारायण दासो उपाख्य नानासाहब बनहट्टी संस्कृत विद्या के विशिष्ट अध्येता थे। गुजरात कॉलेज के दक्षिणा फलो। कुछ समय तक वे मुम्बई के एलफिन्स्टन कॉलेज में कार्यालयीन अधीक्षक और पुस्तकालयाध्यक्ष थे। एक ओर वे बाग-बगीचों का विकास करने वाले, खास कन्नौजी इतर का शौक रखने वाले, रुचिपूर्वक सुग्रास भोजन करने वाले, गायन और नृत्य के कार्यक्रमों में जानबूझकर प्रसन्नतापूर्वक उपस्थिति लगाने वाले रासिक थे, तो दूसरी ओर स्त्रियों की मर्यादा को कठोरता पूर्वक सीमा बद्ध करने वाले, रूढिवादी और पुराण मताभिमानी थे। उनके पास आधुनिकता और सहृदय प्रगतिशीलता के स्पर्श से अधूरी विद्वता और रासिकता थी।

सन् 1876 में कोल्हापुर के प्रयाग तीर्थ पर भरे मेले में गोविन्द बल्लालवं देवल जी ने 'विधवा दु:ख वर्णन' विषय पर लिखकर परितोषिक प्राप्त किया था तो उसी मेले में सन् 1878 में क्रमश: 'दुष्काळ वर्णन' और 'हिमागम वर्णन' कविता लिखकर बनहट्टी जी ने परितोषिक प्राप्त किया था। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इन दोनों के काव्य विषय का अन्तर, इन दोनों के मानसिक-वैधानिक अंतर को भी मुखर करता है।

भारताचार्य चिंतामणराव वैद्य बनहट्टी जी के सखा स्नेही थे। दोनों भी निरपेक्ष ज्ञानोपासक और संगीत प्रेमी थे, पर पुराण माताभिमान की दृष्टि से बनहट्टी जी अधिक कट्टर और आग्रही थे। इसके अतिरिक्त चिंतामणराव जी की धर्मनिष्ठा जैसी गौद्धिक स्तरीय थी, वैसी बनहट्टी जी की नहीं थी। रूढ़िवादी कर्मठ ब्राह्मण की परम्परा के अनुसार ब्रह्मयज्ञ संध्या, पूजा आदि नित्य नैमित्तिक कर्माचरण में ही वह व्यक्त होती थी। अर्थात् निश्चित ही वह कर्मकांड के स्तर पर थी। चिंतामण राव जी का 'दुर्दैवी' रंग उपन्यास बनहट्टी जी को जब मित्र प्रेम के कारण भेजा गया, तब उसके संबंध में बनहट्टी जी की प्रतिक्रिया थी। 'किसलिए ये इस उलझन चक्कर में पड़ गए।'

इस प्रकार के थे सनातनी व्यक्तित्त्व वाले ये थे बनहट्टी ? उन्हें देवधर जी ने विनति की कि कन्या को परीक्षा में बैठने दो, उसके उत्तीर्ण होने पर उसका केवल शाब्दिक अभिनंदन किया तो काफी होगा। चाहे तो सभा का अधिकृत प्रमाण पत्र उसे मत दो।

पर बनहट्टी जी ने उस विनति को अस्वीकार कर दिया, तब तर्क माधवराव (महादेवराव) रानाडे जी का लगभग 12 वर्ष पूर्व देहावसान हो चुका था। पर उनके उदारमतवाद के हिस्सेदार और स्त्री शिक्षा के समर्थक गोविंदराव कानिटकर जी ने लक्ष्मणराव जी के साथ बनहट्टी जी से प्रत्यक्ष मुलाकात की और उनसे सभा की नियमावली मांगी। इस पर बनहट्टी जी ने उत्तर दिया कि सभा ने अभी तक नियमावली बनाई नहीं हैं। कन्या वेद विषय की परीक्षा देने नहीं आयी है, वह तो आयुर्वेद की वैद्यक शास्त्र की परीक्षा देना चाहती है। इसके अतिरिक्त उसके पास शुद्ध चरित्र का प्रमाण पत्र भी है। ऐसी स्थिति में उसकी परीक्षा लेने से इंकार क्यों करते हो? यह पूछे जाने पर जो प्रत्युत्तर मिला, वह यह था कि 'कन्या संस्कार विहीन है और इसी के साथ दुर्गा के लिए परीक्षा के दरवाजे सदा-सदा के लिए सुनिश्चित रूप से बंद हो गए।

तत्कालीन समाचार पत्रों और नियतकालिक पत्रिकाओं ने दुर्गा के साथ हुए अन्याय की गंभीरतापूर्वक चर्चा की है। देवधर-चरित्र में कहा गया है, उन्होंने श्रीमती खर्डीकर दीदी को (उस समय अविवाहित होने के कारण) अनाश्रमी होने के कारण, उसे परीक्षा में नहीं बिठलाया जा सकता यह निर्णय देकर, इस छात्रा को और उनके गुरुवर को, अत्यन्त ही कष्ट प्रदान किया। इस विषय पर तत्कालीन समाचार पत्रों में गुरुवर का पक्ष लेकर अनेक लोगों ने बहुत ही सहानुभूतिपूर्वक चर्चा की।

तत्कालीन वे समाचार पत्र अब हमारे सामने नहीं है। पर उनमें केवल मनोरंजन मासिक का जुलाई 1913 का अंक मेरे सामने है। मनोरंजन के सम्पादक का.र. मित्र स्त्री-शिक्षा के समर्थक और स्त्रियों के हितैषी थे। स्त्री सुधार और मनोरंजन वस्तुतः यह स्वतंत्र अध्ययन का विषय है। इस मासिक में 'प्रासंगिक विचार नामक स्तम्भ में सम्पादक विभिन्न नित्य नूतन गतिविधियों पर टीका टिप्पणी किया करते थे। जुलाई 1913 के प्रासंगिक विचार में' असमंजस व निष्ठुर हट्टीपना' शीर्षक के अंतर्गत दुर्गा के साथ हुए अन्याय की चर्चा करते हुए सभा की तीव्र शब्दों में निंदा की है।

उस परीक्षा विषयक प्रकरण की और अधिक विस्तार विवरण के साथ चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है, श्रीयुत वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर व श्रीयुत अनन्त शास्त्री फड़के कन्या की परिक्षा लिए जाने में थे, पर यह पता चला है कि केवल श्रीयुत बनहट्टी बी.ए. के दुराग्रह के कारण ही उसकी परीक्षा पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।'

'दुर्गा बाई का घर आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक निर्धन होने के बावजूद भी विद्याप्राप्ति हेतु उनके द्वारा किए गए पुरुषार्थ-प्रयास' और अपने विवाह के सम्बन्ध में पिता श्री को किसी भी प्रकार के संकट में न डालने के उसके द्वारा लिये गये निर्णय का आस्था

तथा आत्मीयता पूर्वक उल्लेख करके 'मनोरंजनकार जी ने' दुर्गाबाई जी के 'सदाचरण', पित्रभक्ति और 'विद्यैक परायणता का कुतूहल किया है। संपादक ने खेद के साथ यह अभिमत व्यक्त किया है कि उनका वैद्यकीय ज्ञान सैकड़ों देश भगिनियों की सेवा के लिए उपयोगी होने के बावजूद भी तथा कथित वर्णाश्राम धर्म, रूढि, संस्कार आदि कारण बतलाकर उन्होंने इस कुमारी को परीक्षा में बैठने से मना कर दिया।

विशिष्ट आयु मर्यादा के बाद अविवाहित रहना प्रचलित रूढ़ि के विरुद्ध होगा, पर उसे शास्त्र विरोधी कैसे कह सकते हैं? यह प्रश्न प्रस्तुत कर उन्होंने प्राचीन ब्रह्मवादियों की याद दिलायी है और उपहासात्मक शैली में यह उद्‌गार भी अभिव्यक्त किया है कि नीति मार्ग का उल्लंघन न करते हुए अविवाहित रहना जिन स्त्री-पुरुषों के लिए संभव है, उन्हें उस प्रकार से रहने में धर्म शास्त्र की बाधा बललाना तो विचित्र प्रकार का अपूर्व अनुसंधान ही समझना होगा?

केवल दुर्गाबाई का पक्ष लेकर ही 'मनोरंजन' कार रुके नहीं, अपितु उन्होंने परीक्षार्थी के रूप में अस्वीकार करने वाले प्रा. बनहट्टी जी की कथनी और करनी के अंतर की ओर अगली निर्देश करते हुए कहा है- 'क्या श्रीयुत बनहट्टी को अपना स्वयं का आचरण तो शतप्रतिशत वर्णाश्रम के धर्म के अनुकूल प्रतीत होता है? पाश्चात्य आंग्ल विद्या पढ़ने की बात तो आखिर कौन सी स्मृति में कही गई है? इसके विपरीत वहाँ तो 'न वदेत् यावनीं भाषाम्' जैसे वचन प्राप्त होते हैं या नहीं? श्रीयुत बनहट्टी शूद्रों को अथवा प्रसंग विशेष पर अन्य सम्प्रदाय विशेष के व्यक्तियों को कक्षाओं में वेदार्थ का प्रतिपादन करते हैं या नहीं? मुंबई की बस्ती में पुरातन पद्धति के अनुसार रोशमी वस्त्र परिधान कर पूजा-अर्चना करना सम्भव है? हमें यह प्रतीत होता है कि इन सब बातों का क्षणभर भी उन्होंने विचार किया होता तो वे एक सदाचार संपन्न, विद्यैकनिष्ठ, कुलीन कुमारिका को तथा कथित वर्णाश्रम धर्म का या संस्कारों का कारण बतलाकर निष्ठुरता पूर्वक अपमान न करते।

मनोरंजनकार ने बनहट्टी जी के आचारण को 'निष्ठुर, अप्रबुद्ध, उद्धण्डता पूर्ण और बेपरवाह युक्त बतलाकर अपनी टिप्पणी के अंत में कहा है 'समाज-सुधार के समर्थन अभिनंदन की तरह तथाथित धर्मशास्त्र के अहंकारियों का भी निषेध प्रतिषेध करना जरूरी है।'

पर वैसा निषेध-विरोध हुआ नहीं, बनहट्टी का निर्णय बदला नहीं और दुर्गा खर्डीकर ज्ञान की योग्यता होने के बावजूद भी परिक्षा में शामिल नहीं हो पायी। अध्ययन की दृष्टि से दुर्गा की पूरी तैयारी थी। संस्कृत पंचकाव्य और नाटकों का उसने अध्ययन

किया था। माधव निदान, अष्टांग हृदय, अष्टांग संग्रह ओर चरक संहिता के अधिकांश भाग का उसने अध्ययन किया था। पर उस समस्त ज्ञान को परीक्षा की कसौटी पर परखने की तैयारी वेद शास्त्रोत्तेजक सभा ने नहीं दिखलाई और इसी के साथ स्वदेशी वैद्यक विद्या के अध्ययन का सर्वानुमोदित मार्ग ही उसके लिए सदा-सदा के लिए बंद हो गया।

अब पर्याय शेष था केवल पाश्चात्य विद्या पढ़ने का। गुरुवर देवधर जी के परामर्श से उसने पुणे के सेवा-सदन में रहकर 'नर्सिंग' और 'मिडवाइफ' का पाठ्यक्रम पूरा किया। वह अन्नपूर्णा बाई मोने पारितोषिक (दस रुपये) और रोनॉल्ड ससून परितोषिक (पच्चीस रूपस) प्राप्त कर उत्तम रीति से उत्तीर्ण हुई। ये परितोषिक उसे रमाबाई महादेव रानाडे के हस्ताक्षर से प्राप्त हुए। रानाडे जी के सभा के विषय में इससे पूर्व घटित घटना की हकीकत दुर्गा के सम्बन्ध से रमाबाई जी को समझी होगी। उस कारण उसे परितोषिक देते समय उन्हें विशेष आनन्द हुआ होगा।

सन् 1921 में पुणे से ही प्रसूति शास्त्र का अपना पाठ्यक्रम यशस्वी रीति से परिपूर्ण कर दुर्गा अपने नासिक गांव में वापिस लौट आयी। इस विरोधाभास के विषय में क्या कहा जायेगा कि प्राचीन भारतीय विद्याओं का संरक्षण-संवर्धन करने हेतु स्थापित संस्थान हेतु प्राप्त अविवाहित होने का कारण बतला कर स्वदेशी आयुर्वेद विद्या के द्वारा जिस कन्या के लिए बंद किए, उसी ने पाश्चात्य चिकित्सा का ज्ञान संपादन कर व्यावसायिक उपयोग शुरू करने पर उसीसे उपचार करा लेने पर किसी को भी किसी प्रकार की बाधा न प्रतीत हो।

पर उससे भी अधिक आक्षेपार्ह बात दुर्गा को परीक्षा में प्रवेश न देने की विसंगति से संबंधित है। सभा की परीक्षा में पुरुष प्रत्याशी यदि जन्म से ब्राह्मण हो और उसकी आयु पैतींस वर्ष (कुछ परीक्षाओं के सम्बन्ध में तीस वर्ष) से न्यून हो तो उसके परीक्षा में बैठने पर किसी प्रकार की बाधा नहीं थी, फिर वह ब्रह्मचारी हो, गृहस्थी हो या विधुर हो वह छिपा अनीतिमान् हो दिखावटी ब्रह्मचारी हो, ये सब विघ्न पुरुष प्रत्याशी के परीक्षा में बैठने पर बिल्कुल भी उत्पन्न नहीं होते थे।

पर ज्ञानी और चरित्रवान् ब्रह्मणेतर हो या स्त्री हो, इन दोनों के लिए तथा कथति धर्म ने बड़ी-बड़ी बाधाएं उपस्थित की थीं। स्त्री की अवस्था तो सबसे अधिक चिंतनीय थी। वह जन्म से ब्राह्मण होने पर भी ऋतु प्राप्ति के बाद उसका अविवाहित रहना पाप ही समझा जाता था और इस कारण उसे अब्राह्मण घोषित कर दिया जाता था।

आज हम इस बात का मन ही मन विचार करके बेचैन हो जाते हैं कि- 'समति वय' अर्थात् विवाह के लिए समुचित आयु का आग्रह कर बाल विवाह का विरोध करने वाले सुधारक किसी प्रकार के विकराल विरोध का सामना कर रहे थे और उससे भी

अधिक अर्थात् एकाध किसी व्यक्तिगत कारण से अथवा स्वेच्छा से विवाह विषयक निर्णय लेने वाली स्त्री को सामाजिक स्तर पर किस प्रकार निंदा, आरोप ओर विरोध का सामना करना पड़ता था। आज हमें यह विचार हास्यास्पद प्रतीत होता है कि स्त्री का विद्याभ्यास और बुद्धिमत्ता से संबन्ध जोड़ने की अपेक्षा उसके चरित्र से उसके विवाह करने और न करने से उसके समाज में स्थित स्थान से सम्बंध जोड़ा जाता था। आज वेदाध्ययन करने वाली, यज्ञ विधि की उत्तम ज्ञान प्राप्त करने वाली, पौरोहित्य करने वाली अनेक महिलाएं अपने आस-पास के परिवेश में सहज रूप से दिखाई देती हैं। उस समय उनके इस मार्ग को बंधन मुक्त करने वाली, एतदर्थ बहुत कुछ सहन करते हुए संघर्ष करने वाली और धैर्य से अग्रसर होने वाली दुर्गा खर्डीकर जी जैसी अनेक महिलाओं की खेद है कि हमें आज याद भी नहीं आती।

इस संदर्भ में हमें बार-बार (महाराष्ट्रीय संत) ज्ञानेश्वर जी (1275-1296) की याद आती है। उन्होंने यदि वेदाध्ययन के लिए सभा की ओर अर्ज किया होता तो दुर्गा दीदी के समान उन्हें भी संन्यासी का पुत्र कहकर सभा ने परीक्षा में बैठने की दृष्टि से अयोग्य घोषित कर दिया होता। आळंदी के रूढ़िवादी सनातनी ब्रह्मवृंदों की याद दिलाने वाली, उसी वैचारिक रूढि का अनुकरण करने वाले धर्मधुरीण सात सौ दस वर्षों के बाद भी दिखलाई दे रहें हैं, यह स्त्री और शूद्र दोनों का भी दौर्भाग्य है।

दुर्गा बाई ने नासिक लौटकर वैद्यकीय व्यवसाय प्रारम्भ किया और उत्तम यश हासिल किया उन्हें बाद में मेवल के गंगाराम छबील दास आयुर्वेद विद्यालय में स्त्री रोग विशेषज्ञ के रूप में नौकरी प्राप्त हुई। लगभग उसी समय उनके स्नेही शंकरराव दसनूरकर फौजदार के रूप में आर्य समाज के वृहद् कार्य क्षेत्र के रूप में सुप्रसिद्ध 'येवला' में स्थानांतरित होकर आए। पं0 देवधर जी के अंतेवासित्त्व में पनपा दोनों का पुराना स्नेह कायम था। पंडित जी ने अपनी संपदा की निधनोत्तर निम्न प्रकार वितरण करने की व्यवस्था की थी। धनराशि सब भाभी को, (वेद) वेदांत विषयक सब ग्रंथ शंकर राव जी को और चिकित्सा शास्त्र संबंधी सब पुस्तकें और औषधियाँ दुर्गादेवी को एक प्रकार से ये दोनों भी पं. देवधर जी के दो प्रकार की ज्ञान संपत्ति के उत्तराधिकारी सिद्ध हुए और दोनों ने भी उनकी धरोहर को खूब समृद्ध किया।

यह संभव है कि शंकराचार्य जी का येवला निवास काल में कदाचित् स्वामी नित्यानंद सरस्वती जी से या उनके अनुयायी कार्यकर्त्ताओं से परिचय और संबंध हुआ होगा। नित्यानंद सरस्वती पंजाब (के ही नहीं, अपितु समस्त भारतवर्षीय) आर्यसमाज के एक प्रतिष्ठित नेता थे और 24 जुलाई 1887 को उन्होंने धार्मिक सुधार के अनुकूल लोगों के

लिए येवला में आर्यसमाज की एक शाखा स्थापित की थी। तब से येवला, आर्यसमाजी विचारों के प्रगतिशील जन गण-मन का एक बृहत महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। नित्यांनद सरस्वती जी का महाराष्ट्रीय न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानाडे, गोपाल हरिदेशमुख 'लोकहितवादी' आदि उदारमतवादी महानायकों से भी उत्तम संबंध थे। अतः आश्चर्य नहीं कि येवला का सहिष्णु प्रगतिशील वातावरण शंकर राव जी के धार्मिक विचारों को मुक्तकंठ से नया श्वास-विश्वास देने वाला सिद्ध हुआ होगा।

शंकरराव जी की आध्यात्मिक प्रगति की उड़ान बहुत ऊँची थी। अतः दुर्गा दीदी उनके प्रति आदर भाव रखती थी। गर्भावस्था में एक कन्या को अपने पीछे छोड़ उनकी प्रथम पत्नी स्वर्ग सिधार चुकी थी। उनसे दुर्गा दीदी का पत्र व्यवहार था। और शंकररावजी के मताानुसार वह अतिशय सात्त्विक और आदर्शमय था। शंकरराव जी से विवाह करने को निर्णय दुर्गादीदी जी ने अपने पिता श्री भास्कर राव जी की मृत्यु केबाद स्वयं लिया था। दुर्गा दीदी देशस्थ ऋग्वेदी ब्राह्मण और शंकररावजी यजुर्वेदी ब्राह्मण। यह अंतर शाखीय विवाह प्रेम विवाह भी उस समय निषिद्ध था। दुर्गादीदी की वृद्ध बुआ और उनके गुरू देवधर शास्त्री जी को तो बिल्कुल भी मान्य नहीं था। फिर भी सन् 1924 में दुर्गा दीदीजी ने आत्म निर्णय और अपनी जबावदारी के बल पर इस प्रकार का साहसपूर्ण कदम बढ़ाया।

प.ल. वैद्य प्राच्य के विशेष अध्येता और देवधर शास्त्री जी के शिष्य भी थे। वे दुर्गा देवी के सखा-स्नेही थे। जब दुर्गा दीदी के साथ वेदशास्त्रो त्तेजक सभा ने अन्याय किया तो उन्होंने सभा से अपना संबंध विच्छेद कर लिया था।

दुर्गा दीदी के लिए 'धर्मतत्त्व' पुस्तक का (सन् 1917 में) उन्होंने अनुवाद किया था और अंत तक उनका दुर्गा दीदी से पत्र व्यवहार था। उन्होंने दुर्गा दीदी जी के विवाह के संदर्भ में देवधर शास्त्री जी की विसंगति पर अंगुलि निर्देश करते हुए यह टिप्पणी की है कि इस बात का आश्चर्य है कि प्रौढ कुमारिका को प्रशिक्षण देने की प्रगतिशीलता दिखलाने वाले देवधर शास्त्री उसके अंतरशाखीय विवाह का विरोध करते हैं।

पर दुर्गा दीदी ने कुटुंब, गुरु और समाज इन सबका विरोध सहन करते हुए अपने वैचारिक स्नेही को ही अपने जीवन साथी के रूप में चुना। उस समय उनकी आयु बत्तीस वर्ष की थी और शंकराव बयालीस वर्ष के थे। शंकररावजी की कन्या का विवाह उस समय तक हो चुका था, पर दुर्गादीदी के और उसके बहुत ही पहले से ममत्त्व के संबन्ध थे। अतः शंकररावजी जी की वृद्ध माता ने युवा सुपुत्री ने भी दुर्गा दीदी के इस संबन्ध को सहर्ष-सप्रेम स्वीकार किया। दुर्गा दीदी जी भी उन दोनों के प्रति अपने समस्त कर्त्तव्य अत्यन्त ही मनः पूर्वक किए। अपनी सौतेली कन्या का शरीरस्थ दूध दूषित होने के कारण

उसकी संतान ज्यादा दिन तक जीवित नहीं रहती, वैद्यकीय ज्ञान के कारण यह ध्यान में आने पर उसने अपना दूध पिलाकर उसके बच्चों को भी नवजीवन प्रदान किया था।

शंकररावजी विचार से प्रगतिशील थे। नासिक में उनका भजन करने वाली जेसे दुर्गा दीदी थी वैसे ही हरिनामा महार, तुकाराम गणपत नाई और फकीरा रामजी कोळी नामक तीन भक्त थे। तत्त्वचिंतन का शंकरराव जी का गुण सहवास के कारण दुर्गा दीदी जी तक पहुँचा और उन्होंने 'श्रीकृष्ण चरित्र' (संभवत: अनुवाद) और 'गुरु-शिष्य संवाद' नामक दो ग्रंथ लिखे। आज भी वे हस्त लिखित ग्रंथ उनके सुपुत्र श्री वीरेन्द्र दसनूर कर जी ने अपने पास सुरक्षित रखें हैं।

दुर्गा दीदी कुछ दिन शंकररावजी की बदली हो जाने के कारण सटाणा में थी। उस समय सटाणा में बड़े पैमाने पर प्लेग और मलेरिया फैला हुआ था। इस कालावधि में गांव में ही रहकर लोगों की सहायता करने का निर्णय शंकरराव जी ने बड़े धैर्य के साथ लिया और दुर्गा दीदी ने भी किसी प्रकार का अन्य विचार न करते हुए उनका साथ निभाकर अहर्निश जनता जनार्दन की सेवा की। इस महामारी में दुर्गादीदी जी का बीच का लाल चल बसा। वृद्ध सास भी यह लोक छोड़ गई और बड़ी सुपुत्री मरते-मरते बच गई।

मन के दु:खों को सहलाते हुए, पर आत्म निर्णय के प्रति किसी प्रकार का खेद न करते हुए यह युगल अपने दो बच्चों के साथ आगे चलकर पुणे में आ बसा। सर परशुराम भाई कॉलेज के सामने, राजमार्ग पर पेंडशे की चाली नुमा बस्ती के पास ओक जी के बंगले में उसने अपना डेरा लगाया और दवाखाना भी खोला। यह इस सदी की प्रारंभिक काल की बात है कि येवला रहते हुए राष्ट्रीय स्वयं सेवकों को गिरफ्तार करने का क्षण अपने सामने न आए और दुर्गा दीदी जी भी अपने मन के अनुकूल काम कर सकें, अत: पुत्रों को संभालने का उत्तदायित्व स्वीकार कर, तदर्थ शंकरराव जी ने समय से पूर्व फौजदार के पद से स्वेच्छापूर्वक सेवा निवृत्ति स्वीकार कर ली।

आपस में सहृदय प्रेम करने वाले इस युगल ने पुणे निवास के कुछ दिन जीवन के समृद्ध क्षणों के रूप में बिताए। यहाँ उन्होंने मानव धर्म समाज की स्थापना की। अभी तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि गत सदी में स्थापित हुई सुप्रसिद्ध मानव धर्म सभा की वह शाखा थी या नहीं, पर दुर्गा दीदी के निधन के बाद उनकी तीसरी पुण्य तिथि पर सभा द्वारा पारित प्रस्ताव और महिलाओं द्वारा उस अवसर पर किये गए भाषणों का विवरण केवल उपलब्ध है। इस सभा की प्रमुख संस्थापिका दुर्गा दीदी थी और इस सभा में शंकरराव जी के व्याख्यान बार-बार होते थे।

दुर्गा दीदी पुणे के तिलक आयुर्वेद विद्यालय और ताराचंद रुग्णालय से संबंधित थी।

पुणे में ही होने से पं. ल. वैद्य जी से उनकी प्राय: भेंट होती रहती थी। सन् 1932 से 1935 तक के तीन वर्ष उनके पुणे में बीते। अतिशय कुशल स्त्री-रोग विशेषज्ञ के रूप में उनकी ख्याति हुई। सैंकड़ों महिलाओं को उन्होंने नव जीवन देकर मौत के मुंह से बचाया और उनके लिए यहाँ शतश: कृतज्ञ घर निर्माण हुए।

पर एक और पुत्र एषणा से उन्होंने कुछ प्रौढ़ावस्था में फिर एक बार गर्भावस्था को स्वीकार किया और प्रसूति होने के साथ उनकी यातनामय मृत्यु हो गई। उनकी अंतिम अवस्था का अतिशय हृदय द्राहक वर्णन शंकरराव जी ने अपनी आत्मकथा में किया है। उनकी आत्मकथा उन दोनों के सहजीवन का सुन्दर प्रतिविंब है। मुझे यह प्रतीत होता है कि (गंगा-यमुना की तरह) उन दोनों के मन इतने मिल-जुल गए थे कि इसी कारण संभवत: शंकरराव उनके बाद अधिक समय जीवित नहीं रह सके। सन् 1937 में उनकी मृत्यु हो गई।

वीरेन्द्र दसनूरकर दीदी के चिरंजीव। उन्होंने और उनकी पत्नी ने दीदी के और शंकरराव जी के संस्मरण केवल मन में ही आदर भाव से सुरक्षित नहीं रखें हैं, पर हस्तलिखित कागज पत्रों के रूप में भी उन्हें सुरक्षित रखा है, उनके लिए यह केवल लक्ष मूल्यों के बराबर ही नहीं, अपितु अमूल्य संपत्ति है। यह उनके लिए महद् भाग्य की बात है कि उनकी वह पैतृक संपत्ति सामाजिक प्रबोधन और जन जागरण के क्षेत्र में काम करने वालों के तथा सुधारकों के पद चिह्ननों का अन्वेषण करने वाले अध्येताओं को भी मूल्यवान् प्रतीत होगी।

मराठी संदर्भ ग्रंथ: विवेक आणि विद्रोह: डॉ) अरुणा ढेरे: मराठी लेख का शीर्षक स्त्री शिक्षणतील एक सनातनी अड्सर पृष्ठ 144 से 158 , प्रकाशक : अरुण जाखड़े, पद्मगंधा प्रकाशन, 26/11 धन्वंतरी आपार्टमेंट्स, पांडुरंग कॉलनी, एरंडवन, पुणे- 411037/ प्रथमावृत्ति -15 जानवरी-2004, कुल पृष्ठ 246, मूल्य 170 रु/- सौजन्य प्राचार्य एवं ग्रंथपाल - ग्रथालय विभाग- विद्या प्रतिष्ठान अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बारामती, बारामती -(पुणे महाराष्ट्र) पिन- 413133।

वेदों में आदि शिल्पी सूर्य

डॉ0 अन्नपूर्णा शुक्ला
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

प्रकृति की सुन्दरता, विविधता, उसके विराट् स्वरूप और सामंजस्य पर कोई सन्देह नहीं है। इसमें विविध रंग रूप, ध्वनियाँ, जगमगाता जीवन, पर्वत जैसे विशाल और स्थूल आकार, वायु का पारदर्शी प्रवाह, अनेक प्रकार की गन्धों का सूक्ष्म आभास ओर नाना प्रकार के प्राणियों का विचरण, इन सबका सामंजस्य ही सत्य है शिव और सुन्दर है; इसी का बोध सौन्दर्य बोध है, जिसकी अभिव्यक्ति ही कलाएँ हैं। इसी प्रकृति के गर्भ से मानव उत्पन्न हुआ है और विकसित हुआ है इसी के वाल्य भाव से अभिभूत होकर मानव ने इसके सौन्दर्य को पहचाना, यही कारण है कि वेदों के सृजनकर्ता ऋषि आर्यो को प्रकृति सदैव प्रेरित और आकर्षित करती रही है, उनकी सौन्दर्य चेतना के मूल में यही प्रकृति सौन्दर्य ही था जिससे उन्होंने आदि शिल्पी सूर्य की दानशीलता को भावुक मन से आत्मसात किया और उनका ''हृदय कृतज्ञता से भर उठा, प्रेमातुर स्वर अनियंत्रित हो उठा। उनके कॉपते होठों से निसर्ग की स्तुति में स्पन्दित राग का प्रादुर्भाव हुआ। उनके ये कृतज्ञता के संगीत सूक्त प्रकृति के अवयवों को स्तवन करने लगे और उनके विकम्पित स्वरों का तारतम्य जाति की नस-नस में स्फूर्ति भरने लगा और भविष्य की सुन्दर स्थिर सत्ता में उनका विश्वास जगा। इस प्रकार जो गीत गूँजे, उन्हीं की विशाल थाती आज हमें वैदिक वाङ्मय के रूप में उपलब्ध है।[1] यह सर्वथा सत्य है कि वेदों का सृजन प्रकृति की कला दीर्घा में हुआ और इसका आदि शिल्पी या कलाकार सूर्य ही रहा है।

इस विराट् कला-दीर्घा का आदि शिल्पी, वैज्ञानिक और कलाकार सूर्य को माना जा सकता है। विष्णु और (सूर्यात्म) देवता है। द्वादश आदित्यों में से एक है विष्णु! सूर्य का साम सबसे बड़ा है और उसे बृहत्साम कहा जाता है। विष्णु भी सूर्य ही है। अतः विष्णु का साम भी बृहत्साम है, अतः बृहत्साम का अर्थ हुआ सूर्य का साम यानी सूर्य की कविता। विष्णु सूर्य ही है।[2] वे भावुक हृदय ही सर्वत्र समानता का और अत्यधिक कर्मठता का बोध कराता है। वह अपनी कलात्मक दृष्टि से प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कर सशक्त अभिव्यंजना से कण-कण को समानता का पाठ पढ़ाता चलता है।

इस सृष्टि का प्राण तत्व सौर ऊर्जा है जिसके देवता सूर्य है, वह सृष्टि के जीवन

जगत् और वनस्पति जगत् को आवश्यक ऊर्जा देते रहते हैं। यही उसके जीवन का आधर है। यही, गति, प्रवाह और चहल-पहल सृष्टि की कला है। जिस प्रकार ब्रह्म के बिना ब्रह्माण्ड की कल्पना अर्थात् सृष्टि असम्भव है उसी प्रकार सविता के बिना सौर जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। जैसे ईश्वर के बगैर उपासना निर्थक है उसी प्रकार वेद सूर्य के बिना सार हीन है, प्रकृति में रंग, रूपाकार भी सूर्य के अस्तित्व से जुड़े हुए हैं। क्योंकि जब सूर्य की तूलिका रंगों से भर उठती है तभी जगत् चेतनामय हो शब्दों के साथ नृतन करने लगता है। दूर खड़ा आदि शिल्पी अपनी कृतियों को निहारता, परखता, भविष्य की सृजन प्रक्रिया में पुनः निमग्न हो जाता है। अतः सूर्य को सर्वज्ञ की आत्मा कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार (1/115/1)[3] जिसने आकाश, द्युलोक, एवं पृथ्वी को भली प्रकार पूर्ण किया है ऐसा सूर्य इस स्थावर जंगम की आत्मा है। यह जगत् को प्रकाशित कर स्वयं अहंकार से भर उठता है ऋग्वेद के (1/50/4)[4] मंत्र में इस प्रकार ऋषियों ने वर्णन किया है। हे चराचर के आत्मा सूर्य ! विश्व को दिखाने का स्वप्रकाश स्वरूप, रुचिपूर्ण सभी जगत् को प्रकाशित करते हैं। इसी कारण आप स्वप्रकाश स्वरूप कहे गये हैं।

सूर्य सृष्टि के वैज्ञानिक रूप में उसकी किरणें तेज बनकर सब कुछ प्रकाशित करती हैं ओर दाने-दाने को पाकर के मधुमय करती हैं। यह सूर्य एक ऐसा महानायक है, जो अखण्ड यज्ञ की तरह जीवन को जी रहा है और जो निरासक्त भाव से निरन्तर पुरुषार्थ कर रहा है यह सूर्य एक महाकवि है, यह अपने ही हृदय का निर्ममतापूर्वक धधकता कुंड बनाकर हाइड्रोजन, हीलियम, कोबाल्ट आदि अपने ही हृदय के टुकड़ों की निरन्तर आहुति दे रहा है और इसी पर निरन्तर पक रहा है। सृष्टि का जीवन मधु और सूर्य की किरणें इस पके मधु को सृष्टि की प्रत्येक मधुबाड़ी में परोस आती है, फलतः काषाय केले ओर खट्टे आम पक कर मीठे हो जाते हैं। स्वादहीन अन्न के दानों में मिठास आ जाती है। यह मध को पकाता है सूदन करता है अतः महासूद या मधुसूद है। मधुसूद अर्थात् मधुसूदन। जो कुछ भाषा है, जो कुछ भाषामान है, वह सब कुछ इसी के प्रकाश का आरोपण है।[5]

यही भाषामान सृष्टि एक विराट कला दीर्घा है सूर्य के प्रकाश की किरणों में निहित रंग व्यवस्था का महानायक सूर्य महाकवि होने के साथ-साथ सभी कलाओं का देवता है। वैज्ञानिक न्यूटन ने बहुत पहले की एक खोज में कहा था कि सूर्य के प्रकाश की किरणों में सभी मूल रंग ऐसे व्यवस्थित हैं कि भिन्न सतहों पर जब प्रकाश की किरणें टकराती हैं तो कुछ रंग तो सतह सोख लेती है और कुछ रंग सतह परावर्तित कर देती हैं

जो रंग आखों तक परावर्तित हो जाते हैं। वही रंग दिखाई पड़ते हैं। रंगों की इस अद्‌भुत व्यवस्था को न्यूटन ने एक चकती द्वारा सिद्ध किया था। रंगों की इस अद्‌भुत व्यवस्था में यदि सभी रंगों को एक साभ परावर्तित कर दिया जाए तो वह सफेद हो जायेगा। यदि सभी रंग कोई सतह सोख ले तो वह काली दिखाई पड़ेगी। यही रंगों का विज्ञान है। सभी दृश्य कलाओं का यही प्राण तत्व भी है। यही प्रकाश और रंग बिम्ब को आकार देते है।

सृष्टि एक विराट् कला दीर्घा है। यह आंख की सीमित क्षमता से एक साथ नहीं देखी जा सकती है। इसका संयोजन भी विराट् है, यह संयोजन भी विराट है यह संयोजन ही सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, की जीवन्त कृति है। इसका कण-कण सुन्दर है, इसका छोटे से छोटा टुकड़ा सुन्दर और कलात्मक है। इस महाकैनवास को देखने के लिए कलात्मक दृष्टि, अन्तर्दृष्टि और कल्पना शक्ति का सहारा चाहिए। यह कला दीर्घा एक विराट् कला कार्यशाला भी है, जिसमें निरन्तर कलाकर्म चलता रहता है। ऋग्वेद के (8/6/19)[6] मंत्र में इस प्रकार वर्णित किया गया है। हे प्रभो! आपके द्वारा उत्पन्न की हुई से सूर्य रश्मियाँ इस पृथ्वी आदि लोकों पर आश्रित जल को सींचती हैं तथा ये यज्ञ को बढ़ाती है। सूर्य की किरणे पृथ्वी पर स्थित जल को अपनी ओर आकर्षण शक्ति से खींच लेती हैं। फिर मेघ मण्डल बनते हैं, वर्षा होती है और वर्षा से अन्न उपजता है। जिससे सृष्टि पोषित होती है।

वेदों के इस आदि शिल्पी ने अपनी वैज्ञानिक और सौन्दर्यात्मक दृष्टि के कारण प्रकृति से ही सम्पूर्णता की अनुभूति होती है। उसी का वह मनन, चिन्तन करता था। उसका मानना था कि सर्वप्रथम कवि, कलाकार, वैज्ञानिक चाहे कोई भी हो उसके मानसपटल पर आकार बोध ही जागृत होता है। ऋग्वेद (8/18/13)[7] का एक उदाहरण इस प्रकार है - हे परमात्मा तुम्हारे द्वारा रचित इस महान् सूर्य के अध्ययन में तत्वज्ञ जन मन लगाते हैं, इसे आश्चर्य से देखते हैं क्योंकि यह निराधार आकाश में स्थापित रहने पर भी नहीं गिरता तथा अपने चारों ओर उपस्थित ग्रहों को भी गिरने नहीं देता। यह पृथ्वी आदि लोकों का भली-भाँति पालन कर रहा है।

आदि शिल्पी सूर्य जो सम्पूर्ण जगत् को पोषित और पल्लवित करता है। प्रकृति के इस शिल्पी के पाल्प भाव को हमारे आर्ष ऋषियों ने अन्तस् तक भावुक मन से अनुभव कर उसे पिता का स्थान दे दिया, साथ ही प्रकृति माँ और अन्तरिक्ष को पुत्र कह डाला।

सम्पूर्ण संयोजन पारिवारिक ताने बाने से .....है। ऋग्वेद (6/51/5)[8] में पारिवारिक और आत्मिक भावों के मंत्र काफी मात्रा में सृजित किये गये हैं। जैसे ऋग्वेद (8/27/3)[9] के कई मंत्रों में (12/1/12)[10] सूर्य को आदि शिल्पी इसलिए कहा गया है क्योंकि सूर्य ऊर्जा का अनन्त स्रोत माना गया है। अथर्ववेद (4/25/3)[11] में भी इसके उदाहरण मिलते हैं।

कलाओं का देवता सूर्य को माना गया है। आदि कवि सूर्य काव्य विज्ञान के अनुसार सूर्य मण्डल में स्थित एक पुंडरीकक्ष हिरण्यमय पुरुष है। यह पुरुष ही परासूर्य है। यही पुरुष काल के हृदय में उद्‌गीथ रचता हुआ, दृष्टि और मधु का वितरण करता हुआ इस सगुण सृष्टि के प्रथम स्पन्दन से ही चल रहा है। यही परा सूर्य सामवेद की ध्वजा है। इसका साम 'बृहत्साम' माना गया है। जो साक्षात् विष्णु का स्वरूप है।[12]

इस विराट् कला दीर्घा, सृष्टि में जो कुछ भी भाषित है वह सभी स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला के बिम्ब हैं। यह सभी वेदों की ऋचाओं में मूर्तरूप में उपस्थित हैं। इन सभी में व्याप्त ध्वनि की विविधताएँ ही संगीत है, जिसकी लय को नृत्य में देखा और अनुभव किया जा सकता है। सम्पूर्ण कला दीर्घा का छन्द काव्य है। ''सूर्य केवल समस्त ग्रहों का स्वामी तथा लोकों को सृजनशीलता प्रदान करने वाला ही नहीं है, अपितु रोग निवारक शक्ति का अनन्त स्रोत है। यह ब्रह्माण्ड का वैद्य है।[13] अर्थात् हमारा आदि शिल्पी सर्वज्ञ और सम्पूर्ण था।

'सूर्य को उसकी कार्यशैली के कारण कई नामों से व्यवहृत किया गया है। अदिति की संतान होने से आदित्य, उदय होकर समस्त विश्व को सृजनशीलता में लगाने के कारण रोहित। सात रश्मियों के कारण सप्तरश्मि तथा सात चुम्बकीय आकर्षण से बाँधने के कारण ग्रहधारी, चमकने के कारण भानु, सृष्टि के तमाम पदार्थों को उत्पन्न करने के कारण सवितृ तथा सभी लोकों का स्वामी होने से सम्राट भी कहा गया है। सूर्य के ये नाम उसके विशिष्ट कार्यों से सम्बन्धित हैं। अत: वेद कहते हैं कि सूर्य के इन सभी गुणों को जानो, इसके स्वरूप का अध्ययन करके लाभान्तिव हों। यह ब्रह्माण्ड का वैद्य व नियामक है, समस्त प्राकृतिक व आयुर्वेद शास्त्र इसी पर निर्भर है।[14] अन्त में कहा जा सकता है कि सूर्य ही सृष्टि रचने वाला है, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता है। सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्राण है इसे चेतना प्रदान करने वाला देवता कहा गया है। यह सभी की क्षुधा को शान्त करने वाला है। सौन्दर्य का अधिष्ठाता है। रसों को प्रवाहित करने वाला है।

सन्दर्भ संकेत-

1. हिन्दी विश्व भारती, पृ0 - 1452-1453
   सं. कृष्ण बल्लभ द्विवेदी, खण्ड - 4
   प्रकाशक - हिन्दी विश्व भारती, ज्ञान विज्ञान सहित्य का प्रमुख, संस्था, लखनऊ
2. त्रेता का वृहत्साम, ले0 कुबेर नाथ राय, पृ0 -5,
   नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, नई दिल्ली
3. ऋग्वेद (1-115-1)
   ''आप्रा द्यावापृथिवी आन्तरिक्षं सूर्यः आत्मा जगतस्थ्कषश्च''
4. ऋग्वेद (1-115-1)
   तरीणर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वभाभासि रोचनम्''
5. त्रेता का वृहत्साम, ले0 कुबेर नाथ राय, पृ0 4
   नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23 दरियागंज, नई दिल्ली
6. ऋग्वेद (8-6-19)
   इमास्तते इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम्। एनाभृतस्य पिप्युषोः''।
7. ऋग्वेद (8-18-13)
   यस्ते श्रृङवृषो नपात्प्रणपात्कुण्डपाय्यः नयस्मिन्दध्र आमनः।''
8. ऋग्वेद (6-51-5)
   द्योष्पितः पृथिवी मातरघ्रभग्ने भ्रातर्वसवोमूलतानः।
9. ऋग्वेद (12-27-3)
   विश्व हिष्मा मानवे विश्ववेदसो भुवन्वृधेरिशादसः''
10. ऋग्वेद (12-1-12)
    माता भमिः पुत्रोदम पृथिव्याः''
11. अथर्ववेद (4-25-3)
    तवव्रतो नितिशन्ते जनासस्त्वव्युदिते प्रेरते चित्र भानो,
12. त्रेता का वृहत्साम, कुबेरनाथ राय, पृ0 146,
    नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23- दरियागंज, नई दिल्ली
13. वेदों में पर्यावरण, ले0 दया दवे, पृ0 93
    प्रकाशक सुरभि पब्लिकेशन्स संघी जी का रास्ता - जयपुर
14. वही पृ0 95

* * * * * * * *

वैदिक साहित्य में प्रयुक्त संगीत – भारतीय शास्त्रीय संगीत का मूल स्रोत

डॉ0 नीरा शर्मा
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

किसी भी कला का स्वरूप निर्धारण ऐतिहासिक प्रक्रिया के द्वारा ही सम्भव होता है। अन्य कलाओं की भांति भारतीय संगीत का शास्त्रीय रूप भी शताब्दियों की साधना एवं सतत प्रयोगशीलता का प्रतिफल है। शास्त्रीय संगीत क्रमबद्ध नियम अनुशासन और व्याकरणबद्ध अभिव्यक्ति का विधिवत् विधान है। शास्त्रीय संगीत की प्रवृत्ति भारतीय दर्शन की ही भांति सूक्ष्म और अतंर्मुखी है।

वेद एक ऐसा स्रोत है जहाँ हम समूची भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम गरिमामय, इतिहास देख सकते हैं। लौकिक, पारलौकिक सभी विद्याओं का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति हैं। यही मूल भावना वेदों में समाहित है।

इसमें संदेह नहीं कि समूची भारतीय संस्कृति की भांति भारतीय संगीत का मूल स्रोत वेद ही है। जहाँ आध्यात्मिक एवं रसात्मक भावना पल्लवित हुई है।

भारतीय मनीषियों ने वेद को अपौरुषेय माना है। सनातन ब्रह्म का सनातन विधान के रूप में वेद को भगवान् का निःश्वास कहा गया है।[1]

अथर्ववेद के अनुसार – देवस्य पश्यकाव्यं न ममार न जीर्यति[2] अर्थात् वेद देवादिदेव परमेश्वर का वह अमर काव्य है, जो कभी मरता है, न नष्ट होता है।

यद्यपि वैदिक साहित्य में संगीत संबधित कोई स्वतंत्र रूप से ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है, लेकिन इसमें संगीत से संबधित पर्याप्त उल्लेख दृष्टिगत होते हैं।

वैदिक युग की एक विशाल एवं पुष्ट परम्परा रही है। जिसके अन्तर्गत ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेद इन चारों वेदों एवं उनके शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द आदि वेदांगों तथा ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् सूत्र आदि साहित्य का निर्माण एवं विस्तार हुआ है। वास्तव में वेद समूची भारतीय संस्कृति के पोषक, विधाओं व कलाओं का आधार ग्रन्थ है। यही कारण है कि भारतीय संगीत के मूलभूत तत्वों को समझने के लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन नितान्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। ऋग्वेद की ऋचाओं में गीत, वाद्य एवं नृत्य तीनों अंगों का उल्लेख मिलता है। इसमें गीति गायत्र, गाथा और साम के नाम से गीत प्रबन्धों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में वाद्यों के चतुर्विध रूप, तत्, अवनद्ध, धन, सुषित इत्यादि वाद्यों का उल्लेख मिलता है।

इसके अन्तर्गत वाण, तूषणव, शंख, आधाटि, नाड़ी, मृदंग, ढोल, दुन्दुभि, वीणा आदि का उल्लेख प्रचुर मात्रा में देखा जाता है। गीत एवं वाद्यों के अलावा नृत्य कला की विद्यमानता के संकेत भी प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। संगीत से संबधित सभी उल्लेख धार्मिक अनुष्ठान एवं उत्सव के अवसर पर प्राय: किए जाते थे।

यजुर्वेद का सांगीतिक दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। अथर्ववेद में अवश्य कुछ ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिसमें लोकोत्सवों में गाए जाने वाले गीत (लोकगीत) प्रकारों का उल्लेख मात्र मिलता है।

ऋग्वेद के छन्दोबद्ध मन्त्रों को गेय रूप में सामवेद में स्थापित किया गया। वैदिक यज्ञानुष्ठान एवं विभिन्न संस्कारों में सामगान का विशेष महत्व माना गया है। यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है कि -

अयज्ञोवा एव। यो सामा:।।

अर्थात् जिस यज्ञ में साम गान न हो वह यज्ञ ही नहीं है। साम की श्रेष्ठता के प्रतिपादक अनेकानेक उद्धरण वैदिक साहित्य में पाए जाते हैं। वेदों में सामवेद की श्रेष्ठता का एक कारण यह भी है कि साम में देवताओं की स्तुति गान से की जाती हैं। भक्ति भाव पूर्ण गान या स्तुति गायक की मानसिक तन्मयता एवं रुचि परिष्करण का विशेष द्योतक है। ऐसे भावपूर्ण गान की माधुरी से देवताओं का आनंदित होना स्वाभाविक है।

सामवेद के मुख्यत: दो भाग हैं-

आर्चिक एवं गान।

आर्चिक का अर्थ है 'ऋचाओं का समूह' वैदिक भाषा में इन्हें 'योनि ग्रंथ' कहते हैं। आर्चिक के दो भाग हैं - पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिक।

पूर्वार्चिक में मूल ऋचाएं हैं तथा उत्तरार्चिक में इन ऋचाओं की धुन पर गाई जाने

वाली प्रगाथों का संग्रह है। इनमें अग्नि, इन्द्र, पवनादि देवताओं के स्तुति रूप मन्त्रों का संग्रह है।

'गान' साम के स्वर बद्ध रूप हैं। मुख्य रूप से चार ग्रन्थ पाए जाते हैं-

1. ग्रामगेय गान
2. आरण्यक गान
3. ऊह गान
4. ऊह्य गान

यहाँ विस्तार से इनका परिचय देना संभव नहीं है। ग्राम गेय का परिवर्तित रूप ऊह गान में एवं आरण्यक का परिवर्तित रूप ऊह्यगान में प्राप्त होता है।

संक्षेप में इनके विषय में इतना समझ लेना चाहिए कि वर्तमान शास्त्रीय संगीत की गान पद्धति में इन सबका किसी न किसी रूप में प्रयोग होता है।

डॉ0 शतर चन्द्र श्रीधर परांजपे 'ऊहगान' और 'ऊह्यगान' की तुलना नायिकी और गायिकी (परम्परागत) प्राप्त बंदिश रूप और उसके विस्तार) से करते हैं।

परन्तु ऊहगान और ऊह्यगान का भी निश्चित सिद्धान्त है। वैदिक काल के उत्तरार्द्ध तक आते-आते सामगान अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। इस युग में संगीत का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र, शिक्षा तथा प्रतिशाख्य ग्रन्थों का विशिष्ट महत्व है। इन सभी ग्रन्थों में साम गान की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। इस समय साम गान यज्ञादि प्रसंगों के अलावा दैनंदिक जीवन का भी अभिन्न अंग बन गया था।

वैदिक साहित्य में सामगान के महत्व प्रतिपादन के साथ संगीत की तीन विधाओं का महत्वपूर्ण स्थान का उल्लेख दिया गया है-

त्रिवृद्धैः शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमति

उपरोक्त उल्लिखित पंक्ति से स्पष्ट होता है कि इन तीन कलाओं को शिल्प कहा जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण में इसे देवी शिल्प कहा गया है। देवी शिल्प से तात्पर्य देवताओं की विधा है। इन तीनों (गीत, वाद्य एवं नृत्य) को व्यक्ति को सुसंस्कृत करने हेतु महत्वपूर्ण माना गया है।[2]

सामवेद के उपवेद गांधर्ववेद को गीत विद्या की श्रेष्ठता का प्रमाण निर्विवाद रूप

से मान्य है। पुराणों में गान्धर्व वेद के कर्ता ही पितामह ब्रह्म को माना गया है। यही नहीं कालान्तर में नाट्यशास्त्रानुसार भी पितामह ब्रह्म से भरत को नाट्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त हुआ।[3]

वर्तमान कालीन शास्त्रीय संगीत में वैदिक युग की भांति गीत वाद्य एवं नृत्य को संगीत कहा गया है – "गीतं, वाद्यं, नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।।"

भारतीय संगीत में आरम्भ से ही दो धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं। एक वह जिसका प्रयोग धार्मिक समारोह पर धार्मिक विधि विधान के अन्तर्गत किया जाता था और दूसरी वह जिनका प्रयोग लौकिक समारोह पर किया जाता था। वैदिक या साम संगीत का समावेश पहली धारा में होता है और अवैदिक या लौकिक संगीत का समारोह दूसरी ध ारा में होता है। आज भी शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत इसी प्रकार की दो धाराएँ मानी जाती हैं जिनको क्रमशः मार्गी संगीत एवं देशी संगीत कहा जाता है। मार्ग संगी शास्त्रीय संगीत के नियमों के आधार पर गया जाता है। एवं दूसरा देशी संगीत लोक रुचि के अनुसार गया जाता है। इसमें विशेष अनुशासन की आवश्यकता नहीं होती है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि वर्तमान शास्त्रीय संगीत की गौरवपूर्ण एवं समृद्धशाली परम्परा चली आ रही है, उसकी जड़ें वेदों में ही समाहित हैं।

संदर्भ संकेत –

1. भारतीय संगीत शास्त्र – तुलसीराम देवागंन, पृ0 20
   (I) शतपथ ब्राह्मण 141 (II) वृहदारण्यकोवनिषद्
2. अथर्ववेद 10/8/32
3. तैत्तरीय संहिता 20/5/8
4. वेद दिग्दर्शन पृ0 146
5. 'भारतीय संगीत का इतिहास' डॉ0 शरत्चन्द्र श्रीधर पराजंपे पृ0 63
6. ऋग्वेदीय शारंतायन ब्रा0 295
7. भारतीय संगीत शास्त्र – तुलसीराम देवागंन, पृ0 24
8. वही, पृ0 24
9. वही, पृ0 24

वेदों में भरा पड़ा है - समग्र आधुनिक विज्ञान

आचार्य ओम प्रकाशः 'राही'
राजकीय महाविद्यालय, पाँवटा साहिब,
सिरमोर (उ0प्र0)

सर्वज्ञानागमा वेदाः मानवनहित साधकाः।
धर्मसस्कृतिमूलाश्च शश्वत्विज्ञानसंकुलाः।।

संस्कृत वाङ्मय में निहित ज्ञाननिधि से अनभिज्ञ स्वल्पश्रुत लोगों की यह भ्रान्तिभावित धारणा है कि संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य तत्वज्ञानपकर तथा अध्यात्म प्रधान देव पूजा उपासना आदि कर्मकाण्ड प्रधान ही है। उसमें समाजोपयोगी भौतिक विज्ञानादि का नितराम अभाव है। किन्तु यह मिथ्या धारणा सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि वास्तव में विज्ञान-शिल्प कला आदि विषयों में भी संस्कृत भाषा विश्व की अन्य भाषाओं में अग्रणी ही है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने 'वेदभाष्य' और अन्य साहित्य में वेदों में विज्ञान का प्रतिपादन किया है। वेदों में इतना विज्ञान भरा पड़ा है जिसे वैज्ञानिक अभी भी नहीं ढूंढ पाये हैं। अतः वैदिक ज्ञान सार्वभौमिक ज्ञान ही है। वेदों की वैज्ञानिकता के विषय में अमेरिका देश की विदुषी श्रीमती व्हीलर विल्लौक्स ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये -

India is the land of great vedas. The most remarkable works, contuining not only religious ideas for a perfact life but also which seicence has since provedtrue, Electricity, Radium, Electrons. Airships, all seem to be known to the seerswho found the vedas.

वस्तुतः संस्कृत वाङ्मय के आदि ग्रन्थ वेदों से विज्ञान की अनेक शाखाएँ निकली हैं किन्तु विडम्बना यह है कि भारत तो संस्कृत के विज्ञान से विमुख है यद्यपि पाश्चात्य जगत् इस ज्ञान की ओर अग्रसर है। वस्तुतः ज्ञान विज्ञान की विमल राशि वेदों के मनीषी ऋषियों ने वैज्ञानिक विषयों को भी बड़ी सूक्ष्मता से देखा परखा है। निःसन्देह आधुनिक विज्ञान ने अभूतपूर्व प्रगति की है किन्तु यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो विज्ञानादि समस्त विषयोपविषयों को वेदों में देखा जा सकता है।

आधुनिक विज्ञान का सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि सभी ग्रह अपने-अपने अक्ष पर परिक्रमा करते हैं जबकि पृथिवी सूर्य के चारों ओर तथा चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर

घूमता है। इस सर्वमान्य सिद्धान्त को सर्वप्रथम वेदों में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के -

या गौर्वर्त्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते॥ १०/६५/६

मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि पृथिवी अपने मार्ग पर घूमती हुई सूर्य के चारों ओर घूमती है।

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवणानि पश्यन्॥ १/३५/२

यजुर्वेद मन्त्र में सूर्य की आकर्षण शक्ति तथा परिभ्रमणशीलता का उल्लेख हुआ है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।

ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः॥ (अथर्व० १४.१.१)

अथर्ववेद के 'दिवि सोमो अधिश्रितः पद से इस वैज्ञानिक तथ्य की पुष्टि होती है कि सोम अर्थात् चन्द्रमा सूर्य के आश्रित होकर ही प्रकाशित होता है, अर्थात् चन्द्रलोक आदि में अपना प्रकाश नहीं होता बल्कि समस्त चन्द्रादि लोक सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं।

पृथिवी के बारे में एक और वैज्ञानिक तथ्य है कि यह पहले जलमग्न थी। इस तथ्य को अथर्ववेद में इस प्रकार स्वीकार किया गया है- याऽर्णवेऽधि सलिलमग्न आसीत् यस्या हृदयं परमे व्योमन्। (अथर्व0 12.1.8)

वर्षा के सम्बन्ध में जहाँ एक ओर यह धारणा है कि वर्षा इन्द्र की कृपा से होती है, वहीं वैज्ञानिक तथ्य यह है कि सूर्य उस समुद्र जल को वाष्प रूप से गहण करके बादल रूप से वर्षा होती है। इसी तथ्य की पुष्टि अथर्ववेद के ''अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः। आपः समुद्रियाः धाराः (अ0 7.107.1)'' तथा ''हरयः सुपर्णाः अपो वसाना दिवम् उत्पतन्ति'' (अथर्व0 13.3.10) मन्त्रांशों से होती है। अथर्ववेद के -

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।
शीत हृदा हि नो भुवः अग्निष्कृणोतु भेषजम्॥ अथर्व. ६/१०६/३

इस मन्त्र में वर्णित घर को वैज्ञानिक परिवेश में एयर कण्डीशण्ड अर्थात् वातानुकूलित घर कहा गया है।

यजर्वेद के - विमान एष दिवो मध्य आस्त (यजु0 17.59) मन्त्रांश में नभ में विचरण करते विमान का वर्णन है। 'तां गूहत तमसाऽपव्रतेन यथाऽमी अन्यो अन्यं न जानन् (यजु0 17.47) यजुर्वेद के इस मंत्र में वर्णित तामसास्त्र आधुनिक वैज्ञानिक अश्रुगैस का ही पूर्वरूप है। अप्सु ते जन्म.....समुद्रे अन्तर्महिमा ते......." (अथर्व0 6.80.3) इत्यादि अथर्ववेद मन्त्र में चन्द्रमा की उत्पत्ति जलमग्न पृथिवी से दर्शाई गई है तथा पूर्णिमा को समुद्र में होने वाले ज्वार भाटे की ओर भी संकेत हुआ है।

वेदों में हमें आधुनिक रसायन विज्ञान भी पूर्णतः परिलक्षित होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार जल की उत्पत्ति 2/3 हाइड्रोजन तथा 1/3 ऑक्सीजन के मेल से होती है। अथर्ववेद के मन्त्र - "अग्निषौमौ विभ्रत्याप इत् ताः तीव्रो रसो मधुपृचामरंगमः आ प्राणेन" (अथर्व0 3.13.5) में अग्नि से ऑक्सीजन तथा सोम से हाइड्रोजन का भाव अभीष्ट है। जल से अग्नि की उत्पत्ति कही गई है जो आधुनिक विद्युत् शक्ति की संवाहक है।

वेदों में हम वनस्पति विज्ञान के तत्व ढूँढना चाहें तो वहाँ आधुनिक वानस्पतिक तत्व क्लोरोफिल को 'अवि' नाम से देखा जा सकता है। मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि इसी तत्व से वृक्षों में हरीतिमा भरी होती है। अथर्ववेद का मन्त्र है-

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।

तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥ (अथर्व० १०.८.३१)

संसार के प्रथम ग्रन्थ ऋग्वेद में धातु विज्ञान के रूप में विविध धातुओं का प्रयोग प्राचुर्य देखा जा सकता है। वेदों में सोना, चांदी, तांबा, सीसा, रांगा, जैसी धातुओं का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में स्वर्णाभूषण धारण करने का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यथा - बभ्रुरेको विषुणः सूनरो युवाञ्ज्यङ्क्ते हिरण्ययम् (ऋग् 8.29.1)' अथर्ववेद में अग्नेः प्रजानं परि यद् हिरण्ययम् (अथर्व0 19.26.1) अग्नि द्वारा सुवर्ण शाधन की बात कही गई है।

वेदों में गणित विज्ञान का भी पर्याप्त उल्लेख हुआ है। कीथ तथा मैक्डानल ने गणना के आधारभूत दश अंकों के बहुत से उदाहरण ऋग्वेद से ही प्रदर्शित किये हैं। यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा में संख्याओं की सूची एक दश शत सहस्र अयुत नियुत प्रयुत अर्बुदन्यर्बुद समुद्र मध्य अन्तः परार्ध रूप से प्राप्त होती है। वैदिक यज्ञानुष्ठानों में वेदी निर्माण प्रक्रिया से न केवल ज्यामिति अपितु बीज गणित की उत्पत्ति भी हुई है। इसी से

एकघात, द्विघात- समीकरण आदि गणितीय विज्ञान का समाधान भी हुआ है। बीजगणित के आविष्कार तथा विकास का श्रेय भी भारतीयों को ही जाता है। यहीं से अरब तथा यूरोप में इसका प्रसार हुआ। भारतीय रेखागणित का प्रादुर्भाव तथा विकास भी वैदिक काल में हुआ है। इसका मूल स्रोत बौधायन तथा आपस्तम्ब कृत शुल्वसूत्र हैं।

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में आयुर्वेदोपदेश का विवेचन सूत्रबद्ध रीति से वेदों में परिलक्षित हुआ है। सूक्त मन्त्रों के अर्थगाम्भीर्य की कठिनता को देखते हुए ही आयुर्वेद शास्त्र की पृथक् से रचना हुई है।

चलते-चलते यदि हम अब एक नजर आधुनिक युग की प्रबलतम समस्या पर्यावरण प्रदूषण पर डालें तो हमें वेदों में पर्यावरण विज्ञान के प्रति तो सर्वथा सचेत किया गया है।

वेदों में यज्ञ हवन आदि के विस्तृत विवेचन द्वारा ऋषियों ने पर्यावरण संरक्षण तथा परिष्कार की सर्वोत्तम प्रक्रिया को खोज निकाला था। विभिन्न गुणों वाले सुगन्धित पदार्थों के होम से आर्विर्भूत यज्ञीय धूम से पर्यावरण की रक्षा होती है। अतः एव यज्ञ के विषय में यजुर्वेद में कहा गया है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकम् महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

वर्तमान में पर्यावरण के सम्बन्ध में ऋक्, यजुः, साम

अथर्व वेदों में अग्नि, इन्द्र, उषः, पृथिवी, वरुण, आदित्य, सूर्य, वायु आदि के स्तुत्यात्मक सूक्त मानव कल्याण की कामना के पोषक हैं। यथा -

शन्नो मित्रःश रुवणः शन्नो भवत्वर्यमा।

शन्नो इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरूक्रमः।

शन्नो वातः पवतां शन्नस्तपतु सूर्यः।

शन्नः कनिक्रदद् देव पर्जन्योऽभिवर्षतु

सारांशतः कहा जा सकता है कि आधुनिक सन्दर्भ में वैदिक विज्ञान की उपादेयता सर्वथा बनी हुई है और आधुनिक वैज्ञानिकों ने मूल रूप में प्राप्त वैदिक विज्ञान को ही विकसित किया है।

व्याकरणशास्त्रे स्फोटवादः

डॉ0 भारतनन्दन चौबे
प्राध्यापकः व्याकरणविभागः
ऋषि संस्कृत महाविद्यालयः, हरिद्वारम्

वेदो हि विश्वस्य पुरातनं सर्वश्रेष्ठं विद्यास्थानम्। तत्र ऋग्वेदे 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः इति मन्त्रांशे, यज्ञ शब्दस्य 'यज्' धातुना कीदृशी साधीयसी व्युत्पत्ति प्रदर्शिताऽस्ति एवमेव धान्यमसित धिनुहि देवान्' इति यजुर्वेदे, मन्त्र भागे, धान्य शबदस्य येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा इति सामवेदे, पवित्र शब्दस्य, तीर्थस्तरन्ति इत्यथर्ववेदे, तीर्थ शब्दस्य, प्रकृति प्रत्यय विश्लेषेणेन व्याकरण शास्त्रस्य मूलभूतः संकेतः साधूपलनभ्यते।

एवमेव 'चत्वारि वाक्,' इति मन्त्रस्य महर्षियास्क् कृत् व्याख्यानम्, चत्वारि शृङ्गा' इत्यादीनां पधञ्चानां मन्त्राणां महर्षि पतञ्जलिकृतं व्याख्यानम्, एत ज्जातीय मन्यदपि वैदिकमुदाहरणं चादस्यशास्त्रस्य वेदमूलकत्वं सम्यगवगमयन्ति। एवमेव गोपथब्राह्मणे, मुण्डकोपनिषदि, वाल्मीकीयरामायणे, महाभारतादिषु च बहुत्र वेदे तदनुगुणग्रन्थेषु चास्य सङ्केतः सुष्ठु प्राप्यते।

नहि वेदमूलकत्वमेव व्याकरण शास्त्रस्य अपितु वेदाङ्गत्वमपि। तथाहि शिक्षा, कल्प, निरुक्तम् छन्दः ज्योतिषम इत्येतैः सहितं षष्ठं व्याकरणम् इति मिलित्वा षट् संख्याकानि सन्ति अङ्गानि वेदस्य। उक्तञ्च गोपथ ब्राह्मणे- षडङ्गाविदस्तत्तथा धीमहे इत्यत्र षडङ्गपदेन एषामेव सङ्केतः प्राप्तो भवति। षडङ्गवेद विदुषां क्रतु प्रवरवाजिमनाम् इत्येवं रूपेण वाल्मीकीय रामायणे, सुन्दर काण्डेऽपि षडङ्गशब्द आगतः। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च इति महाभाष्येऽपि षडङ्गपदेन एते शिक्षा निरुक्तदाय एव सङ्केतिताः सन्ति। अपि च तत्रेवाङ्गान्तरापेक्षयाऽस्य प्राधान्यामपि प्रोक्तम् प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् इति। एवञ्च राथा शरीरस्य रक्षायै अङ्गानां महत्यावश्यकता भवति तथैव वेदानां स्वरूपं, तदर्थं चावगन्तुं महत्प्रयोजनमङ्गानाम् किं पुनर्मुखस्थानीयस्य व्याकरणस्येति।

तत्रादौ व्याकरणरूपं लक्षणेन विज्ञाप्यते 'व्याक्रियन्तेऽसाधुशब्देभ्यः साधुशब्दाः पृथक् क्रियन्ते येन तद् व्याकरणम् इति करण व्युत्पत्या असाधुशब्दावधिकसाधुशबदकर्मकपृथक्कृति पूर्वक साधु शब्द विषयक ज्ञानकरणं व्याकरणभित्यर्थो लभ्यते। यथा गावी, गोणी, गोता इत्यादिभ्योऽसाधुशब्देभ्योगो' इत्यस्य साधु शब्दस्य पृथक्कृत्य ज्ञापनं व्याकरणशास्त्राधीनम्, तच्च ज्ञापनं गच्छतीति गौः, गभेर्डः प्रत्यय औणादिकः कर्तरि इत्येनं प्रकृति प्रत्यय विभाग पूर्वकम्।

अतश्च साधुशब्दज्ञापकशास्त्रत्वम्, शब्दनिष्ठ साधुत्व ज्ञानजनकशास्त्रत्वं वा व्याकरणस्य लक्षणं पर्यवस्तित्वाम् वेदितव्यम्। डित्वादि शब्देऽस्य लक्षणस्य प्रकृति प्रत्ययविभागाभावेनात्याप्तिर्न शङ्कनीमया, प्रकृत्यादि विभागज्ञानस्य लक्षणे प्रवेशाभावात्। लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम् इति महाभाष्योक्त्यापि लक्ष्यगत साधुत्व लक्षकशास्त्रत्वमेव व्याकरणस्यासाधारणधर्मो बोध्यते। यद्यपि शब्दानां शब्दत्वेन ज्ञानपि शब्दज्ञानम्, तच्च श्रवणेन्द्रियेणैव सम्पाद्यतां भजते, इति किमर्थ व्याकरणशास्त्रभिति संशयः स्फुरति, तथापि साध्वनुशासनेऽत्रशास्त्रे इति भाष्योक्त्यासाधुत्वेन तज्ज्ञानमेव लक्षणे प्रविष्टमिति न कोऽपि संशयावसर, श्रीमता भर्तृहरिणापि वाक्य पदीये उच्यते–

साधुत्व ज्ञानविषया सेषा व्याकरणस्मृतिः। इति तस्मान्निबध्यते शिष्टैः साधुत्व विषया स्मृतिः, इति च।

एतच्च व्याकरणम् 'ब्रह्मा वृहस्पतये प्रोवाच, वृहस्पतिरिन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः ऋषयो ब्राह्मणेभ्यः तं खल्विममक्षरसमाम्नाममित्याचक्षते इति ऋक्तन्त्रोक्त्या परिलक्ष्यते यद् व्याकरण शास्त्रस्य प्रथम वक्ता ब्रह्मा आसीत द्वितीयो ब्रृहस्पतिः तृतीय इन्द्रः, चतुर्थोभारद्वाजः पञ्चम कोटौमहर्षियः। ततो महेता कालेन भागार्य–शाकल्य सेवक शाकटायन स्फोटायन भरद्वाज प्रभृतीनां महावैयाकरणानां परम्परावसाने महामुनिः पाणिनि र्महत्या तपश्चर्यया भगवन्तं महेश्वरं प्रसाद्य ततोऽक्षरसमाम्नायंमन्त्रमिव लब्ध्वा, शिथिलप्रायं व्याकरण शास्त्रमुज्जीवयामास।

तदेव व्याकरणं कतिपयेष्टकासंयोजनेन राजभवनमिव वार्तिकयोगदानेन परिचस्कार महामुनिः कात्यायनः। पुनश्च तत्र महाभाष्यात्मक परिरवासम्पादनेन गंभीरपदार्थविवेचनात्मकागाध जलराशि पूरणेन तस्य सुस्थिरत्वमजेयत्वं च कृतवान् भगवान् पतञ्जलिः।

इत्थञ्च मुनित्रय प्रवर्तितोऽयं व्याकरण सम्प्रदायः। श्रीभर्तृहरि कैयट हरदत्त वामन जयादित्य रामचन्द्र भट्टोजिदीक्षित कौण्डभट्ट नागोजिभट्ट प्रभृतिभिः शाब्दिकमूधन्यैः सनाथितोऽद्यावधि अविच्छिन्न धरया प्रचलन्नस्ति व्याकरण शास्त्रस्य द्विविधंस्वरूपमवलोक्यते शब्दसाधुत्वरूपं दर्शन रूपंच प्रथमेऽंशे प्रकृति प्रत्यय विभागे समपादनं भवति। द्वितीयेऽशे आत्माऽनात्मविवेचनं क्रियते। तत्र वागेवात्मतत्वमत्र शास्त्रे तदन्यत्सर्वमनात्मरूपम् अत्र द्वितीय दार्शनिकांश एव स्फोटात्मक शब्द ब्रह्मवादः, तादृशशब्द तदर्थोंभयसम्बन्धवादः, बौद्धपद पदार्थवादः आकाङ्क्षादि ज्ञानानां शब्दबोधहेतुतावादः, नामार्थवादः समासार्थवाद नञर्थवादः, निपातार्थवादः धात्वर्थवादः आख्यातार्थवाद कारकादिवादः, इत्येवं बहवः सिद्धान्त निरूपिता विद्यन्ते। वैयाकरणनये स्फोटादेव जगतः प्रक्रिया विवर्तते। अथ स्फोटपदार्थो निरूप्यते– स्फुटति प्रकाशतेऽर्थो येनेति विग्रहे 'स्फुट' विकसनेइत्यस्माद्धातोः करणेऽर्थे 'अकर्तरिचकारके

संज्ञायाम्' इति घञ् प्रत्यये सति, स्फोअशब्दो निष्पन्नो भवति, एवञ्च अर्थविषयक ज्ञान करणत्वमिति लक्षणमायाति, किन्तु इदं चक्षुरादावति व्याप्तं भवति, तत्रापि घटादिरूपार्थ प्रत्यक्ष बोध जनकत्वात। अत: स्फुटयते ध्वनिना व्यज्यते इति कर्म व्युत्पत्तिरपि स्वीकरणीया, ततश्च ध्वनि व्यङ्‌यत्वे सति अथबोध जनकत्वमिति लक्षमागतम्। ध्वनिश्रत्रच प्राकृतो ग्राह्य:मतु वैकृत: उक्तञ्च वाक्यपदीये श्रीमताभर्तृहरिणा –

'स्फोटस्य ग्रहणे हेतु: प्राकृतोध्वनिरिष्यते इति। इदमेव स्फोट लक्षणं भगवता भाष्ये कृता पस्पशाह्निके सूचितम् – 'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्द:, इत्यनेन कथनेन। अत्रोच्चारितेनेत्यस्यांभिव्यञ्जकैर्ध्वनिभि: प्रकाशितेनेत्यर्थ:।

अममाशय:-घटरूपार्थ बोधनाय घट शब्द: प्रयुत्यते, तत्र घट शब्दे घकाराकारटकाराकारा इति चत्वारो वर्णा: सन्ति। एते च वर्णा उच्चरित प्रध्वंसिन: एको वर्णो यदोच्चार्यते, तस्य प्रध्वंरते जाते एव वर्णान्तरमुच्यार्यते। उक्तं च भगवता भाष्य कारेणयेन प्रयत्नेनैको वर्ण उच्चार्यते तेनैव विच्छिन्ने तस्मिन्नुपसंहृत्य तं प्रयत्नम्, अन्यं प्रयत्नमुपादाय वर्णान्तरमुच्चार्यते इति।

एवं चेमे घकारादयो वर्णा एकस्मिन् काले नैवस्थास्यन्ति, तदएषां समूह कथं सम्पद्येत? समूहाभावे घटरूपार्थनिरूपितो शक्ति: कुत्रावतिष्ठेत? यदि प्रत्येकं वर्णे, तदा चतुर्धा तदर्थ बोधप्रसंग: स्यात्। यद्यन्तिम एव वर्णे तदा पूर्वेषां नैरर्थक्य प्रसङ्ग:। अस्यां स्थितौ सा शक्ति: निराश्रया सती स्फुोटं कल्पयति। एष च स्फोट: प्राकृत ध्वनिभिध 'कारादिभिरभिव्यक्तो हृदयदेशरस्थ: अन्त:करणावच्छिन्नश्चिद्रूप आत्मा एव स एव धकारादि ध्वनिपरूाषितो भूत्वा शक्त्याश्रय: सन् अर्थ प्रकाशयति। व्यञ्जको वर्णरूपोध्वनिस्तु जड: कथं तस्मास्यार्थप्रकाशने सामर्थ्यं स्यात्।

परापश्यन्ती मध्यमा वैखरीति भेदेन वाचश्चत्वारो भेदा भवन्ति इति स्पष्टं महाभाष्ये, मञ्जूषायाञ्च तत्र मूलाधारस्य पवन संस्कारीभूता मूलाधारस्था शब्द ब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या बिन्दुरूपिणी परावागुच्यते। नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता पश्यन्ती वागुच्यते एतद्द्वयं वाग्ब्रह्मयोगिनां समाधौ निर्विकल्पक सविकल्पकज्ञान विषय इत्युच्यते। ततो हृदयपर्यन्तभागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता तत्तदर्थवाचक स्फोटरूपा श्रोत्र ग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा जपादौ बुद्धिनिर्ग्राह्या मध्यमा वागुच्यते, तत आस्यपर्यन्तमागच्छतातेन वायुनोध्वर्माक्रामतात्त मूर्धानमाहत्य परावृत्य च तत्तत्स्थानेष्वभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्राह्या वैखरी वागुच्यते। तदाह – मन्जूषायाम्

परावाङ्‌मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।

हृदिस्थामध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।। इति।

वैखया हि कृतो नाद: परश्रवण गोचर:

मध्यमया कृतो नाद: स्फोट व्यञ्जक उच्यते।। इतिच।

युगपदेव मध्यमा वैखरीभ्यां नाद उत्पद्यते। तत्र मध्यमानादोऽ र्थवाचक स्फोटात्मक शब्दव्यञ्जक: वैरवरी नादो ध्वनि: सकल- जनश्रोत्रमात्र ग्राह्यो भेर्यादिनादवन्निरर्थक:, मध्यमा नादश्च सूक्ष्मतर: कर्णपिधाने जपादौ च सूक्ष्मतरवयु व्यग्य शब्दब्रह्मरूप स्फोटव्यञ्जकश्च। तादृशेमध्यमानाद व्यग्यं शब्द: स्फोटत्मका ब्रह्मरूपो नित्यश्च। तदाह श्रीमान् भर्तृहरि:-

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:।। इति।।

शब्दतत्वं यद् ब्रह्म आद्यन्तरहितम् अक्षरेनिमित्तत्वादनश्वरं प्रयोजनसद्भावेन अर्थबोधनायैव शब्दप्रयोग सद्भावेनार्थबोध एवास्य प्रयोजनमिति भाव:। कत्व गत्वादिरूपेण प्रतीयते। यथा परब्रह्मविवर्त: संसारोऽयं मनुष्यत्व पशुत्वादि नाना रूपेण प्रतीयते, एवं शब्दब्रह्मविवर्तसङ्घात: कत्वगत्वादि रूपेण प्रतीयते इति भाव:, शब्दस्य स्फोटरूपस्य ब्रह्म रूपत्वं स्मृति पुराणादौ। प्रसिद्धम्-

शब्देब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधिगच्छति"। इति।

शब्देब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि इति' च।

सोऽयं विकासनार्थ: स्फोट: वर्ण पद वाक्यभेदेन, त्रिधा, तत्रापि जातिव्यक्तिभेदेन, पुन: षोढा, अखण्ड पदस्फोटोऽखण्ड वाक्य स्फोटश्चेति सङ्कलनयाऽष्ट धा भवति। किञ्च लोकेऽर्थ बोधकत्वाद वाक्यस्फोट एवं व्रत्याश्रयों भवतीत्याह न्यायभाष्यकार: 'पदसमूहों वाक्य वाक्यमर्थ अर्थ समाप्तौ समर्थमिति सार:।

सन्दर्भ

1. ऋग्वेद 4/85/3

* * * * * * * *

व्याकरणस्य दर्शनशास्त्रत्वम्

डॉ0 भोला झा: प्राचार्य:
श्रीभगवानदास संस्कृत महाविद्यालय:
हरिद्वारम्

व्याकरणस्य प्रधानवेदाङ्गत्वम्' -

महाभाष्ये 'कानि पुन: शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि? इति पृष्ट्वा 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहा: प्रयोजनम्' इत्युत्तरवाक्यस्य विवरणं कुर्वागेन तत्रभवता भगवता भाष्यकारेण व्याकरणाध्ययन-प्रवर्त्तिका श्रुतिरियमुद्धृता - ''ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्म: षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेय:।'' इति, प्रयुज्यते अनेनेति करणव्युत्पत्त्या प्रयोजनब्दस्य प्रयोजकपरत्वस्यापि सत्त्वात्। अनया श्रुत्या षडङ्गवेदाध्ययनस्य नित्यकर्मता सूचिता। मनुस्मृतावपि तथोक्तम् -

'योऽनधीत्य द्विजोवेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति साऽन्वय:।।

अवश्यमर्थज्ञानपूर्वकं नित्याध्ययनविषयस्य भगवतो वेदपुरुषस्य षडङ्गानि सन्ति- शिक्षा-कल्प-निरुक्तव्याकरण-च्छन्दो-ज्योतिषाणि। तेष्वपि प्रधानं व्याकरणम्, पद-पदाथज्ञानस्य व्याकरणायत्तत्वात् तन्मूलत्वाच्च वाक्य- वाक्यार्थावसायस्य। एवञ्च पद-पदार्थावगमद्वारा वाक्य वाक्यार्थावगमोपयोगीदं व्याकरणं वेदार्थज्ञाने प्रधानं कारणमिति भाव:। अर्थज्ञानेन बिना वेदाध्ययनं च न सफलम्, अत एव निष्फलत्वान्निषिद्धम्। यथोक्तं भगवता भाष्यकृता- यदधीतमविज्ञातं निगदेनेव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।। तस्मादनर्थकं अर्थज्ञानराहित्येन निष्प्रयोजनं माधिग्रीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्। इति।

तथा चोक्तं पाणिनीयशिक्षायामपि ''छन्द: पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथपठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयतें। इति।

या चोक्तं भगवता भर्तृहरिणा वाक्यपदीये व्याकरण शास्त्रस्य दर्शनत्वप्रतिष्ठापके ग्रन्थे-

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तप:।
प्रथमं छन्दसामङ्गां प्राहुर्व्याकरणं बुधा:।। इति।

अस्यार्थ: - तस्य वेदाख्यस्य ब्राह्मण इदं व्याकरणम्, आसन्नम् सन्निकृष्टतरम्,

साधुत्वप्रतिपत्तिफलकस्य स्वरूप संस्कारस्य साक्षादुपकारकत्वात्। तपसां-चान्द्रायणादीनां मध्ये इदमुत्तमं तपः, इष्टफलहेतुत्वात्। बुधा वेदानां मुख्यमंङ्गं व्याकरणमाहुः।

व्याकरणस्य प्रयोजनम् - शब्दसाधुत्वज्ञानं व्याकरणशास्त्रस्य साक्षात् प्रयोजनम्, व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्त साधुशब्दा अनेनेति करणल्युडन्तव्याकरणपदस्य व्युत्पत्त्यातथैवार्पलाभात्। भगवता पतञ्जलिना 'अथ शब्दानुशासनम्' इति वाक्येन ग्रन्थारम्मणाच्च। अनुशिष्यन्ते अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्तेऽनेनेति अनुशासनम्, शबदानाम् अनुशासनम् शब्दानुशासनम् इति व्युत्पत्तेः। अथ व्याकरणम् इत्यनुक्त्वा अथ शब्दानुशासनम इति कथनन्तु व्याकरण शास्त्रस्य वैदिक शब्दार्थबोधकत्वेन वेदाङ्गत्व- प्रतिपादक- प्रयोजनान्वाख्यानाय। स च व्याकरणशास्त्रगतः शब्दार्थ बोधाकत्वरूपो धर्मः शब्दानुशासनशबदात् प्रतीयते, न व्याकरणं शब्द मात्रात्। शब्दानामिदंव्याकरणमिति निर्णयस्य तावन्मात्रादलाभात् तस्माद् व्याकरणशास्त्रस्य शब्दानुशासनं भवति साक्षात् प्रयोजनम्। पारम्पर्येण अर्थात् प्रयोजनप्रयोजनानि तु सन्ति वेदरक्षदीनि। यदुक्तं भाष्यकृद्धिः - 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम् इत। अत्र प्रयोजनशबदेन प्रयोजकं फलं चोच्यते। तत्र रक्षा, ऊहः, लघु लाघवम्, असन्देहश्च सन्ति फलानि। आगमश्च **'ब्राह्मणेन निष्कारणोधर्मः षड्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** इत्यस्ति व्याकरणाध्ययने प्रवर्तकः। **महाभाष्यस्य** प्रदीपाख्यव्याख्याकारस्तत्रभवान् कैयटः रक्षोहागमेत्यादिभाष्यवाक्यस्यावरतरणमाह- पारम्पर्येण पुरुषार्थसाधनातमास्याह- रक्षेति। अस्मिन् कैयटवाक्ये **पुरुषार्थो धर्मो मोक्षश्च'** इति उद्योतकारस्तत्रभवान् नागेशभट्टो व्याचख्यौ।

तत्र व्याकरणशास्त्रस्य साधुशब्दज्ञानरूपसाक्षात्-प्रयोजनवतः पारम्पर्येण प्रयेजनं व्याकरणशास्त्रीय प्रकृतिप्रत्ययविभागादिप्रक्रियास्मरणपूर्वकसाधुशब्दप्रयोगद्वारा धर्माख्यपुरुषार्थसिद्धिरितु तु सुतरां प्रसिद्धम्, पस्पशायामेव लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः', 'शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन' इति वार्त्तिकयो व्याख्यानेन भाष्यकृतैव स्पष्टीकृतत्वात्। तेन च व्याकरणस्य साधुशब्दज्ञानपूर्वक प्रयोगद्वारा धर्मसाधनतय ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयहेतुत्वंबोध्यते। तथाच श्रुतिः- एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वग लोके कामधुग्भवति। किञ्च - नाकमिष्टसुखं यान्ति सुयुक्तैर्बद्धवाग्रथैः। अथ पत्काषिणो यान्ति ये चिककमितभाषिणः॥

व्याकरणस्य निःश्रेयससाधनतया दर्शनत्वम् : -

दृश्यते-साक्षात्क्रियते वस्तुतत्त्वमात्मतत्त्वं ब्रह्मतत्त्वं वा अननेति दर्शनम्- इति व्युत्पत्त्या तत्त्वसाक्षात्कारपूर्वक संसारबन्धनिवृत्ति- स्वस्वरूपरमानन्दावाप्ति रूप निःश्रेयससाधनानि शास्त्राणि 'दर्शन' पदभाञ्जि भवन्ति। तानि च दर्शनानि प्रसिद्धतमानि सन्ति वेदप्रामाण्यतादीनि न्याय वेशैषिक साङख्य योग मीमांसा वेदान्तादीनि। तेष्वेव एकं वरीवर्त्ति व्याकरणं नाम दर्शनम् एतत्च व्याकरणस्यदर्शनत्वं भगवता भाष्यकृता साधुशब्दज्ञानरूपव्याकरणाध्ययन-

प्रयोजनस्य आनुषङ्गिक-प्रयोजननिरूपणावसरे चतुरो वेदमन्त्राननुद्धत्य तेषां व्याख्याभिः सुस्थिरीकृतम्, प्रतिष्ठापितं च ततः पश्चात् भर्तृहरि भट्टोजिदीक्षित-नागेशभट्ट कौण्डभट्टप्रभृतिभिराचार्यैः स्वेषु महा भाष्यप्रमाणेषु वाक्यपदीय शब्द कौस्तुभ वैयाकरणसिद्धान्तकारिका वेयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा- वैयाकरणभूषणसार प्रभृतिषु ग्रन्थेषु।

प्रथममन्त्रार्थ - अत्रोदेति प्रश्नो यदचेतनस्य शबदस्य कथं धर्म मोक्ष पुरुषार्थजनकफत्वसामर्थ्यम्? तत्रोत्तरं श्रुतिरेवेयं या भगवता भाष्यकृता व्याख्याता-

च चत्वारि शृंङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वेशीर्षे सप्त हस्तासोअस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोवीति

महोदेवो मर्त्यां आविवेश।। ऋ0 सं0 4.58.03

अत्र ऋङ्मन्त्रे शबदशास्त्र प्रतिपाद्यस्य शब्दब्रह्मण एवास्ति वृषभत्वेन निरूपणम्। यथा व्याचकार भाष्यकार- चत्वारिशृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। अत्र च शब्देन परा पश्यन्ती मध्यमा ..... रूपाणि इत्यपि ज्ञेयमिति तत्रभवान् उद्योतकार आह। त्रयो अस्य पादास्त्रयः काला भूविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभेदेन। तत्र व्यङ्ग्य आन्तरः स्फोटस्यः, व्यञ्जको वैखरीरूपः। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तय एव सप्त हस्ताः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। यतोहि वर्गपञ्चमैर्यरलवैश्च युक्तस्य हकारस्य उरः स्थानम्। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः स्थानम्। कण्ठशब्देन मुखान्तर्गतानि सर्वाणि ताल्वादिस्थानान्युपलक्ष्यन्ते। ऋदुरषाणां मूर्धा-शिरः स्थानम्। वृषभो कामनां वर्षणात्। वर्षणं च ज्ञानपूर्वकानुष्ठानेन फलप्रदत्वम्। रोरवीति शब्दं करोति। रौतिः शब्दकर्मा। महान् देवः शब्दः मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तान् आविवेश। महान् परब्रह्मस्वरूपः देवः अन्तर्यामि रूपः शब्दो मर्त्येष्वाविष्ट इत्यर्थः। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्। एतदेव प्रतिपादितम् तत्रभवता हरिणाऽपि वाक्यपदीये- "अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्। प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।

'इह द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। तत्रान्त्यः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभस्तस्मिन् खलु वाग्योगवित् शास्त्रजशब्दज्ञानपूर्वकं प्रयोगेण क्षीणपायः पुरुषो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीन् अत्यन्तं संसृज्यते। इति तदर्थं तद्व्याख्यातार आहुः।

द्वितीय मन्त्रः -

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो यन्त्मनुष्या वदन्ति।। अस्मयार्थः - चत्वारि वाक्परिमिता पदानि- चत्वारि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपर्सगनिपाताश्चः। अत्रापि चात् परापश्यन्ती मध्यमा-वैखर्यः। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः मनस ईषिणः। चित्तशुद्धिक्रमेण वशीकर्त्तारो विषयान्तरेभ्यो

व्यावृत्त्या हिंसका वा। ते च वैयाकरणाः। अन्येषां तदज्ञानं हेतुमाह-गुहायां त्रीणि निहितानि, नेङ्गयन्ति न चेष्टनते, न निमिषन्तीत्यर्थः। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं हवा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते। अस्याशयमुद्योतकार एवमाह गुहा अज्ञानं हृदयादिरूपा च। वैयाकरणस्तु शास्त्रबलेन तद्बललब्धयोगेन च गुहान्धकारं विदार्थ सर्वं जानातीति भावः। तस्मात् सकलपदज्ञानाय मनीषित्वाय चाध्येयं व्याकरणम्। यथाह तत्रभवान् भर्तृहरिः -

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।

अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परंपदम्।।

तत्र श्रोत्रविषया वैखरी। मध्यमा हृदयदेशस्था

पदप्रत्यक्षानुपपत्त्या व्यवहारकारणम् पश्चन्ती तु

लोकव्यवहारातीता। योगिनां तु तत्रापि प्रकृति प्रत्ययविभागावगतिरस्ति। परायां तु नेति त्रय्या इत्युक्तम्।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी।

तस्यां दृष्अस्वरूपायामधिकारो निवर्तते।। इत्युक्तेः।

तृतीय मंत्रः -

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वःशृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।

अपिखल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। 'प्रत्यक्षेण शब्द स्वरूपमुपलभमानोऽपि अर्थापरिज्ञानान्न पश्यति- इत्यर्थः इति प्रदीपकारो व्याचख्यो। अपि खल्वेकःशृण्वन्नपि न श्रृणोत्येनाम्। य एव हि अर्थं सम्यगवबुध्यते, तेनैव सा सम्यक् श्रुता भवति। एवम् अर्धेनाविद्वांसं निन्दित्वा अर्धान्तरेण विद्वासं स्तौति- उतो त्वस्मै इति। अप्येकस्मै कस्मैचिद्वैयाकरणााय तन्वं शरीरं विसस्त्रे-विवृणोति, प्रकाशति। सम्यग्ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य। अर्थो हि वाचः शरीरम् - इत्येवं व्याख्यातवान् तत्रभवान् उद्योतकारः। यथा जाया विवृतसर्वाङ्गा भूत्वा उशती कामयमाना भर्त्रे प्रेम्णा दर्शयत्यात्मानम्। यथा च तत्पुरुषस्तां यथावत् पश्चयति श्रृणोति च तद्वचनार्थम्, एवं वैयाकरण एवैनां वाचं पदशः प्रकृति-प्रत्यय-विभागेन विगृह्यार्थमस्याः पश्यतिशृणोति चेत्यर्थः- इति सर्वं सुस्पष्टं विवृतमुद्योते। तस्माद्गवान् भाष्यकारो ब्रवीति - वाङ्नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्।

तुरीयो मन्त्रः -

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।

अस्या ऋच एवमर्थमाह तत्रभवान् नागेशभट्ट उद्योते- ये यत्र व्याकरणे धीराः ध्यानवन्तः सन्तस्तितउना सक्तुमिव ध्यानयुक्तमनसा तत्करणकज्ञानेन वाचमक्रत अकृषत असाधुभ्यो विविक्तां कृतवन्तस्ते तत्करणेन शुद्धचित्ता अत्र ब्रह्मप्रतिपादकशब्दे शब्दार्थयोरभेदबुद्ध्या सखायः समानख्यातयः - समानज्ञानाः, तच्छब्दे ब्रह्मैकत्वज्ञानवन्तः, तेनेव दृष्टान्तेन सर्वपदार्थेषु ब्रह्मनिरूपिताभेदज्ञानवन्तः सख्यानि सायुज्यानि जानते प्राब्नुवन्तीत्यर्थः। यत एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीः स्वप्रकाशब्रह्मरूपा अधि अधिकं निहिता - स्थिता भवतीति ऋगर्थः।

मन्त्रं व्याकुर्वाणैर्भगवद्भिर्भाष्यकारैरप्युक्तम् - 'अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते। सायुज्यानि जानते। क्व? य एष दुर्गोमार्गः, एकगम्यो वाग्विषयः के पुनस्ते? वैयाकरणाः। कुत एतत्? भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद् भासनात् परिवृढा भवति। अस्य भाष्यस्य यदन्तिभं वाक्यम्, तस्याशयमेवं स्पष्टीकृतवान् प्रदीपकारः - वेदाख्ये ब्रह्मणि या लक्ष्मी वेंदान्तेषु परमार्थसंविल्लक्षणोक्ता सैषा निहितेत्यर्थः। अस्या ऋचः सिंहावलोकनन्यायेन तात्पर्यं विवृण्वन्नाह तत्रभवान् नागोश भट्टः 'अयं भावः- ये शास्त्रतः प्रकृति प्रत्ययविभागेन साधून ज्ञात्वा शास्त्रर्थध्यानवन्तो मानसज्ञानेन वाचमसाधुभ्यः पृथक् कृतवन्तस्ते तज्ज्ञानपूर्वकसाधुशब्दप्रयोगैर्लब्धाऽन्तःकरणशुद्धयोऽत्र य एष दुर्गो मार्गो ब्रह्मरूपस्तत्रात्मना सह समानख्यातयः व्यक्तभेदभावनां, सायुज्यानि प्राप्नुवते। यत एवां वाचि वेदाख्ये ब्रह्मणि या भद्रा लक्ष्मीः सर्वभासकब्रह्मरूपा सा अधि अधिकं निहिता भवति। एतच्छास्त्रासाध्यप्रयोगव्यङ्ग्यस्य ध्वनिरूपवैखरीरूपरूषितस्यैव तैर्वाचकत्वस्वीकारेण तस्य चात्यन्तविचारे ब्रह्मतिरेके मानानुपलम्भेन तत्तदुपाधिभिन्नचित्ते एव बोधकतया तैर्ग्रहात्। एवं सर्वबोधकेषु ब्रह्मबुद्धौ जातायां तेनैव दृष्टान्तेन सर्वपदार्थेषु ब्रह्मबुद्धिर्वैयाकरणानाम् इति। एवञ्चोक्तमन्त्रचतुष्टयं व्याकरणस्य मोक्षजनकत्वं प्रतिपादयतीति सिद्धं व्याकरणस्य दर्शन शास्त्रत्वम्।

यथाच तत्रभवान् भर्तृहरिराह-

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते।। इति।

किञ्च -

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणान्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः।। इति।।

इतिशम्

"भारतीय नाट्य परम्परा एवं वेद"

डॉ. दुर्गाप्रसाद मिश्र
संस्कृत विभाग
मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ0प्र0)

वेद शब्द विद् धातु (विद जाने) से घञ् (अ) प्रत्यय करने पर बनता है। इसका अर्थ है ज्ञान। अतएव वेद का अर्थ है- ज्ञान की राशि या ज्ञान का संग्रह ग्रन्थ। प्राचीन ऋषियों ने जो ज्ञान अर्जित किया था, उसका संग्रह वेदों में है। वैसे वेद और विद्या दोनों ही शब्द विद् धातु से बने हैं तथा प्राचीन साहित्य में वेद शब्द विद्या अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए प्राचीन समस्त विद्याओं को वेद (ज्ञान) शब्द के अन्तर्गत लिया जाता था। इसी आधार पर आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि उपवेद माने जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्य परम्परा के मूल में भी हमारा वैदिक साहित्य ही है।

मानव की सहज प्रवृत्ति है कि वह अपने भावों और विचारों को दूसरों तक पहुंचावे। इसके लिए मनुष्य साधारणतया शब्दों का प्रयोग करता है, इसके अतिरिक्त कभी इंगित से तथा कभी नृत्य गीतादि के द्वारा वह अपने भाव प्रकट करता है। मनोरंजन के लिए दूसरे का अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी मनुष्य में स्वाभाविक है। इसीलिए धनञ्जय ने दशरूपक में अनुकरण को ही नाट्य का मूल माना है।

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। (दशरूपक१-७)

दूसरे की अवस्था के आरोप के कारण इसका रूपक नाम माना है-

रूपकं तत्समारोपात्। (दशरूपक १-७)

इस अनुकरण को जब कथोपकथन या वार्तालाप, संगीत, नृत्य, वेशभूषा एवं भाव भंगिमा आदि से समन्वित कर देते हैं तथा उसे नाट्य का रूप दे देते हैं, तभी नाटक का प्रारम्भ हो जाता है। भारतीय नाट्यशास्त्र की विवेचना करते हुए आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया है कि देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि हमें ऐसी मनोरंजन की वस्तु दीजिए जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो, जिसको चारों वर्णों के व्यक्ति समान रूप से अपना सकें। उनकी प्रार्थना पर ब्रह्मा ने चारों वेदों से सारभाग लेकर पञ्चम वेद की सृष्टि की। उनके अनुसार ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद कथोपकथन आदि) सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लिया-

एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसंभवम्॥

जग्राह पाठ्यमृग्वेददात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। नाट्य० १/१६/१७

इस प्रकार दैवी सिद्धान्त को नाट्य का मूल मानने वाले मुनि भरत ने इसके विकास में वेदों को ही स्रोत रूप में स्वीकार किया है। इस विषय में विद्वान् सन्देह कर सकते हैं किन्तु यदि हम वैदिक साहित्य में आए हुए संवादात्मक सूक्तों अथवा कुछ आख्यानों पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होता है कि नाट्य के स्रोत के रूप में सूक्त अथवा आख्यान अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी इस सिद्धान्त के पोषक हैं कि नाट्य की उत्पत्ति वैदिक संवाद सूक्तों से हुई है। प्रो0 ओल्डबर्ग, डॉ0 हर्टल, ए.बी. कीथ आदि पाश्चात्य विद्वान् किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं।

भरतमुनि के कथन को यदि स्थूल रूप में भी स्वीकार किया जाए तो यह स्पष्ट है कि नाटक के लिए चार तत्त्वों की विशेष आवश्यकता है, अर्थात् संवाद संगीत, अभिनय और रस। ये चारों तत्त्व चारों वेदों में प्राप्य हैं। अतः चारों वेदों से नाटकों की उत्पत्ति मानना सर्वथा बुद्धिगम्य है।

ऋग्वेदीय आख्यानों का बहुत महत्त्व है। इनको ही पर कालीन इतिहास काव्य, महाकाव्य, आख्यान-ग्रन्थ और नाटको का बीज रूप माना जाता है। जो बातें बीजरूप में ऋग्वेद में पाई जाती हैं, वे ही परवर्ती साहित्य में वृक्ष के रूप में विकसित हुई। ऋग्वेद के आख्यानों के विषय में यह समझ लेना उपयुक्त है कि ये आख्यान काल्पनिक रचनाएं हैं। इनमें यह प्रयत्न किया गया है कि किसी गूढ़ दार्शनिक आध्यात्मिक या नैतिक विषय को उसके प्रति अरुचि को दूर करने के लिए आलंकारिक आख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह प्राचीन भारतीय परम्परा है कि किसी गूढ़ या सूक्ष्म विषय को समझने के लिए किसी कथा या उदाहरण का आश्रय लिया गया।

ऋग्वेद के दशम मण्डल का सूक्त यम-यमी संवाद के रूप में जिसमें मानव जाति की उत्पत्ति पर प्रकाश डाला गया है। पुरुरवा-उर्वशी संवाद (ऋ. 10-95) सूक्त में पुरुरवा-उर्वशी की चंचलता की भर्त्सना करता है, किन्तु उसे अपनी आसक्त दृष्टि से ओझल करने में असमर्थ है। अगस्त्य लोपामुद्रा (ऋ. 1/179) संवाद सूक्त फसल कट जाने के बाद किए जाने वाले प्रजनन सम्बन्धी अनुष्ठान का प्रतीक है। सोमसूर्या सूक्त (ऋ. 10/85) में सूर्य अपनी पुत्री सूर्या को चन्द्रमा को समर्पित करता है और उसे गृहस्थोचित शिक्षा देता है। इसमें विवाह संस्कार और वैवाहिक कर्मो का वर्णन है। इन्द्र मरुत संवाद (ऋ. 1/165) सूक्त में इन्द्र अगस्त्य और मरुतों का संवाद वर्णित है जिसमें इन्द्र वृत्रासुर युद्ध में मरुतों के साथ न देने पर उनसे विवाद करते दीख पड़ रहे हैं। इसमें अगस्त्य ने मध्यस्थता की है।

प्रो0 मैक्समूलर तथा प्रो0 सिलवा लेवी अगस्त्य और मरुतों के सूक्त के सम्बन्ध में कहते हैं कि सम्भवतः मरुतों की आराधना में किये गए यज्ञों के अवसर पर इस संवाद का पाठ होता था अथवा दो दलों द्वारा इसका अभिनय किया जाता था। जिनमें एक दल इन्द्र का तथा दूसरा दल मरुतों का अभिनय करता था।

विश्वामित्र नदी संवाद (ऋ. 3/33) सूक्त में विश्वामित्र के साथ नदियों का वार्तालाप वर्णित है। विश्वामित्र नदियों को पार करना चाहते हैं इसलिए बाढ आई हुई। नदियों को शान्त होने के लिए विश्वामित्र उनसे प्रार्थना करते हैं। इस सूक्त में चेतन विश्वामित्र अचेतन नदियों के साथ वार्तालाप करते हैं। सरमा-पणि-संवाद (ऋ.10/108) सूक्त बहुत ही मनोरंजक सूक्त है जिसमें सरमा नामक इन्द्र कुतिया दूती बनकर इन्द्रकी गायों को चुराने वाले पणियों के पास जाती है और उनके साथ वार्तालाप करती है। यह तथ्य उस युग में भी प्रशिक्षित खोजी कुत्तों का प्रतीक है। श्यावाश्व सूक्त (ऋ. 5/61) में श्यावाश्व और राजा रथवीति की कन्या का प्रणय वर्णन है। ऋग्वेद 4/42 सूक्त में इन्द्र और वरुण अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अपनी-अपनी बड़ाई करते हैं। ऋग्वेद 4/18 सूक्त में इन्द्र, अदिति और कामदेव का एक विशिष्ट प्रकार का संवाद प्राप्त होता है। ऋग्वेद 20/86 सूक्त में इन्द्र, इन्द्राणी एवं वृषाकपि का वाद विवाद अनूठा है जिसका प्रत्येक वक्ता अपने सिद्धान्त को सही दूसरे के सिद्धान्त को दोषपूर्ण सिद्ध करता है। ऋग्वेद 7/103 मण्डूक सूक्त में वर्षा ऋतु में बोलते हुए मेढ़कों की वेदपाठी ब्राह्मणों से तुलना की गई है। यह विरोदी वातावरण का सूक्त है वान श्रोएडर ने इसे नाटकीय स्वीकार किया है।

वैदिक सूक्तों में कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जो आज के एकालाप या मोनोलॉग नाटक के मूल रूप हैं। ऋग्वेद 10/119 सूक्त में इन्द्र सोमपान करके नशे में अपना गुणगान करता है जो एकालाप नाटकों का स्रोत माना जा सकता है। ए.बी. कीथ ने इस सूक्त को कर्मकाण्ड का भाग माना है जिसमें एक पुरोहित इन्द्र की भूमिका ग्रहण कर आता है और एकालाप द्वारा सोमरस की शक्ति की प्रशंसा करता है।[2] कीथ ने 10/34 (ऋ.) अक्ष सूक्त को भी एकालाप स्वीकार किया है। अक्षसूक्त जिसमें एक जुआरी उस पासे के प्रति अपने घातक रोग पर पश्चत्ताप करता है जो उसकी पत्नी तक के विनाश का कारण हुआ है, एक नाटकीय एकालाप हैं, जिसमें नट उछलते तथा गिरते हुए पासों का अभिनय करते हैं।[3] अथर्ववेद में भी संवाद सूक्त के बीज हैं। सूक्त 5/11 में ऋत्विज् गौ के लए अथर्वा देवता से प्रार्थना करता है। किन्तु अथर्वा उसकी प्रार्थना अस्वीकार करते हैं। ऋत्विज् अनेकशः अनुनय विनय करते हैं।

इस प्रकार वेदों में अनेक ऐसे संवाद सूक्त प्राप्त होते हैं। जिन्हें अंशतः नाट्य का आदि रूप कहा जा सकता है। डॉ0 हर्टल वैदिक संवादों को बीजरूप में रहस्यात्मक रूपक मानते हैं। उनके मत में वैदिक संवादों के ये सूक्त गाए भी जाते हैं। अतः वैदिक संवादों एवं कर्मकाण्ड

में नाट्य का बीज अवश्य है। संवाद सूक्तों के अलावा यजुर्वेदीय वाजसनेयि संहिता के पुरुषमेध प्रकरण में एक प्रसंग[4] में सूत, शैलूष आदि शब्द प्रयुक्त हैं जो नाट्य सूचक हैं। पं0 सीताराम चतुर्वेदी का मत है 'इसका अर्थ यह है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक काल में भी नाटक अपने पूर्ण विस्तार के साथ हमारे देश में विद्यमान था और यहाँ नाटक के प्रयोग होते थे।[5] यद्यपि डॉ0 कीथ और डॉ0 दासगुप्ता इस मन्तव्य को स्वीकार नहीं करते हैं। शैलूष शब्द अभिनेता नहीं अपितु गायक या नर्तक का वाचक है।

डॉ0 दशरथ ओझा ने भी वैदिक संवादों को नाटक का मूल स्वीकार किया है। उनके मत में 'सोमयाग नामक यज्ञ क्रिया की योजना सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी करते थे। सोम बेचने वाले वनवासियों के साथ यजमान, सोम विक्रेता और अध्वर्यु का संवाद अभिनय का सूचक प्रतीत होता है।[6] डॉ0 कीथ भी स्वीकार करते हैं कि वैदिक संवादों को यदि छोड़ भी दिया जाए तो वैदिक कर्मकाण्ड में अवश्य ही हमें नाटक के बीज प्राप्त हो सकते हैं। यदि कर्मकाण्ड में अभिनय के तत्त्वों का समावेश है तो उसका उद्देश्य अभिनय नहीं है। बल्कि अभिनेता किसी साक्षात्: धार्मिक अथवा चमत्कारिक फल के लिए प्रयत्नशील है।[7] स्टेन कोनों इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ये कर्मकाण्ड परक अर्धराटकीय तत्त्व ही नाटक के प्रादुर्भावना के मूल कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार भारतीय नाट्य के विकास में वैदिक संवाद सूक्तों, आख्यानों और कर्मकाण्ड परक अभिनयों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्द्र, अग्नि, उषस्, मरुत आदि देवताओं के महत्त्व बोधक सूक्तों में नाटकोपयोगी पाठ्य बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। सामवेद संगीतमय वेद है। संगीत नाटक का अप्रमित तत्त्व है। यजुर्वेदीय यज्ञीय क्रियाकलाप में अभिनय का अंश विद्यमान ही है जो नाटक का प्राणतत्त्व है। अथर्ववेद में प्राय: सभी रसों की प्राप्ति होती है। अत: स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य परम्परा के बीज हमें वेदों में किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हैं जो विविध प्रकार के उत्कृष्ट नाटकों के प्रणयन के प्रेरणा स्रोत प्रतीत होते हैं।

सन्दर्भ :-

1. नाट्यशास्त्र आचार्य भरत 1/16/17
2. संस्कृत नाटक ए.वी.कीथ पृ. 7-8 मोतीलाल बनारसीदास 2972
3. वहीं पृ. 8
4. यजुर्वेद 30/6
5. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमच- पं0 सीताराम चतुर्वेदी, पृ0 11 लखनऊ
6. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास- डॉ0 दशरथ ओझा, पृ-42, दिल्ली
7. संस्कृत नाठक- कीथ पृ. 13।

"वैदिक कालीन कलात्मक जीवन"

डॉ. मंजुलता
प्रवक्ता संस्कृत
राज. स्ना. महाविद्यालय ऋषिकेष, देहरादून

वेदों में तत्कालीन समाज के सौन्दर्यात्मक एवं कलात्मक जीवन का अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त होता है। वेदों में आर्यों की प्राचीन काव्य कला की कुछ अलभ्य रत्नों की उपलब्धि होती है। कई बार तो इन वर्णनों की चित्रमयता और भाषाकी स्वच्छता इतनी सुन्दर होती है कि वे एक रीतिकाव्य सा प्रतीत होते हैं। इनके दो उदाहरण हैं जो अथर्ववेद में प्राप्त होते हैं:-

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।

अभ्रातर इवं जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥ (१/१७/१)

इस मन्त्र में घायल व्यक्ति के रुधिर प्रवाही नाड़ियों का वर्णन हैं जो समस्त रूधिर मिल जाने पर वैसी ही शिथिल हो गई हैं जैसे बिना भाई की कुंवारी बहन की कान्ति मलिन हो गई हो।

दूसरे मन्त्र में अपमानित ब्राह्मण का वह बाण विष बुझे बाण की तरह और उड़ने वाले सर्प की तरह भयानक होते हैं।

इषुरिव दिग्धा नृपते पृथदाकूरिव गोपते।

सा ब्राह्मणस्येषुर्धोरा तया विध्यति पीयतः।।५/१८/१५

वेदों में अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त उस समय की काव्य कला के बड़े ही मनोरम रूप में प्रस्तुत करता है। पृथ्वी का वात्सल्य उनकी निसर्गता और विशालता का वर्णन मिलता है। ऋषि ने पृथ्वी को बाल सुलभ माँ के रूप में अभिव्यक्त किया है।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पयः। १२/१/१०

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः॥ १२/१/१२

हम ऐसे पुत्रों को माता भूमि दूध दे। भूमि मेरी माता है तथा मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ। यह देश प्रेम आज भी मूर्त रूप प्रदान करने में सक्षम है, इसीलिए आज भी सभी लोग इन्हें देवत्व की श्रेणी में रखते हैं।

एक मन्त्र में पृथ्वी की प्राकृतिक सुन्दरता का वर्णन मिलता है। हे पृथिवी तुम्हारी

चोटियाँ हिम शिखर और जंगल हमारे लिए आनन्दवर्धक हों, और हम भूरी काली, लाल तथा विभिन्न रूपों वाली इन्द्र द्वारा रक्षिता अचल भूमि पर सुरक्षित और स्वस्थ रहें। एक मंत्र में पृथ्वी की व्यापकता एवं अखण्डता का वर्णन मिलता है। अन्य मन्त्र में वर्णन मिलता है कि हे पृथ्वी तुम पर उत्पन्न मनुष्य तुम पर विचरण करते हैं, तुम दो पैरों वालों एवं चार पैर वालों का पालन करती हो, तुम्हारी ही मानवों की पांच जातियाँ हैं। जिनके लिए सूर्य अपनी सदृश रश्मियों को फैलाता है। एक अन्य मन्त्र में पृथ्वी के ऐश्वर्य सम्पन्नता का मनोरम दृश्य मिलता है। जिस पर मनुष्य विभिन्न स्वरों में गाते और नाचते हैं, जिस पर युद्ध करते हैं तथा जिस पर युद्ध के नगाड़ों का बोध होता है, ऐसी वह भूमि हमारे शत्रुओं को दूर करें।

इनके अलावा क्षत्रियों से सम्बन्धित सूक्तों में सबसे सुन्दर अथर्ववेद के युद्ध गीत हैं। उनमें भी योद्धाओं को युद्ध के लिए उत्साहित करने वाले गीत हैं। हे नगाड़े, तू गरजते हुए साँड़ के समान घोर भयंकर शब्द कर और शत्रुओं के हृदय में बेध डाल कर जिससे कि शत्रुगण अपने गांव छोड़-छोड़ कर भाग जायें। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में कोई भी ऐसा स्थल नहीं है जहाँ देवी सर्वशता को इतने प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णित किया गया हो। जो देवों का अधिपति, शासक स्वयं बहुत बड़ा है, जो सब को भली-भांति जानता वह वरुण है।

वेदों में कुल 20 छन्दों का प्रयोग हुआ है, इनमें से केवल सात छन्दों का ही प्रयोग मिलता है।

1. त्रिष्टुप अक्षर
2. गायत्री 44
3. जगती 48
4. अनुष्टुप् 32
5. पंक्ति 40
6. उष्णिक 28
7. वृहती 36

इनके अलावा भी अति जगती अति शत्वरी अत्यष्टि आदि छन्दों का भी प्रयोग मिलता है। यजुर्वेद गद्य में हैं तथा अथर्ववेद में भी अध्याय 15 सम्पूर्ण गद्यात्मक है, यहाँ यह भेद करना कठिन है कि एक उदात गद्य और सामान्य छन्द में विभाजन रेखा क्या हो सकती है।

संगीत कला का वैदिक काल से इतिहास प्राप्त होता है। सबसे प्राचीन संगीत संहिता सामवेद है, जिसकी बाद में हजारों शाखाएं हो गई हैं, सामवेद प्रायः यज्ञों के अवसर पर गाया जाता था। गाथा शब्द भी कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। जो गीत वे अर्थों में आता है। सूर्या

के विवाह में उनके वस्त्र को गायन को परिष्कृत किया गया था। ये गाथाएं विवाह के समय आनन्दप्रद होती थी। गाथाएं यज्ञ विषयक संगीत हैं। गीतों को नराशंसी कहा जाता है। इसका अर्थ होता है मनुष्यों को प्रशस्ति गाने वाला मन्त्र एक मन्त्र में वैदिक ऋषि ने ब्राह्मणों के गर्जन को मरुदगणों का गीत कहा वर्षा के लिए मरुत गणों से प्रार्थना की गई है कि हे मरुद्‌गण आप लोग आनन्द में गान करते हुए प्रजा जनों को मेघों का दर्शन कराएँ और जल के वेगवान् प्रवाह नाना स्थानों पर उमड़ आवे। 41/5/3

वैदिक काल में वाद्य संगीत का भी उल्लेख मिलता है।

दुन्दुभिः – इसको भेरी भी कहते हैं यह वीर वर बजाया जाने वाला वाद्य है, इसका नाद इतना तेज होता था कि कोई अन्य शब्द सुन सकना असम्भव था। इसके सम्बन्ध में दो सूक्त मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि यह वाद्य युद्ध को आरम्भ करने के समय बजाया जाता था।

शंख :- अथर्ववेद में शंख विषयक एक समस्त सूक्त ही प्राप्त होता है। यह नदियों और समुद्रों से प्राप्त किया जाता था। नृत्य कला इसके विषयमें अल्प ज्ञान प्राप्त होता है केवल एक स्थान पर नाचने गाने का उल्लेख मिलता है।

वास्तु कला :- वास्तु का अर्थ है गृह एक मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि हे अग्नि देव मेरे शत्रु वास्तुहीन हों। अथर्ववेद के 12/5/21 में उल्लेख मिलता है कि यदि कोई क्षत्रिय ब्राह्मणी का हरण करता है तो उसके घर में भेड़िया (वृक) शीघ्र ही रुदन करते हैं। इस प्रकार अथर्ववेद काल में घर को सामान्य रूप में वास्तु कहा जाता था और घर के देवता को वास्तोष्पति।

भवन निर्माण सम्बन्धी उपकरणों मे बांस का प्रयोग प्रमुख रूप से होता था। एक मन्त्र में बांस के खम्भों की स्थापना का प्रकरण प्राप्त होता है। बांस का प्रयोग छत आदि निर्माण के कार्यों हेतु किया जाता रहा होगा। कई भवनों के दो किनारे होते थे और कुछ के चार, कोई षट्‌भुजा, अष्टभुजा और दश भुजा के होते थे एक स्थान पर भवन की तुलना हाथी से की गई है, गृह का प्रयोग एक वचन, द्विवचन दोनों में हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि भवन कई कमरों का होता था, प्रत्येक घर में अग्निशाला नाम का एक कमरा होता था, जिसमें हर समय अग्नि प्रज्वलित रहती थी, स्त्रियों के कमरे को पत्नी सदन और बैठक को सदस् कहा जाता था। एक मन्त्रमें गायों को गोष्ठ में समृद्धि के हेतु प्रार्थना की है। घोड़ों के रहने के स्थान को अश्वशाला कहा जाता था।

परमसत्ता में आनन्द की कल्पना की गई है। शरीरं ब्रह्म प्राविशत्। 1/8/23

शरीर में ब्रह्म के प्रवेश होते ही आनन्द और मोक्ष का प्रवेश होता है, इनमें यदि गम्भीर दार्शनिक सत्ता न भी स्वीकार कीया जाय तब भी ये परोक्ष सत्ता में आनन्द और हर्ष के सिद्धान्त को दृढ़ करते हैं। यही विचारधारा परवर्ती ब्रह्म के सिद्धान्त के उपगम का स्रोत हैं।

वेदों में आत्मा में रस का आवास माना गया है, वैदिक कालीन ऋषि आध्यात्मिक सत्ता में रस की भी कल्पना की गई है। एक मन्त्र में स्वयं भू और युवा आत्मा का वर्णन है, उसमें आत्मा को रस से तृप्त कहा गया है, एक मन्त्र में पार्थिव रस का वर्णन है, जिसे पीकर भगदेव हृष्ट-पुष्ट हो गए।

प्रकृति में सुन्दरता की कल्पना वैदिक आर्यों ने 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' तीनों रूपों की उपासना की थी, यदि देवगण उनके लिए संरक्षक एवं कल्याणकारी थे तो उनमें सुन्दरता का भी आवास था। अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले सविता देव विचित्र दीप्ति वाले सविता देव तुम्हारे उदित होते ही लोग तेरे व्रत में संलग्न हो जाते हैं, कहीं चित्रभानु शब्द का भी प्रयोग है।

सूर्य के अलावा सूर्य पुत्री सूर्या के भी सुन्दर स्वरूप का वर्णन है, विवाह सूक्त में हैं, विवाहिता सूर्या के नेत्रों में अंजन लगा हुआ है, उनके वस्त्र बहुत ही सुन्दर हैं। उनके केश कुरार और ओपश पद्धति से संवारे गए हैं।

चक्षुराभ्यञ्जनम् १४/१/६ सूर्याया भद्रमिद् वासो।

कुरारं ओपशः। १४/१/८ (वैदिक ई०भाग १पृष्ठ १३९)

इस प्रकार अलंकृता सूर्या रथ चढ़कर पति गृह जा रही है। हे सूर्य अच्छे - अच्छे फूलों से सुसज्जित नाना प्रकार के सुवर्ण के रंग के सुन्दर बने हुए उत्तम चक्रों वाले रथ पर चढ़। यहाँ वैदिक ऋषि ने सूर्या के बहने एक सुन्दर वधु का चित्रण किया है। वैदिक ऋषि सून्दरता के प्रतिनिधि देव गन्धर्व तथा सुन्दरता की देवी को अत्सरा कहा है। गन्धर्व गन्ध को धारण करने वाले देव समझे जाते थें।

गन्धर्व लोग अन्यत्र एक स्वतन्त्र संगीत के प्रवर्तक भी क़हे गए हैं। द्यूत क्रीड़ा में अप्सराएं असीम आनन्द को प्राप्त कराने वाली समझी जाती है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वेद कालीन कला उच्च कोटि की थी।

★★★★★★★★★

महाभारत कालीन दिव्यास्त्र

महावीर 'नीर' विद्यालंकार
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि., हरिद्वार

भारत के 34 वे स्वतन्त्रता दिवस की पुनीत बेला में स्व0 प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने विश्व में महाप्रलयंकारी विस्फोटक पदार्थो के निर्माण एवं संग्रह की ओर इंगित कर, अमरीका द्वारा 'नयूट्रोन' बम बनाने की घोषणा की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया था। आज विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचने को उत्सुक है। यह (पदार्थ-विद्या) विज्ञान संहारक शक्ति का उत्पादन भी कर रहा है और मनुष्य की सुख-सुविधा के अनेक साधन जुटाने में भी लगा है।

इतना होने पर भी आज विश्व मौत के कगार पर खड़ा है। मानव आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों की विभीषिका से त्रस्त है। हिरोशिमा और नागासाकी के भयंकर दृश्य का स्मरण कर यकायक रोंगटे खड़े हो जाते है। आज बटन दबाते ही भयंकर विस्फोटक पदार्थो से लैस राकेट यान, विमान, शत्रु पक्ष का महाविनाश करने में सक्षम है। विद्वानों का मत है कि इन विस्फोटक पदार्थो से समस्त संसार को तीन बार ध्वस्त किया जा सकता है। वस्तुतः युद्धों की डरावनी-काली क्रूर छाया किसी के लिए भी कल्याणकारिरणी नहीं हुआ करती है। विनाश के पश्चात् पश्चात्ताप की ज्वालाओं से मन का सुकोमल तन्तु जला करता है।

आज से हजारों वर्ष पूर्व भी 'महाभारत' के संग्राम की अन्तिम परिणति पश्चात्ताप में ही हुई थी। विनाशकारी युद्धों का परिणाम ऐसा ही होता है। महाभारतीय इतिहास वास्तव में गृह कलह से उत्पन्न युद्ध का इतिहास है। कौरवों और पाण्डवों के इस भयानक युद्ध में उनके अपने सम्बन्धियों और उनसे स्नेह व शत्रुता रखने वाले अनेक देशों के राजाओं ने साथ दिया था। यह युद्ध 18 दिन में 18 अक्षौहिणी (11 कौरवों 7 पाण्डवों की) सेनाओं के संहार के साथ समाप्त हुआ। केवल भरत खण्ड के दो वीर ऐसे थे, (राजा रुक्मी और बलराम 'हलधर') जो इस युद्ध से अलग रहे।

साधारणतः प्रजाजनों का अनुचित संहार न हो, तदर्थ कौरवों और पाण्डवों ने हस्तिनापुर से दूर कुरुक्षेत्र की भूमि में पश्चिमाभिमुख और पूर्वाभिमुख होकर जब युद्ध की इच्छा से डेरे डाल दिए तब दोनों ही ओर के राज्य-प्रत्याशियों ने अपनी-अपनी वीर मण्डली के चुने हुए योद्धाओं से युद्ध-प्रसंग में सभाएं की। महाभारत के उद्योग पर्व में वर्णित यह प्रसंग इतना सटीक, इतना सुन्दर तथा उस समय के वीरों के चरित्र तथा

वैज्ञानिक उन्नति का इतना साकार चित्र प्रस्तुत करना है कि पढ़ते ही बनता है।

कौरव पक्ष की रात्रीकालीन सभा-

अपने-अपने स्थानों पर विराजमान पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्त्थामा और कर्ण से महाराज दूर्योधन ने सामयिक एवं सामरिक प्रश्न करते हुए कहा कि आप सभी महान् पराक्रमी हैं, दिव्यास्त्रों के ज्ञाता हैं, युद्ध विद्या में निष्णात हैं-'आपसे यह जानना चाहता हूँ कि आप कितने-कितने समय में पाण्डवपक्ष को युद्ध में परास्त कर सकते हैं''। तब सबसे पूर्व वयोवृद्ध भीष्म पितामह अपने बल एवं शस्त्रास्त्र ज्ञान के आधार पर बोले कि मैं 1 मास में पाण्डवों को परास्त कर सकता हूँ। तदन्तर द्रोणाचार्य बोले कि मैं भी अपने बल एवं शस्त्रास्त्र ज्ञान के आधार पर दो मास में पाण्डव वीरों को परास्त कर सकता हूँ। कृपाचार्य बोले-राजन्! मैं भी दो ही माहों में यह कार्य कर सकता हूँ। दुर्योधन ने युद्धवीर अश्वत्त्थामा से पूछा। द्रोणपुत्र अश्वत्त्थामा ने अपने बल एवं युद्ध ज्ञान के अनुसार 15 दिन में पाण्डव पक्ष को मार गिराने की बात कही। अन्त में दिव्यास्त्रवेत्ता कर्ण ने कहा मैं पांच दिन में पाण्डावों सहित समस्त शत्रु दल को यमालय भेज दूंगा।'' उद्योग पर्व 193/18,19,20/21

इस प्रकार कौरव वीरों के मध्य इस विचार-विमर्श का पता जब महाराज युधिष्ठिर को हुआ तो चिन्तित होकर उन्होंने भी पाण्डव वीरों की सभा बुलाई।

पाण्डवपक्षीय वीर सभा-

अब पांण्डव-पक्ष की वीर-सभा सम्बोधित करते हुए महाराज युधिष्ठर ने समस्त वीरों के समक्ष कहा कि वीरवरों! कल युद्ध होने वाला है। बताइये आप लोग कितने समय में कौरव दल का संहार कर सकते हैं। क्योंकि दिव्यास्त्रवेत्ता कर्ण का कहना है कि वह 5 दिन में भूमि को पाण्डव रहित कर देगा। युधिष्ठर के ऐसा कहने पर पाण्डव वीर सभा स्तब्ध रह गयीं सब वीर एक दूसरे का मुंह ताकने लगे।

तब युधिष्ठिर को चिंतित व आतुर देखकर चारों ओर दृष्टिपात कर कुन्तीपुत्र अर्जुन खड़े हुए और इस प्रकार बोले-राजन्! यदि आप मुझे विशेष आज्ञा दें तो मैं एक क्षण में समस्त भूमण्डल समेत इन वीरों को नष्ट कर सकता हूँ। यह मैं क्यों कर सकता हूँ, इस तथ्य का ज्ञान न तो पितामह भीष्म को है, न गुरु द्रोणाचार्य को और न ही कृपाचार्य को। फिर अश्वत्त्थामा और कर्ण को तो इस बात का पता कहाँ से होगा? राजन्! मेरे पास महाविनाशकारी पाशुपतास्त्र है। जोकि मुझे भव (शिव) ने प्रदान किया था। और आदेश दिया था-

ददामि ते द्रस्त्रं दयितामहं पाशुपतं विभो।

समर्थो धारणो मोक्षे संहारे चासि पाण्डव॥ वनपर्व ४०/१५

नैतद वेद महेन्द्रोऽपि न यमो न च यक्षराट्।

चरुणोऽप्यथवा वायुः कुतो वेत्स्यन्ति मानवाः।। ४०/१६

न त्वेतत् सहसा पार्थ मोक्तव्यं पुरूषे क्वचित्।

जगद् विनाशयेत् सर्वमल्पतेजसि पञ्चतितम्।। ४०/१७

इसके प्रयोग से सब, कुछ नष्ट-भ्रष्ट किया जा सकता है, किन्तु युद्ध विधान के अनुसार विपक्षी जिस प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करता है उसी प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग करना मुझे अभीष्ट है। अतः जैसा शत्रु-पक्ष युद्ध करेगा उसी के अनुसार लड़ाई होगी। यथा-अर्जुन युधिष्ठिर से कहते हैं।

अपैतु ते मनस्तापो तथा सत्यं ब्रवीम्यहम्।

हन्यामेकरथेनैव वासुदेव सहायवान्।।

उद्योगपर्व अ. १९४!श्लो. १० से १५

सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान्।

भूतं भव्यं भविष्यं च निमेषादिति मे मतिः।।१२।।

यत् तद् घोरं पशुपतिः प्रादादस्त्रं महन्मम।

कैराते द्वन्द्वयुद्धे तु तदिदं मयि वर्तते।

तन्न जानाति गाङ्गेयो न द्रोणो न च गौतमः।

न च द्रोणसुतो राजन् कुत एव तु सूतजः।।१४।।

न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः प्रथग् जनम्।

आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान् ।।१५।।

इस प्रसंग को यहाँ उद्धृत करने का अभिप्राय इतना ही है कि महाभारत काल में विज्ञान की महती उन्नति हो चुकी थी। सुख सुविधाओं के लिए विज्ञान ने जहाँ अनेक साधन जुटाए थे वहाँ आधुनिक 'एटमबम' के समान उस समय महान् विनाशकारी पाशुपतास्त्र' एवं 'नारायणास्त्र' का निर्माण हो चुका था। ये अस्त्र शत्रु सेनाओं को ही नहीं अपितु दूर-दूर तक के प्रदेशों को भी तबाह करने में सक्षम थे। इन्हीं अस्त्रों को उस समय दिव्यास्त्र कहा जाता था। क्योंकि साधारण शास्त्रास्त्रों की अपेक्षा इनकी संहारक शक्ति विलक्षण थी दिव्य थी, आज के 'एटम' आदि भी कोई साधारण अस्त्र नहीं हैं अपितु विलक्षण है, दिव्य हैं।

इन दिव्य अस्त्रों की प्रयोगविधि भी अनोखी होती थी। महाभारत काल में इन दिव्यास्त्रों के जानने वाले को अप्रतिमवीर कहा जाता था। इन अस्त्रों की प्राप्ति भी कोई साधारण बात नहीं थी अपितु जिस प्रकार आज के वैज्ञानिक दिन-रात इसके लिए तपस्या करते हैं, दूसरे देशों में जाकर 'टेकनीक' सीखते हैं, वैसे ही उस भूतकाल में जिज्ञासु ब्रह्म लोक, शिव लोक, इन्द्र लोक, पाताल लोक आदि (लोक) स्थानों में जाकर इनका ज्ञान प्राप्त करते थे। महाभारत में आगामी युद्ध की आशंका कर वन पर्व में युधिष्ठिर अर्जुन व भीम को अस्त्र विद्या प्राप्ति के लिए उत्तरी एवं दक्षिणी प्रदेशों में भेजते हैं। महाभारत में दिव्यास्त्रों के विषय में निम्न श्लोक देखिए-

आग्नेयं वारुणं सौम्यं वायव्यमथ वैष्णवम्

ऐन्द्रं पाशुपतं ब्राह्मं पारमेष्ठ्यं प्रजापतेः॥

धातुस्त्वष्टुश्च सपितुर्वैवस्वतमथापि वा॥

१२१/४०.४९ भीष्मपर्व

अर्थात् आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य धात्र, त्वाष्ट्र सावित्र और वैवस्वत-ये दिव्यास्त्र कहे गये हैं। इसी प्रकार एक दूसरे की काट करने वाले अस्त्रों का प्रयोग भी उस समय होता था। श्री मद्भागवत पुराण में उनका इस प्रकार वर्णन है।

ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रं वायवव्यस्य च पार्वतम्।

आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च॥

मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम्॥

भागवत स्क. १०/अ. ६३। श्लो १३-१४॥

अर्थात् ब्रह्मास्त्र की काट ब्रह्मास्त्र। आग्नेयास्त्र की काट पर्जन्यास्त्र। वायवव्यास्त्र की काट पार्वतास्त्र। पाशुपतापास्त्र की काट नारायणास्त्र। इसके अतिरिक्त तिमिरास्त्र की काट भास्करास्त्र तथा मोहनास्त्र की काट प्रज्ञास्त्र थे।

उस समय श्री कृष्ण व अर्जुन ही ऐसे वीर थे जो इन अस्त्रों के जानकार थे। आज भी जिन राष्ट्रों के पास विनाशकारी, प्रलयंकारी बम, विद्यमान हैं। वे उनका प्रयोग करने में महान् अनिष्ट की आशंका से उतावली नहीं करते। इसलिए जब भी किन्ही दो देशों में युद्ध होता है। तो वे इन भयंकर (दिव्यास्त्रों) का प्रयोग न कर आग्नेयास्त्र, ऐतन्द्रास्त्र आदि के रूप में हल्के बमों का प्रयोग ही करते हैं।

इस सन्दर्भ में महाभारत में एक प्रसंग आता है-द्रोणाचार्य जब युद्ध में पाण्डव वीरों से तंग आ गये तो उन्हानें महाविनाशकारी शक्तिशाली अस्त्र उठाकर उसका प्रयोग करना चाहा। उस अस्त्र प्रयोग से भयंकर विनाश होने की आशंका थी। तभी वहाँ युद्ध-नियमों का उलंघन करने के कारण द्रोण के विरोध में कुछ वीरों ने कोलाहल मचा दिया। ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय धर्म में लगे एवं भयंकर अस्त्र का प्रयोग करने को उद्यत द्रोण को बड़ी भर्त्सना की। उन्हें लज्जित किया तब द्रोण शस्त्रास्त्रों को छोड़ रथ में बैठ गए। क्योंकि युद्ध में साधारणजनों को दिव्यास्त्रों से मारना कदापि उचित नहीं समझा जाता था। यथा- 'न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग् जनम्।''

शास्त्रों के सम्बन्ध में महाभारत में व 'भागवत' में बहुत कुछ आया है। विद्वान् यदि खोज करें तो बड़े-बड़े तथ्य हाथ लग सकते है। सब जानते हैं कि आग जलाने वाली गैस आक्सीजन और बुझाने वाली गैस नाइट्रोजन होती है। हाइड्रोजन+आक्सीजन के संयोग से जल बनता है।

उस समय के (पदार्थ विद्या) विज्ञान के विज्ञ इन तथ्यों से परिचित थे। तभी वे ऐसे अस्त्रों का निर्माण कर सके। आज भी कारखानों में आग बुझाने वाली गैस के सिलिण्डर लटके मिलेंगे। योगिराज श्री कृष्ण चन्द्र के 'चक्र-सुदर्शन' अस्त्र को भी वैज्ञानिक दृष्टि से परखें तो तथ्य प्राप्त हो सकता है। वृत्त (घेरे या चक्र) की विलक्षणता यह है कि वह तीव्र गति से घूमकर वापिस आ जाता है। यदि सर्कस में - आपने किसी व्यक्ति को 'गोल टोप' अथवा रस्सा घुमाते हुए देखा होगा तो अभिप्राय समझ में आ सकता है। कोई भी विद्या हो, वह अभ्यास से ही फलवती या सिद्ध होती है। आंखों के अभ्यास में भी यह गुर है।

बलराम जी को 'हलधर' कहा जाता है। यह उन्हें जानने का एक इंगित या प्रतीक है। वस्तुतः बलराम 'डायनामाइड' विद्या के पारखी थे। आज भी सेना में इस विद्या के जानकारों की टुकड़ी अलग होती है। जो युद्ध क्षेत्र में या शान्तिपूर्ण कार्यो के लिए धरती में विस्फोटक पदार्थ रखकर किसी स्थान को उड़ाने या समतल करने में सहयोग करती है। श्री मद्भागवत में आता है कि जब बलराम जी कौरवों से कुपित होकर अपने 'हल' की नोक से खनन कर विस्फोटक पदार्थ रख कर खींचने लगे (विस्फोट) करने लगे तो हस्तिनापुर नगरी ऐसे डोल उठी जैसे नाव जल में डोल उठती है। विस्फोट से धरती में कम्पन साधारण सी बात है। श्लोक पढ़िये, गुनिए व संगति परक अर्थ लगाइये-

अद्यय निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामीत्यमर्षितः।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्रयम्॥

स्क.१०।अ ६८। श्लो४०

लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्विदार्य गजाह्वयम्।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः।।

स्क. १०।अ. ६८।४१

जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत्।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवाः जातसम्भ्रमाः।।

स्क. १०।अ. ६८।४२

इस प्रकार हमारी प्राचीन (पदार्थविद्या) विज्ञान अनेक ग्रन्थों में बिखरा पड़ा है। ज्यों-ज्यों आधुनिक विज्ञान हमारे सामने कोई आविष्कार करता है तो हमारी दृष्टि इन खण्डों पर भी आनायास पड़ जाती है। वस्तुतः यदि हम इन बातों को प्राचीन गपोड़े न मानकर आधुनिक विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव क्षेत्र में समझने की कोशिश करें तथा संगतिपरक अर्थ लगायें तो कुछ प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार हमारे प्राचीनमत ग्रन्थ वेदों में भी इन दिव्यास्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है।

संस्कृत साहित्य में 'उत्तररामचरित' नाम का महाकवि भवभूति का नाटक है। उसमें 'लव' द्वारा 'जृम्भकास्त्र' का प्रयोग मिलता है। इस अस्त्र के प्रभाव से समस्त सेना स्थिर हो जम्भाई लेने लग जाती थी। महाभारत में और भागवत में इसे 'जृम्भणास्त्र' कहा है। विराट पर्व में जब उत्तर ने कौरव सेना के विविध रंग-बिरंगे वस्त्र प्राप्त करने की बात कही तब अर्जुन ने 'मोहनास्त्र' का प्रयोग कर सबको अचेत कर डाला। उत्तर ने रंग बिरंगे वस्त्र उतार लिए। परन्तु अचेत करके शत्रु को कत्ल करने का विधान युद्ध में नहीं था।

इस प्रकार दिव्यास्त्रों की चर्चा के पश्चात् महाभारत में रथों या वाहनों की दिव्यता व विलक्षणता का वर्णन भी मिलता है। पाण्डवों के शस्त्रों तथा रथों आदि की उत्कृष्टता की बात सुनकर दुर्योधन भी कहता है कि मेरे यहाँ ऐसे वैज्ञानिक हैं जो जल, वायु और पृथ्वी तीनों पर रथों का समान रूप से स्तम्भन कर सकते हैं। यथा :-

स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति मया रथपदातयः।
देवासुराणां भावानामहमेकः प्रवर्तिता।। उद्योगपर्व ६१/१४
अक्षौहिणीभिर्यान् देशान् यामि कार्येण केनचित्।
तत्राश्वा मे प्रवर्तत्र यत्राभिकामये।। ६१/१५।।

अर्जुन के विशाल एवं दिव्य रथ की चर्चा भी यहाँ करना अप्रासंगिक न होगा। आधुनिक युग में हम शक्ति या पावर की तुलना करते हुए कहते हैं कि इसमें इतने (हार्स पावर) अश्वशक्ति की शक्ति है। तो कुछ ऐसा ही यहाँ प्रतीत होता है। अर्जुन का रथ कोई

साधारण रथ नहीं था, वह अन्य रथों से विशिष्ट या वह जल, थल व नभ मार्ग में अप्रतिहत गति से आ जा सकता था। उसके ध्वज में जो 'एरियल' लगा था वह बहुत बड़ा था। उसमें ऐसी दिव्यता थी कि उसे सारे युद्ध-क्षेत्र का ज्ञान रहता था। उसके उस रथ में 100 अश्वों की शक्ति बराबर बनी रहती थी। विद्वान् वैज्ञानिक पढें और विचार करें। यथा -

'देवैर्हि सम्भृतो दिव्यो रथो गाण्डीवधन्वनः।

न स जेयो मनुष्येण मा स्म कृद्ध्वं मनो युधि।।

उद्यो. पर्व ५७अ.! श्लो ६२

वस्तुतः हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार ये दिव्य गुण युक्त देव महान् वैज्ञानिक ही थे। इसी सन्दर्भ में यहाँ तीन नाम आये है। विश्वकर्मा, त्वष्टा व प्रजापति। इन तीनें ने मिलकर अर्जुन के रथ को सजाया, संवारा। ये तीन क्रमशः शिल्पकार, इञ्जिनियर व विज्ञानवेत्ता समझे जा सकते हैं। विद्वान् विचारें। आगे अर्जुन के रथ व ध्वज आदि का विस्तृत वर्णन पढ़िए:-

ध्वजं हि तस्मिन् रूपाणि, चक्रस्तु देवमायया।
महाधनानि दिव्यानि, महान्ति च लघूनि च।।
सर्वा दिशो योजनमोत्रमन्तरं स तिर्यगूर्ध्वं च रुरोध वैध्वजः।
न सज्जतेऽसौ तरुभिः संवृतोऽपि, तथा हि माया विहिता भौमनेन।।
यथाग्निघूमो दिवमेति रुद्ध्वा, वर्णान् विभ्रत् तैजसांश्चित्ररूपान्।
तथा ध्वजो विहिनतो भौमनेन, न चेद् भारो भविता नोत रोधः।।
श्वेतास्तस्मिन् वातवेगाः सदश्वा, दिव्यायुक्तश्चित्ररथेन दत्ताः।
भुव्यन्तरिक्षे दिवि वा नरेन्द्र, येषां गतिर्हीयते नात्र सर्वा।
शतं यत् तत् पूर्यते नित्यकालं, हतं हतं दत्तवरं पुरस्तात्।।

उद्योग पर्व ५६/८,१०,१२,१३

इस प्रकार ऊपरोक्त विश्लेषण के आधार पर महाभारतीय दिव्यास्त्रों एवं रथों के एक काल्पनिक स्वरूप को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कुछ साकार रूप दिया जा सकता है। विद्वान् वैज्ञानिक ही इस विषय में खोज एवं शोध कर सकते हैं।

★★★★★★★★

वेद और 'कामायनी' की 'श्रद्धा'

डॉ० मृदुल जोशी
प्रवक्ता हिन्दी विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

जयशंकर प्रसाद कृत कामायनी हिन्दी साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों में से एक हैं। प्रलयोपरान्त सृष्टि की नवल सर्जना में संलग्न मनु, श्रद्धा व इड़ा प्रमुख भूमिकाओं में दृष्टिगत होते हैं। श्रद्धा की उपस्थिति दो रूपों में है- एक ओर सशक्त नायिका के रूप में तो दूसरी ओर मानव जाति की प्रबल प्रेरणादायिनी भावना के रूप में। वेदों में भी मानसिक भावना तथा मानसिक वृत्तियों के प्रतिनिधि रूप में नवीन देवताओं की उपस्थिति है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में श्रद्धा कामायनी का अनुपम वर्णन मिलता है।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।[१]

(श्रद्धा से याज्ञाग्नि का प्रज्वलन होता है। श्रद्धा के साथ यज्ञ छवि दी जाती है। ऐश्वर्य के ऊर्ध्व स्थान पर निवास करने के लिए हम लोग वचन द्वारा श्रद्धा की स्तुति करते हैं।) आचार्य बलदेव उपाध्याय यहाँ अग्नि' को 'ज्ञानाग्नि' का प्रतीक मानते हैं। श्रद्धा की स्तुति देवता रूप में इस प्रकार की गयी हैं-

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥[२]

(हम प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में श्रद्धा का आह्वान करते हैं। हे श्रद्धे! तू हमें लोक में श्रद्धायुक्त कर।

श्रद्धा का शाब्दिक अर्थ है 'सत्यं धीयते यस्यात' अर्थात् जिसमें सत्य प्रतिष्ठित है। शुक्ल यजुर्वेद में भी इसका यही अर्थ प्रतिध्वनित होता है।[3] श्रद्धा शब्द की वयुत्पत्ति श्रत् या 'श्रद्' शब्द से 'अङ्' प्रत्यय की युति होने पर है, जिसका अर्थ है 'आस्तिक बुद्धि' या 'विश्वास'। सायण भाष्य के अनुसार भी श्रद्धा शब्द का अर्थ यही है।[4] निरुक्त में 'श्रद्धा' श्रद्दधानात्[1][5] के आधार पर भी इसी आशय की पुष्टि होती है। अथर्ववेद में श्रद्धा को तप, व्रत, ऋत, पराक्रम व ब्रह्म से जोड़ा गया है।[6] वस्तुतः श्रद्धा का तात्पर्य है- किसी वचन विशेष में, या व्यक्ति विशेष के प्रति हृदय से आदर की भावना। श्रद्धा के बिना संसार का कोई भी कार्य उत्कृष्ट रूप से निष्पादित नहीं हो सकता।

वेद में एक अन्य सूक्त भी इस प्रकार हैं:-

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धा हृदय्याऽयाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।[७]

(विद्वान् तथा वायु के समान बलवान पुरुषों से रक्षित यजमान लोग श्रद्धा की उपासना करते हैं। श्रद्धा हृदय में संकल्प की अग्नि है। श्रद्धा- से धन वैभव की प्राप्ति होती है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 'वसु' शब्द को भौतिक द्रव्य का संकेत न मानकर यहाँ आध्यात्मिक कल्याण का प्रतीक माना है। उन्हीं के शब्दों में - आध्यात्मिक वसु है आज्ञान का नाश कर अमरत्व की प्राप्ति। अमरता की उपलब्धि का प्रधान साधन यही 'श्रद्धा' ही तो है''[8]। ऐतरेय ब्राह्मण में श्री श्रद्धा देवत्व प्रदत्त करने वाली, मनोवांछाओं को परिपूर्ण करने वाली, समग्र विश्व में प्रतिष्ठा देने वाली, समस्त विश्व का भरण-पोषण करने वाली व विश्व पर आधिपत्य करने वाली, सम्पूर्ण लोकों की अधिष्ठात्री, अमृत लोक प्रदायिनी तथा रिपुओं का हनन करने वाली हैं-

श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते। श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी।
सा नो जुषाणोप यज्ञमागात्। कामवत्सा अमृतं दुहाना।
श्रद्धा देवी प्रथमज्ञा ऋृतस्य। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा।
तां श्रद्धां हविषा यजामहे। सा नो लोकं अमृतं दधातु।
ईशाना देवी भुवनस्याधिपत्नी।''[९]

छान्दोग्यपनिषद् में श्रद्धा की दो प्रमुख विशेषताएं वर्णित हैं- मनुष्य के हृदय में निष्ठा जाग्रत कराना व मनन कराना।[10]

जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य कामायनी में 'श्रद्धा' एक केन्द्रीय पात्र के रूप में है। इसका स्वरूप महती प्रेणादायिनी शक्ति के रुप में मानव मन को आध्यात्मिक विकास के उच्चतम शिखर अमरतव की ओर उन्मुख करता दृष्टिगत होता है। डॉ0 कर्ण सिंह वर्मा ने श्रद्धा के चरित्र निर्माण में वैदिक श्रद्धा के भावात्मक रुप की उपस्थिति स्वीकार की है। ''कामायनी की 'श्रद्धा' का मूल आधार वैदिक 'श्रद्धा' ही है। प्रसाद जी ने वैदिक 'श्रद्धा' सूक्त में उपलब्ध 'श्रद्धा' के भावात्मक रूप का उपयोग कामायनी की 'श्रद्धा' के चरित्र-निर्माण के लिए उसके समबन्ध में वैदिक साहित्य में उपलब्ध वंश-परिचय, मनु-इड़ा सम्बन्ध आदि ऐतिहासिक संकेतो का उपयोग कथा-निर्वाह के लिए कुशलतापूर्वक किया है।''[11]

ऋग्वेद में 'श्रद्धा' 'कामगोत्रजा'[12] सूर्य दुहिता[13] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋत की प्रथम पुत्री[14] और 'प्रजापति की तनया'[15] के रूप में आयी हैं। ऋग्वेद में 'श्रद्धा' की उपस्थिति एक ऋषिका के रूप में भी हैं क्योंकि ऋग्वेद दशम मण्डल के[15]1 सूक्त की रचयित्री भी वही है। कामायनी में भी वह सूर्य की दुहिता उषा के सदृश वर्णित की गयी है।[16] ऋग्वेद में श्रद्धा हेतु प्रशंसासूचक वाणी में कहा गया कि जिस प्रकार सूर्य की पुत्री उषा मनुष्यों के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करती है उसी प्रकार जिन मनुष्यों के हृदय में श्रद्धा देवी का निवास है वे लोग उस देवी के समान सब में आह्लाद जनक सौम्य स्वभाव उत्पन्न करते हैं।[17] कामायनी में भी श्रद्धा ''मैं उषा-सी ज्योति रेखा'' कहती हुई है। 'अन्धकार को दूर भगाती वह आलोक किरन-सी'[18] के आधार पर भी वह निराशा दूर करती हुई दृष्टिगत होती है।

श्रद्धा काम-गोत्रजा अथवा काम संतति है। इसलिए तो महाकाव्य का नाम 'कामायनी' पड़ा है। सृष्टि रचना का मूल भी यह प्रबल काम ही है। नासदीय सूक्त में व्युत्पत्ति की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार वर्णित हैं।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स तो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।[१९]

सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व 'काम' विद्यमान था। यहाँ 'काम' का अर्थ 'सिसृक्षा' अर्थात् सृजन की इच्छा से है। परमात्मा ने 'ईक्षण' (अलौकिक इच्छा) से 'एकोऽहं बहुस्याम्' का संकल्प लिया। यह 'काम' अथवा कामना सृष्टिकर्ता ब्रह्म के मन में बीज रूप में पूर्व से ही विद्यमान थी। यह कामना ही सृष्टि के विद्यमान रहने का कारण भी हैं।

कामायनीकार ने भी काम को सृष्टि का मूल कारण स्वीकारते हुए महाचिति की मंगलमयी इच्छा का परिणाम माना है। कामायनी कहती हैं-

काम-मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम-
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।[२०]

डॉ0 कर्ण सिंह वर्मा के शब्दों में- ''वास्तव में, आनन्दवादी कामायनीकार के अनुसार काम के संभोगात्मक तथा प्रगतिशील दोनों ही स्वरूप मांगलिक हैं। अपने प्रथम रूप में ही सीमित रहने से वह वात्याचक्र के समान जीवन को भटकाता रहता है। भोगवादी काम का यही परिणाम है। देव सृष्टि के विनाश का यही कारण था। दूसरी ओर इसके रूप का पूर्णतया परित्याग जीवन शक्ति की इच्छा का विरोध है, विकास का बाधक है। उससे जीवन का सम्पूर्ण आनन्द समाप्त हो जाता है। इसलिए कामायनी में राग-विराग समर्पित

काम को स्वीकार किया गया है।[21]

कामायनी भयभीत मनु को ईश्वरीइच्छा से उत्पन्न इस दिव्य व सुन्दर सृष्टि के प्रति अनुरक्त रहने के लिए काम के लिए प्रेरित करती है।

यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेम कला,
उसका संदेश सुनाने को संसृति में आई वह अमला।।[२२]

जय शंकर प्रसाद ने अन्तिम सर्ग 'आनन्द' में भी उसे इसी रूप में वर्णित किया है-

वह कामायनी जगत की मंगल-कामना-अकेली,
थी-ज्योतिष्मती प्रफुल्लित मानस तट की वन बेली।
वह विश्व-चेतना पुलकित थी पूर्ण-काम की प्रतिमा,
जैसे गंभीर महाह्रद हो भरा विमल जल महिमा।
जिस मुरली के निस्वन से यह शून्य रागमय होता,
वह कामायनी विहंसती आग जब था मुखरित होता।[२३]

मनुष्य का चरम लक्ष्य अपने स्वरूप को पाना है। इसे पाने के लिए उसे जगत् के आकर्षण से भागना नहीं है। समस्त जागतिक कार्य निष्पादित करते हुए उसे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना है। यह कला प्रसाद जी की कामायनी को भली-भांति आती हैं-

''डरो मत, अरे अमृत संतान! अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र, खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

* * * * *

चेतना का सुन्दर इतिहास-अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य-अक्षरों से अंकित हो नित्य।
विधाता की कल्याणी सृष्टि, सफल हो इस भूतल पर पूर्ण
पटें सागर, बिखरे ग्रह-पुंज ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।[२४]

कामायनी महाकाव्य वस्तुतः अपूर्ण मानव को परिपूर्णता की ओर ले जाने वाली विकास यात्रा की दिशा व अन्तिम पड़ाव दोनों ही है। नायिका के रूप में श्रद्धा नायक मनु की प्रतिपग सहायकि‍ा बनी, उसकी दुर्बलताओं को क्षमा करती हुई, निराशा के मध्य आशा के दीप प्रज्वलित करती हुई, असफलताओं को नकार अनवरत प्रोत्साहन द्वारा जीवन का

ध्येय बताने वाली मार्गदर्शिका भी है। एक मनस्विनी के रूप में वह अपौरुषेय वेद के अमर सिद्धान्तों का यत्र-तत्र पालन करती करवाती दृष्टिगत होती है। वह अनेक स्थलों पर वेद के अमर संदेश की उद्घोषणा करती दिखाई पड़ती है।

वैदिक ऋषि समाज में एकता व समन्वय की अपेक्षा रखते थे। एक ऐसे आदर्श समाज की परिकल्पना उनके मन में थी जहाँ सभी के संकल्प, सोच भावनाएँ, खान-पान, मंत्र, यज्ञ-भावना एक सी हो।[25,26] पारस्परिक सौहार्द्र ओर सहयोग की उदान्त भावना से सम्पृक्त समाज ही उन्हें काम्य था-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।[२७]

तत्त्वज्ञ ऋषि तो मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र में समत्व दृष्टि रखते थे। उनका तो उद्घोष था

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।[२८]

अथर्ववेद का यह मंत्र भी इसी भाव का परिपोषक है-

'यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधिः'[२९]

जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी' में श्रद्धा भी समस्त प्राणियों के प्रति समत्व भाव रखती हुई उनके प्रति करुणामयी हो उठी है।

ये प्राणी जो बचे हुए हैं इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नहीं क्या वे सब ही हैं फीके?
मनु! क्या यही तुम्हारी होगी उज्जवल नव मानवता
जिसमें सब कुछ ले लेना हो, हंत! बची क्या शवता![३०]

समाज में व्यक्ति यदि अधिकार की मांग रखता है तो उसके कर्त्तव्य भी हैं। व्यक्ति का समाज के प्रति समर्पण ही उसे स्वीकार्य है। स्वार्थ में लीन आत्मकेन्द्रित व्यक्ति उसकी दृष्टि में महनीय नहीं है। समग्र समाज की भलाई व प्रसन्नता हेतु कार्यरत ही उसके लिए श्रद्धेय हैं-

''अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु- हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ![३१]

सबका सुख, सबका हर्ष ही उसे काम्य है। कामायनी में श्रद्धा द्वारा जहाँ-जहाँ विश्व बन्धुत्व की भावना को बल मिला है वहाँ-वहाँ भूत दया और अहिंसा की भावना ही बलवती है। उपनिषद् में भी यही भाव हैं- **''यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते। यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।''**[३२]

श्रद्धा की उदात्त चेतना समूची सृष्टि से तादात्मयकरण की स्थिति में है। यहाँ मनुष्येतर पशु-पक्षी भी उसी की सत्ता के पर्याय हैं। सचमुच यहाँ श्रद्धा की उपस्थिति एक ऋषिका सी ही है। प्राणिमात्र पर कष्ट उसके हृदय में शर-सा प्रहार करता है। आकुलि-किलात की सहायता से मनु की पशु-बलि श्रद्धा को मर्मान्तक पीड़ा दे जाती हैं-

''यह विराग सम्बन्ध हृदय का कैसी यह मानवता!

प्राणी को प्राणी के प्रति बस बची रही निर्ममता!

जीवन का संतोष अन्य का रोदन बन हँसता क्यों?

एक-एक विश्राम प्रगति को परिकर-सा कसता क्यो?

दुर्व्यवहार एक का कैसे अन्य भूल जावेगा,

कौन उपाय! गरल को कैसे अमृत बना पावेगा!'[३३]

इन पंक्तियों में श्रद्धा यजुर्वेद के मंत्र 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' व ऋग्वेद, अथर्ववेद के मंत्रों 'मा जीवेभ्यः प्रमद' (ऋ0 8/1/7) 'यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधिः' के भावों को आत्मसात् करती प्रतीत होती है।

'यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' इसी सिद्वान्त का अनुपालन करती हुई 'श्रद्धा' प्रथमतः मनु को कर्म की ओर प्रेरित करके ऐहिक जीवन की प्रेरणा प्रदान करती है। लेकिन वह मानव के वास्तविक उद्देश्य को भी भूली नहीं है। इसलिए तो मनु को कैलास पर ले जाकर उसके जीवन में सात्त्विकता और समरसता का समावेश करती है। कामायनी में 'श्रद्धा' के माध्यम से एक सन्तुलित जीवन जीने की प्रेरणा है जहाँ न तो घोर विलासितापूर्ण सतत वासनामय ऐहिक जीवन की तलाश है और न ही ऐकान्तिक वैराग्य धारण कर आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करना ही अभीष्ट है। एक समन्वय का मार्ग विदुषी 'श्रद्धा' से प्राप्त होता है।

जीवन के जितने भी नैतिक आदर्श है उनका आधार सत्य है। अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति जागरूक बने रहना ही वास्तविक धर्म है। सत्य के मार्ग में उन्मुख व्यक्ति

ही वास्तव में सदाचारी है। हमारे वेद सदा सत्य और ऋत के मार्ग में चलने की आज्ञा देते है।[34,35,36,37,38,39,40,41] कामायनी में जब मनु सत्य के मार्ग में न चलने का दुष्परिणाम भोगकर मुमूर्षु दशा में पहुँचते हैं तो वह श्रद्धा ही है जो उन्हें सत्य के मार्ग में पनुः प्रवृत्त करा आनन्द उपलब्ध कराती हैं। ऋत महा चित्त की शक्ति ही विश्व को एक नियम एक व्यवस्था में स्थापित रखती हैं और जो अपने कर्मो से इस नियम में व्याघात पहुँचाता है उसे वह नष्ट कर देती है। मनु ने स्वेच्छाचारिता में इस नियम को नहीं माना था। यही उसके समूचे वंश के सर्वनाश का कारण बना। (श्रद्धा ऋृत की इस महान् अवस्था से परिचित है और सर्वत्र उसी एक सत्य की उपस्थिति पाती हैं-

सबकी सेवा न पराई, वह अपनी सुख संसृति है।
अपना ही अणु-अणु कण-कण द्वयता तो विस्मृति है।

ॐ. ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम्' के आधार पर उपनिषद् हमें त्याग वृत्ति के साथ भोग का सन्देश देते हैं। दानशीलता तथा अपरिग्रह की भावना को वैदिक साहित्य में पर्याप्त स्थान मिला हैं।[42,43] जयशंकर प्रसाद की श्रद्धा भी कामायनी के कर्म सर्ग में इसी त्याग की भावना को बल देती दिखाई देती हैं।

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा।

यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।[44]

तथा सुख अपने संतोष के लिये संग्रह - मूल नहीं है।[45] या सुख को सीमित कर अपने में केवल दुःख छोड़ोगे'[46] कहती हुई श्रद्धा वैदिक सिद्धान्तों को ही बल देती प्रतीत होती है। इसीलिए तो निर्वेद सर्ग में मनु ने श्रद्धा के इस पथ प्रदर्शन मुक्त कंठ से स्वीकारा है। आभार व्यक्त करते हुए वे गदगद कंठ से कह उठते हैं-

तुमने मिलकर मुझे बताया सबसे करते मेल चलो।

वैदिक वाङ्मय हमें आशावाद का उल्लासमय सन्देश देता है। मनुष्य जीवन में नवीन स्फूर्ति, नवल उत्साह व प्राणवान प्रदेणादायक भावों का संचार करने वाले सूक्तों से वेद समृद्ध है।[47,48,49] इस सारे विश्व के सामने उसकी अनन्त उन्नति का मार्ग निबोध खुला है। मनुष्य ''अहमस्मि सहमान उत्तरोनाम् भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः।''[50] मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः[51], यशा विश्वस्य भूतस्त्याहमीरम सशस्तमः[52], मा भेः, मा संविक्था:''[53] इत्यादि वाक्यों से आत्मविश्वास से भर उठता है। कामायनी की श्रद्धा भी यथा समय मनु के मन में आशा का संचार करती प्रतीत होती है।

और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान

शक्तिशाली हो, विजयी बनो विश्व में गूँज रहा जय-गान।[५४]

उसके एक-एक वाक्य में आशा के दीप जलते हैं-

चेतना का सुन्दर इतिहास अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य-अक्षरों से अंकित हों नित्य''[५५]

श्रद्धा मनु को निर्भयता का पाठ पढ़ाती है। उसका प्रश्न भीरुता के कारण व्याख्या चाहता है-

तपस्वी! क्यों इतने हो क्लांत? वेदना का यह कैसा वेग?
आह! तुम कितने अधिक हताश- बताओ यह कैसा उद्वेग।[५६]

श्रद्धा मनु को भयभीत देखकर आश्चर्यचकित है-

'आह! तुम कितने अधिक हताश!' वाक्य में उसके मन में करुणा का आवेग है क्योंकि वह जानती है कि मानव तो अमरता की कृति है- **अरे तुम इतने अधीर, हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मरकर जिसको वीर।** वेद के सदृश ही श्रद्धा के ये वाक्य महान् आशावादी संदेश देते प्रतीत होते है।

वैदिक पुरुष कर्म करता हुआ सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहता है।[57] ऊपर उठना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्ष्य है।[58] निराश मनु मृत्यु से घबराकर उदासीन हो गये हैं। श्रद्धा उन्हें पुनः प्रवृत्ति मार्ग की ओर उन्मुख करती हुई अनवरत कर्म का सन्देश देती है-

''बनो संसृति के मूल रहस्य, तुम्ही से फैलेगी वह बेल,
विश्व भर सौरभ से भर जाय सुमन के खोलो सुंदर खेल।[५९]

वह समझाती है-

''एक तुम, यह विस्तृत भू-खण्ड प्रकृति वैभव से भरा अमंद,
कर्म का भोग, भोग का कर्म, यही जड़ का चेतन -आनंद।[६०]

अन्ततः हम कह सकते हैं कि कामायनी की श्रद्धा उदात्तर मानवीय गुणों दया, माया, ममता, विश्वास और सेवा भावना से परिपूरित है।[61] श्रद्धा सामान्य नारी नहीं वह तो विश्व मंगला मातृ-मूर्ति के रूप में सामने आयी है-

तुम देवि! आह कितनी उदार, वह मातृ-मूर्ति है निर्विकार,
है सर्वमंगले! तुम महती, सबका दुख अपने पर सहती।[६२]

संदर्भ संकेत :-

1. ऋ. मं. 10/ सू. 151/5
2. ऋ. मं. 10/ सू. 151/1
3. शुक्ल यजुर्वेद 19/77
4. ऋग्वेद 10/151/1 का का सायण भाष्य
5. निरुक्त 9/30
6. अथर्ववेद 12/3/7, 12/5/51
7. ऋ. मं. 10/ सू. 151/4
8. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ0 125
9. ऐतरेय ब्राह्मण 3/12/1-2
10. छान्दोग्योपनिषद् 7/19 व 20
11. कामायनी वैदिक साहित्य का प्रभाव, पृ0 119
12. ऋग्वेद 10/151 की अनुक्रमणिका, सायण
13. ऋग्वेद 9/1/6,
    "पर्जन्य वृद्धं महिषं तं सूर्यस्य दुहितामरत्" ऋ0 9/113/3,
    पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता।
    वारेण शश्वता तना। ऋग्वेद 9/1/6 (जो पुरुष श्रद्धा द्वारा ईश्वर को प्राप्त होता है वह मानों प्रकाश की पुत्री द्वारा अपने सौम्य स्वभाव को बनाता है।)
14. श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य, तै0 ब्रा0 3/12/1-2
15. तै0 ब्रा0 2/3/10/1
16. 'मैं उषा-सी ज्योति रेखा' कामायनी, निर्वेद सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपरबैक्स, ए- 95, से-5, नोएडा संस्करण 1996, पृ0 91
17. नवमण्डल सूक्त 1/6
18. कामायनी, कर्म सर्ग जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपरबैक्स, ए-95, से-5, नोएडा, संस्करण 1996, पृ0 40
19. ऋ0 मं. 10/सू. 129/4
20. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, जयशंकर प्रसाद पेपरबैक्स, ए-95, से-5, नोएडा, संस्करण 1996, पृ0 17
21. कामायनी, पर वैदिक साहित्य का प्रभाव, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, 31 पृ0 259
22. कामायनी, काम सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपरबैक्स, ए-95, से-5, नोएडा, संस्करण 1996, पृ0 24

23. कामायनी, आनन्द सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपरबैक्स, ए-95, से-5, नोएडा, संस्करण 1996, पृ0 122
24. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपरबैक्स, ए-95, से-5, नोएडा संस्करण 1996, पृ0 18
25. समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति। (ऋग्वेद /10मं/191/4)
26. समानो मनाः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तभेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि। (ऋग्वेद/10मं./191 सूक्त/3)
27. ऋग्वेद/10मं/ 191सूक्त/2
28. यजुर्वेद 31/18
29. अथर्ववेद 17/1/7
30. कामायनी, कर्म सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा -201301, पृ0 46,
31. कामायनी, क़र्म सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-201301, पृ0 47
32. ईशोपनिषद् 6/7
33. कामायनी, कर्म सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-201301, पृ0 44)
34. ऋतस्य पथा प्रेत (ऋ0 10/7/45)
35. ऋतस्य पथां न तरन्ति दुष्कृतः ऋ0 9/73/6
36. ऋृतेनादित्यास्तिष्ठन्ति ऋृ0 10/85/1
37. सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः (10/37/2)
38. सत्यमुग्रस्य वृहतः सं स्रवन्ति संस्रवाः ऋ0 9/1/113/5 (वेदवेत्ता विद्वान् से शिक्षा पाया हुआ जो राजा अपने सत्यादि धर्मो का परित्याग नहीं करता वह चिरस्थायी होता है।)
39. इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि (यजुर्वेद 1/5)
40. ऋृतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्तसत्यकर्मन्।
श्रद्धा वदन्तसोमराजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्द्र परिस्रव। ऋ0 9/113/4 (सत्यभाषण और सत्य के आश्रित कर्म करने वाले राजा के राज्य को परमात्मा अटल बनाता है।) ऋृ 1/1/3/5
41. अपानक्षासो बधिराअहासत ऋृतस्य पन्थां
न तरन्ति दुष्कृतः (ऋृ0 9/सू0 73/6) (अज्ञानी लोग जो हितोपदेश को भी नहीं

सुन सकते वे सच्चाई के मार्ग को छोड़ देते हैं, वे दुष्टाचारी इस भवसागर की लहर को नहीं तर सकते।)

42. अदित्सन्तं दापयतु प्रजानान् (अथर्ववेद 3/20/8 अर्थात् हे प्रभो! दान न करने वाले को इस दान की प्रेरणा दीजिए।)
43. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। (अथर्ववेद 3/24/5 अर्थात् सौ हाथों से अर्जन कर उसे हजार हाथों से समाज को प्रदान करो।)
44. कामायनी, कर्म सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-201301, पृ0 47
45. कामायनी, कर्म सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-201301, पृ0 47
46. कामायनी, कर्म सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-201301, पृ0 47
47. कृधी न ऊर्ध्वञ्चरथाय जीवसे (ऋग्वेद 1/36/14 जीवन यात्रा में हमें समुन्नत कीजिए।)
48. ''अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्'' (यजुर्वेद 36/24 अर्थात् हम सौ वर्ष तक और उससे भी अधिक समय तक दैन्य भाव से दूर रहें।)
49. विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् (ऋग्वेद 6/52/5) अर्थात् हम सदा प्रसन्नचित रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।)
50. (अथर्ववेद 12/1/54में स्वभावतः विजयशील हूँ, पृथ्वी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। में विरोधी शक्तियों को परास्त कर समस्त विघ्न-बाधाओं को दबाकर प्रत्येक दिशा में सफलता पाने वाला हूँ।)
51. ऋग्वेद 10/128/1 अर्थात् मेरे लिए दिशाएँ झुक जाएँ।
52. अथर्ववेद 6/58/3 अर्थात् जगत् के समस्त उत्पन्न पदार्थो में मैं सबसे अधिक यशवाला हूँ।
53. यजुर्वेद 1/23 अर्थात् तू न भीरू बन और न उद्विग्नता को प्राप्त हो।
54. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-20130 प्र0 18
55. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-20130 प्र0 18
56. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-20130 प्र0 16
57. ''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिवीविषेच्छतं समाः'' (यजुर्वेद 40/2)

58. ''आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोयनम्'' अथर्ववेद 5/30/7
59. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-20130 पृ0 18)
60. कामायनी, श्रद्धासर्ग जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टा-5, नोएडा-20130 पृ0 18)
61. 'समर्पण लो सेवा का सार सजल संसृति की यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग इसी पद तल में विगत विकार।
दया, माया, ममता लो आज मधुरिमा लो, अगाध विश्वास
हमारा हृदय रत्न-निधि स्वच्छ तुम्हारे लिए खुला है पास, कामायनी, श्रद्धा सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा- 20130 पृ0 18)
62. कामायनी, श्रद्धा सर्ग, जयशंकर प्रसाद, मयूर पेपर, बैक्स, ए 95, सेक्टर-5, नोएडा-20130 पृ0 107)

"वैदिक वाङ्मय में सूर्य-चन्द्रमा की महत्ता"

डॉ. भगवानदास शास्त्री
प्राध्यापक ज्योतिर्विज्ञान विभाग
गु0कां0वि0वि0, हरिद्वार

वेद भारतवर्ष की अमूल्य निधि है, जिसे सम्पूर्ण विश्व प्राचीन ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करता है। वेद के षट् अंग है। जिसे व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, कल्प और छन्द शास्त्र कहा जाता है। वेद को पुरुष के रूप में निरूपित किया गया है जिसे वेद पुरुष कहते हैं। इस वेद पुरुष का व्याकरण मुख ज्योतिष, नेत्र-निरुक्त, कान- शिक्षा, नाक-कल्प, हाथ और छन्द शास्त्र चरण हैं।

शब्द शास्त्रं मुखंयं ज्योतिषां चक्षुषी श्रोत्रमुक्तं च कल्प करौ।
यातु शिक्षस्य वेदस्य सा नासिका पापपद्म द्वयं छन्द आधै बुधै॥
(सि.शि. गणिताध्याय-२)

वेद पुरुष का नेत्र होने कारण ज्योतिष शास्त्र सब अंगों में उत्तम गिना जाता है इसी ज्योतिष शास्त्र में सूर्य चन्द्रादि सभी ग्रह नक्षत्र तथा उपग्रह धूमकेतु इत्यादि का वर्णन आता है। परन्तु सूर्य और चन्द्रमा का वर्णन विशेष आता हैं। सूर्य को तो सभी ग्रहों का राजा और संसार का आत्मा चन्द्रमा को मन्त्री और मन कहते हैं। सूर्य और चन्द्रा को ही पृथ्वी पर के प्रत्यक्ष देवता मानकर लोग उनकी पूजा-अर्चना भी करते हैं। इसका (सूर्य, चन्द्र) का वार्णन वेदों में, उपनिषदों में अनेक जगह पर उनकी महत्ता और गुणों के कारण आया है।

सूर्य-

पृथ्वी से भी अत्यधिक उपकारक भगवान् सूर्य हैं। अतः हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने श्रद्धा-विभोर होकर सूर्यदेव की स्तुति-प्रार्थना और उपासना सैकड़ों सुन्दर मन्त्रों की उद्भावना की है। उनके प्रशसंनीय प्रयास का दिग्दर्शन कराया जा रहा है-

सूर्य स्तुतिः-

वैदिक ऋषियों का ध्यान भगवान् सूर्य के निम्नलिखित गुणों की ओर विशेषरूपसे गया है- क) अन्धकार का नाश, ख) राक्षसों का नाश, ग) दुःखों और रोगों का नाश, घ) नेत्र-ज्योति की वृद्धि, ङ) चराचर की आत्मा, च) आयुकी वृद्धि, छ) लोकों का धारण।

नीचे भुवन-भास्कर के इन्हीं गुणों के सम्बन्ध में वेद-मन्त्रों द्वारा प्रकाश डाला गया है- अन्धकार का नाश- अभितपा सौर्य ऋषिकी प्रार्थना है-

येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदयर्षि भानुना।
तेनास्मद्विश्वामनिरामनाहुतिमपामीवामप दुष्वप्न्यं सुव॥ (ऋक. १०/३७/४)

हे सूर्य! आप जिस ज्योति से अ न्धकार का नाश करते हैं तथा प्रकाश से समस्त संसार में स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं, उसी से हमारा समग्र अन्नोंका अभाव, यज्ञका अभाव, रोग तथा कुस्वप्नों के कुप्रभाव दूर कीजिये।

राक्षसों का नाश-

महर्षि अगस्त्य ऐसे ही विचारों को निम्नांकित मन्त्र में व्यकत करते हैं-

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान् त्सर्वाञ्जम्भयन् त्वसर्वाश्च यातुधान्यः॥ (ऋ. १/१९१/८)

रोगों का नाशः-

प्रस्तुत मन्त्र से विदित होता हैं। कि सूर्य का प्रकाश पीलिया रोग तथा हृदय के रोगों में विशेष लाभप्रद माना जाता है। प्रस्कण्व ऋषिकी सूर्यदेवता से प्रार्थना है।

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुतरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय ॥ (ऋ. १/५०/११)

'हे हितकारी तेजवाले सूर्य! आप आज उदित होते तथा ऊँचे आकाश में जाते समय मेरे हृदय के रोग और पाण्डुरोग (पीलिया) को नष्ट कीजिये। इस मन्त्र के 'उद्यन्' तथा 'आरोहन्' शब्दों से सूचित होता है कि दोपहर से पूर्व के सूर्य का प्रकाश उक्त रोगों का विशेषतः नाश करता है।

नेत्र-ज्योति की वृद्धि-

वेदों में विभिन्न देवताओं को पृथक्-पृथक् पदार्थो का अधिपति एवं अधिष्ठाता कहा गया है। उदाहरणार्थ, अर्थवेद (5/24/1)- में अथर्वा ऋषि हमें बताते हैं कि जैसे अग्नि वनस्पतियों के, सोम लताओं के वायु अन्तरिक्ष के तथा वरुण जलो के अधिपति हैं, वैसे ही 'सूर्यदेवता नेत्रों के अधिपति हैं। ये मेरी रक्षा करें'।

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु॥

यहाँ नेत्र प्राणियों के नेत्रों तक सीमित नहीं है, क्योंकि वेद तो भगवान् सूर्य को मित्र, वरुण तथा अग्निदेव के भी नेत्र बताते हैं-

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । (ऋ. १/११५/१)

ये सूर्य देवताओं के अद्भुत मुखण्डमल ही हैं, जो कि उदित हैं। ये मित्र वरुण और अग्निदेवों के चक्षु हैं।' सूर्य तथा नेत्रों के घनिष्ठ सम्बन्ध को ब्रह्मा ऋषि ने इन अमर शब्दों में व्यक्त किया है-

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मात्मा पृथिवी शरीरम्।

(अथर्व० ५/१/७)

'सूर्य ही मेरे नेत्र हैं, वायु ही प्राण हैं, अन्तरिक्ष ही आत्मा है तथा पृथ्वी ही शरीर है।' इसी प्रकार दिवंगत व्यक्ति के चक्षु के सूर्य में लीन होने की कामना की गयी है। सूर्यदेवता दूसरों को ही दृष्टि-दान नही करते, स्वयं दूर रहते हुए भी प्रत्येक पदार्थ पर पूरी दृष्टि डालते हैं। ऋषिश्चा ऋषि के विचार इस विषय में इस प्रकार हैं।

वेद यस्त्रीणि विदथान्येषां देवानां जन्म सनुतरा च विप्रः।
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्नभि चष्टे सूरो अर्य एवान।

(ऋ. ६/५१/२)

'जो विद्वान् सूर्य देवता तथा इन अन्य देवताओं के स्थानों (पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौ) और इनकी संतानो के ज्ञाता हैं, वे मनुष्यों के सरल और कुटिल कर्मो को सम्यक् देखते रहते हैं।'

चराचर की आत्मा-

वैदिक ऋषियों की प्रगाढ़ अनुभूति थी कि सूर्य का इस विशाल विश्व में वही स्थान है, जो शरीर में आत्मा का। इसी कारण वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र सहज सुलभ हैं, जिनमें सूर्य को भी सभी जड़-चेतन पदार्थों की आत्मा कहा गया है। यथा-

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ (ऋक्. १/११५/१)

'ये सूर्यदेवता जंगम तथा स्थावर सभी पदार्थो की आत्मा है।'

आयु वर्धक-

यों तो रोगों के बचाव तथा उनके उपचार से भी आयु वृद्धि होती है, फिर भी वेदों में ऐसे मन्त्र विद्यमान हैं, जिनमें सूर्य एवं दीर्घायु का प्रत्यक्ष सम्बन्ध दिखया गया है। यथा-

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥ (शुक्लयजु. ३६/२४)

'देवताओं द्वारा स्थापित वे तेजस्वी सूर्य पूर्व दिशा में उदित हो पा रहे हैं। उनके अनुग्रह

से हम सौ वर्षों तक (तथा उससे भी अधिक) देखें और जीवित रहें।

लोक-धारण-

वैदिक ऋषि इस बात का सम्यक् अनुभव करते थे कि लोक-लोकान्तर भी सूर्यदेवता द्वारा धारण किये जाते हैं। यहाँ एक ही मन्त्र पर्याप्त होगा-

विभ्राजज्ज्योतिषा स्वरगच्छो रोचनं दिवः।
येनेमा विश्वा भुवनान्याभृता विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता॥

(ऋक्.१०/१७०/४०)

'हे सूर्य! आप ज्योति से चमकते हुए द्युलोक के सुन्दर सुखप्रद स्थान पर जा पहुँचे हैं। आप सर्वकर्म- साधक तथा सब देवताओं के हितकारी हैं। आपने ही सब लोक-लोकान्तरों को धारण किया है।'

सूर्य-देव से प्रार्थनाएँ

उपर्युक्त अनेक मन्त्रों में सूर्यदेवता का गुणगान ही नहीं है, प्रसंगवश प्रार्थनाएँ भी आ गयी हैं। दो-एक अभ्यर्थनापूर्ण मन्त्र द्रष्ट्व्य हैं-

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमादित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायु र्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम॥

(अथर्व० १३/२/३७)

'मैं द्यौकी पीठ पर उड़ते हुए अदिति के पुत्र, सुन्दर पक्षी (सूर्य) के पास कुछ मांगने के लिए डरता हुआ जाता हूँ। हे सूर्यदेव! आप हमारी आयु खूब लंबी करें। हम कोई कष्ट न पावें। हम पर आपकी कृपा बनी रहे।'

अपने उपास्य प्रसन्न हो जायँ तो उनसे अन्य कार्य भी करा लिये जाते हैं। निम्नलिखित मन्त्र में महर्षि वसिष्ठ भगवान् सूर्य से कुछ इसी प्रकार का कार्य कराने की भावना व्यक्त करते हैं।

स सूर्य प्रति पुरो न उद् गा एभिः स्तोमेभिरेतशोभिरेवैः।
प्र नो मित्राय वरुणाय वोचो ऽनागसो अर्यम्णे अग्नये च।

(ऋक्. ७/६२/२)

'हे सूर्य! आप इन स्तोत्रों के द्वारा तीव्रगामी घोड़ों के साथ हमारे सामने उदित हो गये हैं। आप हमारी निष्पापता की बात, मित्र, वरुण, अर्यमा तथा अग्नदेव से भी कह दीजिये।'

उपासना

स्तुति, प्रार्थनाके पश्चात् उपासक की एक ऐसी अवस्था आ जाती है, जब वह अपने-आपको उपास्य के पास ही नहीं, बल्कि अपने को उपास्य से अभिन्न अनुभव करने लगता है। ऐसी ही दशा की अभिव्यक्ति वेद- मन्त्र में की गयी है-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।। (शुक्लयजु. ४०/१७)

'उस अविनाशी आदित्यदेवता का शरीर सुनहले ज्योतिपिण्ड से आच्छादित है उस आदित्यपिण्ड के भीतर जो चेतन पुरुष विद्यमान है, वह मैं ही हूँ। उपर्युक्त विवरण से सिद्ध है कि हमारे वैदिक पूर्वज भौतिक आदित्यपिण्ड से विविध लाभ उठाते हैं, वहाँ उसमें विद्यमान चेतन सूर्यदेवता से स्व-कामनापूर्ति के लिये प्रार्थनाएँ भी करते थे। तत्पश्चात् उनसे एकरूपता का अनुभव करते हुए असीम आत्मिक आनन्द के भागी बन जाते थे। सचमुच महाभाग सूर्य महान् देवता हैं।

चन्द्रमा :-

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है- 'नक्षत्रों में मैं चन्द्रमा हूँ' 'नक्षत्राणामहं शशी' (गीता 10/21) कतिपय भारतीय विद्वानों ने भगवान् श्रीकृष्ण के कथन के आधार पर नक्षत्रों का सम्बन्ध चन्द्रमा से जोड़ लिया। नक्षत्रों को स्त्रियाँ मानकर चन्द्रमा को उनका पति स्वीकार कर लिया गया। सूर्य ग्रहों के राजा माने गये। सूर्य और चन्द्रमा की प्रधानता उनके 'प्रकाश' के आधार पर ही स्थापित हुई। भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र ने ज्योतियों में अपने को 'किरणों वाला' सूर्य कहा है- 'ज्योतिषां रविरंशुमान्' (गीता 10/21)

वैदिक साहित्य में चन्द्रमा का जो वर्णन है, उसमें चन्द्रमा को एक लोक ही माना गया है। संसार की संरचना में उस विराट् पुरुष ने अन्यान्य जितनी रचनाएं की हैं, उनमें सूर्य और चन्द्रलोककी गणना सर्वप्रथम है। इसका स्पष्ट उल्लेख संहिता (10/190/3) में इस प्रकार है- **'सूर्यचन्द्रमासौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरक्षिमथो स्वः।।'** चन्द्रमा और नक्षत्रों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए तैत्तिरीयसंहिता में एक उल्लेख प्राप्त होता है- **'यथा सूर्यो दिवाचन्द्रमसे समनमत्रक्षत्रेभ्यो समनमद् यथा चन्द्रमा नक्षत्रे वरुणाय समनमत्।।'**

एक कथन से यह भी प्रमाणित होता है कि धरा (पृथ्वी)- पर अग्नि की स्थिति मानी गयी है। अन्तरिक्ष में वायु की प्रधानता है। द्युलोक में सूर्य की और नक्षत्रलोक में चन्द्रमा की प्रधानता है। आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रमा को नक्षत्रों से दूर मानते हैं किन्तु चन्द्रमा का सम्बन्ध नक्षत्रों से पृथक् नहीं किया जा सकता। जिन-जिन समूहों को नक्षत्रों की परिभाषा स्वीकारा गया

है, उन ताराओं की आपसी दूरी भी लम्बी-लम्बी मानी जाती है। विस्तार भय से यहाँ अधिक नहीं लिया जा सकता। यों तो सूर्य का सम्बन्ध चन्द्रमा से भी है और सूर्य नक्षत्रों से भी सम्बन्धित है। नक्षत्रों से चन्द्रमा का विशेष सम्बन्ध दर्शाने का यही तात्पर्य है कि रात में चन्द्रमा और नक्षत्रों के दर्शन स्पष्ट होते हैं। दिन में नहीं, क्योंकि दिन में सूर्य का तीव्र प्रकाश बाधक बनता है।

तैत्तिरीयसंहिता के आधार पर कुछ लोक सूर्यमण्डल से ऊपर चन्द्रमण्डल की कल्पना करने लगे थे, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। ऋग्वेद संहिता (1/105/11) में निम्न उल्लेख प्राप्त होता है-

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः। ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं .... रोदसी॥

आचार्य यास्क और आचार्य सायण के मतानुसार उपर्युक्त ऋचाका आशय यह है कि 'अन्तरिक्ष में चन्द्रमा सूर्य से नीचे है। इसी शुक्र की पहली ऋचा में चन्द्रमा को पक्षी अर्थात् अन्तरिक्ष में संचार करने वाला कहा गया है।'

संवत्सरो का निर्णय करते हुए तैत्तिरीय- ब्राह्मण में लिखा गया है कि 'अग्नि ही संवत्सर है, आदित्य परिवत्सर है, चन्द्रमा इडावत्सर है और वायु अनुवत्सर है।'

अग्नियाँ संवत्सरः। आदित्यः परिवत्सरः। चन्द्रमा इडावत्सरः। वायुरनुवत्सरः।

श्रीसायाणाचार्य ने ऋग्वेद की व्याख्या में एक स्थल पर लिखा है- 'चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है' आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे स्वीकारते हैं। सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा को प्रकाशित होने की बात ऋग्वेद में पहले ही कही गयी है। श्रीसायणाचार्य लिखते है- 'चन्द्रबिम्बे सूर्यकिरणाः प्रतिफलन्ति।' अर्थात् चन्द्रबिम्ब में सूर्य की किरणे ही प्रतभासित होती हैं।

इस तथ्य को सभी स्वीकारते हैं कि चन्द्रमा सूर्य से आकार - प्रकार में बहुत छोटा है। चन्द्रमा का व्यास 2959 मील ही बताया गया है। चन्द्रमा पृथ्वी का ही एक उपग्रह माना जाता है। चन्द्रमा का पृथ्वी से सीधा और सन्निकट का सम्बन्ध माना गया है। पृथ्वी से चन्द्रमा 252790 मील ही दूरस्थ है। ब्राह्मणग्रन्थों में हजारों वर्ष पूर्व यह स्वीकार लिया गया था कि चन्द्रमा जो 'दृश्य भाग' धब्बे (कृष्ण) के रूप में दीख पड़ता है, वह पृथ्वी का हृदय है - यच्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्यां हृदयं श्रितम्।' (मन्त्र ब्राह्मण) चन्द्रमा के जिस काले धब्बे को ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथ्वी का हृदय बताया गया है, वह पृथ्वी और चन्द्रमा के अटूट सम्बन्ध का द्योतक है। बोधक है। अथर्ववेद के एक सूक्त से अवगत होता है कि चन्द्रमा अपने सत्ताईस नक्षत्रों सहित अत्यन्त दीर्घायुवाला ग्रह है। वह दीर्घायुवाला ग्रह हमें ' 'दीर्घायु प्रदान करे। इससे

यह स्पष्ट प्रतीत होता है। कि जिन नक्षत्रों को आधुनिक वैज्ञानिक स्थित और अत्यन्त प्राचीन मानते हैं, उसे अथर्ववेद में बहुत पहले ही लिख दिया गया है-

चन्द्र आयुष्मान् सनक्षत्रमायुष्मान् समायुष्मान् आयुष्मन्तं कृणोतु।।

ऋग्वेद और सामवेद में स्पष्ट लिखा है कि चन्द्रमा पृथ्वी का शिशु है- 'शिशुर्महीनाम्।' वेदों के अतिरिक्त उपनिषदों में भी वैज्ञानिकों ने स्वीकारा है कि चन्द्रमा से ओषधियों और पौधों की वृद्धि होती है। चन्द्रमा ओषधियों का पोषक माना गया है। प्रश्नोपनिषद् (1/5) में स्पष्ट लिखा है कि सूर्य प्राण है, चन्द्रमा अन्न है।'-

आदित्यों है वे प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः।।

श्रीमद्भागवत के रचयिता, महर्षि व्यास जी ने चन्द्रमा के विषय में विस्तार से लिखा है। चन्द्रमा सोलह कलाओं से युक्त मनोरम, अन्नमय, अमृतमय (प्राणमय) परम पुरुष परमात्मा का ही रूप है। चन्द्रमा अपने तत्त्वों से देव, पितर, मनुष्य भूत, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष और लता आदि समस्त प्राणियों का पोषक है। अतः चन्द्रमा को 'सर्वमय' कहा जाता है-

य एष षोडशकलः पुरुषो भगवान् मनोमयोऽन्नमयोऽमृतमयो देवपितृमनुष्यभूतपशुपक्षिसरीसृपवीरुधां प्राणाप्यायनशीलवात्सर्वमय इति वर्णयन्ति ।। (भीमद्भा. 5/22/10)

चन्द्रमा की उत्पत्ति विराट् भगवान् के मन से मानी गयी है। **'चन्द्रमा मनसो जातः।'** चन्द्रमा भगवान् का मन भी माना गया है। जयोतिष्फलित-विचार से चन्द्रमा जीव के मन का 'कारक' माना जाता है।

वेदों में पर्यावरण विज्ञान

कु0 ऋतु शुक्ला
प्रवक्ता संस्कृत
पं. दीनदयाल उपा.राज.महा. वाराणसी

विद् धातु से निष्पन्न वेद ज्ञान के विपुल आगार ही नहीं, अपितु विज्ञान के भी अक्षय कोष हैं। विज्ञान के समस्त पक्षों यथा भौतिकी, प्रौद्योगिकी, वनस्पति विज्ञान, जन्तु विज्ञान, रसायन विज्ञान पर्यावरण विज्ञान, ज्योतिष विद्या आदि का विस्तृत विवेचन वेदों में प्राप्त होता है। विज्ञान आज मात्र कारण - कार्य तथा पदार्थ की विवेचना करने वाले अर्थ में रूढ़ हो गया है, परन्तु **विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्**- अर्थात् किसी वस्तु का विशिष्ट ज्ञान विज्ञान है। इस दृष्टि से वेद जीवन को प्रभावित करने वाले विविध पक्षों के विशिष्ट ज्ञान के अजस्र स्रोत हैं।

पर्यावरण 'परि' तथा 'आवरण' - इन दो शब्दों के योग से बना है। परि का अर्थ है- चारों ओर तथा आवरण का तात्पर्य है ढकना या आच्छादन। पर्यावरण शब्द के अन्तर्गत हमारे चारों ओर विद्यमान प्राकृतिक व्यवस्थाएँ, सम्पूर्ण सौरमण्डल में होने वाली परिस्थितियाँ एवं शक्तियाँ आती हैं, जो मानवीय क्रियाकलापों को प्रभावित करती हैं। अतः भूमि, जल, वायु, वनस्पति, वृक्ष, आकाश, जीव-जन्तु इत्यादि जिनका हम अपने जीवन में नित्य अनुभव पाते हैं, समवेत रूप से पर्यावरण का निर्माण करते हैं।

प्रसिद्ध पर्यावरणविद् डा0डगलस एवं हालैण्ड[1] के अनुसार- पर्यावरण या वातावरण वह शब्द है जो समस्त बाह्य शक्तियों, प्रभावों, परिस्थितियों का सामूहिक रूप से वर्णन करता है, जो जीवधारी के जीवन, स्वभाव, व्यवहार, अभिवृद्धि विकास तथा प्रौढ़ता पर प्रभाव डालता है।

प्राकृतिक संसाधनों के असीमित दोहन, औद्योगिकीकरण एवं भौतिक उष्मीय जैविक अथवा रेडियोधर्मी गुणों के द्वारा जब पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति इत्यादि पर्यावरणीय अवयवों में अवांछनीय परिवर्तन एवं विकृति, जो मानव अस्तित्व के लिए हानिकारक हो, प्रदूषण कहलाती है। इसका संकेत वैदिक ऋचा[2] में भी मिलता है जिसमें स्पष्ट है कि प्राकृतिक पदार्थों के अविवेकपूर्ण दोहन से विकृत प्राकृतिक पदार्थ दुःखदायी होते हैं। अपौरुषेय वेद, पुराण, उपनिषद् साहित्य तथा आर्ष ग्रन्थों में पर्यावरण पर गहन चिन्तन एवं

विश्लेषण प्राप्त होता है। आज के मानव की पर्यावरण संरक्षण एवं उसके सन्तुलन के प्रति जितनी सजगता है, उससे कहीं अधिक वेदकालीन समाज में पर्यावरण संरक्षण के प्रति सजगता, संलग्नता एवं महत्व के प्रति मान्यता थी। अतएव भारतीय संस्कृति उद्घोष करती है –

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्।।

वेदों में पर्यावरण शब्द का संकेत परिधि, परिवृत्, इत्यादि शब्दों से किया गया है। परिधि के अन्तर्गत पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौः, जल, चारों दिशायें, पर्वत, वनस्पतियाँ, औषधियाँ, पशु-पक्षी, अग्नि आदि देव वायु इत्यादि पदार्थ समाहित है। अथर्ववेद में 'आपो वाता ओषधयः[3] को छन्दस् अर्थात् आच्छादक (पर्यावरण) बताया गया है। पृथ्वी को भी ब्रह्माण्ड की पर्यावरण रूप परिधि बताया गया है।[4]

पर्यावरण के महत्वपूर्ण घटकों में वृक्ष एवं वनस्पतियों का परिगणन होता है, क्योंकि ये जीवनदायक वायु आक्सीजन छोड़ते हैं तथा हानिकारक वायु को स्वयं में अवशोषित करते हैं, अतः वेदों में विभिन्न मन्त्रों द्वारा वृक्ष वनस्पतियों, औषधियों तथा वनों के प्रति नमन करते हुए इनके हितकारी, अनुकूल तथा शान्तिदायक होने की प्रार्थना की गयी है-

नमो वृक्षेभ्यः (यजु0 16.17)
नमो वन्याय च (यजु0 16.34)
ओषधीनां पतये नमः। (यजु0 16.19)
मधुमान्नो वनस्पति (ऋ0 1.90.8)
ओषधयः शान्ति वनस्पतयः शान्ति। (36.17)

अथर्ववेद में कथन है कि जिसे भूमि पर वृक्ष एवं वनस्पतियाँ सदा खड़ी रहती हैं, वह भूमि विश्व के समस्त जनों का भरण पोषण करने में समर्थ होती हैं।[5] ऋग्वेद का सम्पूर्ण अरण्यानी सूक्त (910.146) इस आशय से ओतप्रोत है। अरण्यानी सूक्त में अरण्य को देवत्व पद पर प्रतिष्ठित कर उसके प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त करते हुए अकारण हिंसा न करने का निर्देश प्राप्त होता है – अरण्यानी न वै हन्ति। वैदिक[6] ऋषि इस तत्य से अवगत थे कि मनुष्य एवं पशु पक्षियों के सह निवास से ही पारिस्थितिकी सन्तुलन बनाये रखा जा सकता है-

सं संस्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पुरुषाः।

सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि।। (अथर्व0 2.26.3)

जैसे सियार, गिद्ध, कौवे, शूकर इत्यादि जन्तु दुर्गन्धयुक्त शवों तथा पदार्थों को खाकर जल तथा वायु को प्रदूषित होने से बचाते हैं। सर्प चूहों की तथा नेवले सर्प की संख्या संतुलित रखते है। ऋग्वेद में वृक्षों के प्रदूषणरोधी होने के कारण उनके संरक्षण का[7] तथा वृक्षारोपण करने का निर्देश है क्योंकि ये जलीय स्रोतों के रक्षक है।[8] अथर्ववेद में अनेक वृक्षों एवं औषधियों का वर्णन हैख जो प्रदूषणरोधी है[9] तथा ... (पीपल), उदुम्बर (गूलर), भद्र (देवदार), चीपुद्रु (चीड़) मदुघ (मुलहठी), न्यग्रोध (बड़), अपामार्ग (चिरचिटा, लटजीरा), पलाश (ढाक) इत्यादि । अथर्ववेद (5.4.3) में अश्वत्थ (पीपल) को 'देवनाम् सदनमसि' कहकर उसकी अत्यधिक महत्ता प्रदर्शित की गई है, क्योंकि यह कार्बन डाइऑक्साइड को अधिक मात्रा में अवशोषित कर, ऑक्सीजन को बहुतायत में निःसृत करता है, जिससे प्रदूषण की समस्या का अधिकांश सीमा तक समाधान होता है।[10] अपामार्ग[11] तथा गुग्गलु[12] (गूगल) से भय, रोग एवं प्रदूषण नहीं होता। वैज्ञानिक शोध से यह सिद्ध हुआ है कि जंगल जलेबी का वृक्ष सल्फर डाइऑक्साइड की 80 प्रतिशत सान्द्रता सोखता है, अतः इस वृक्ष में तेजाबी वर्षा से मुक्ति दिलाने की क्षमता है। इसी प्रकार **'चीड़ की वृक्ष'** मिट्टी से वैरीलियम धातु को सोखकर उसे प्रदूषण मुक्त करता है। अथर्ववेद में वर्णित अजशृंगी, पीला[13], नलदी, औक्षगन्धि, प्रमन्दनी इत्यादि औषधियों को कृमिनाशक, मलनाशक[14] एवं प्रदूषण नाशक कहा गया है। अतएव यजुर्वेद में **'मापो मौषधीहिसीः** (यजु0 6.22) कहकर वृक्षों को क्षति पहुँचाने का निषेध किया गया है।

पर्यावरण का अन्य संघटक तत्व वायु मानवजीवन की आधारशिला है क्योंकि श्वास प्रश्वास की क्रिया द्वारा यह मानव को आयुष्य प्रदान करती है। शुद्ध वायु मानव के विकास के लिए अत्यावश्यक है, अतएव अथर्ववेद में वायु और सूर्य को संसार का रक्षक कहा गया है- **युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथः।** (अथर्वः 4.25.3)

आज मानव के अतिवादी औद्योगिकीकरण तथा रसायनों के अविवेकशील प्रयोग, परमाणु विस्फोट इत्यादि से वायु प्रदूषित हो गयी है। इसके कारण मनुष्यों के साथ-साथ पशु पक्षियों की भी कार्यक्षमता एवं जीवनशक्ति का प्रतिदिन क्षय हो रहा है। प्रदूषित वायु का प्रभाव पृथ्वी की रक्षक 'ओजोन' परत पर भी पड़ रहा है, जिससे पृथ्वी का तापमान

निरन्तर बढ़ रहा है। पृथ्वी से 34-40 किमी0 की ऊँचाई पर स्थित ओजोन परत सूर्य से निकलने वाली पराबैंगनी किरणों को 99 प्रतिशत अवशोषित कर भूमि के वृक्ष वनस्पतियों एवं पशु-पक्षियों को भस्म होने से बचाती है। वायु में निरन्तर स्रवित हो रही प्रदूषित गैसें - यथा क्लोरो फ्लोरो तथा कार्बन डाई आक्साइड आदि के द्वारा ओजोन परत में विकृति आ गई है, जिसके परिणाम स्वरूप चर्मरोग, कैंसर इत्यादि रोगों से पीड़ित मानवों की संख्या में वृद्धि हुई है। वेदों में ओजोन परत के लिए **'महत् उल्ब'** शब्दप्रयुक्त हुआ है[15] तथा सचेत किया गया है कि 'उल्ब' को हानि पहुँचाना उसी प्रकार विनाशकारी होगा जैसे गर्भस्थ शिशु की झिल्ली से छेड़छाड़ करना। अतः इसकी पूर्ण मनोयोग से रक्षा करनी चाहिए। ऋग्वेद[16] में वायु को विश्वभेषज (world physician) कहकर शुद्ध वायु को प्रवाहित करने हेतु प्रार्थना की गयी है[17]। वृक्ष-वनस्पतियाँ शुद्ध वायु के स्रोत है, अतः वैदिक द्रष्टाओं ने अधिकाधिक वनस्पति आरोपण[18] करने तथा पीपल एवं पलाश[19] जैसे वृक्षों के समीप बैठने का निर्देश दिया है। वैदिक मनीषियों द्वारा वायु शुद्धि हेतु दिये गये विविध उपाय वेदों में यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते है।

वायु की भांति जल भी जीवन का पर्याय माना गया है। ऋग्वेद में शुद्ध जल को अमृत एवं औषधिवत् बताया है- अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्। (ऋ0 1.23.19)

चूँकि जल शरीर के मलों की शुद्धि करता है[20] अतः शुद्ध जल के प्रवाहित होने के लिए अथर्ववेद में प्रार्थना की गयी है[21]। वेदं में जल को सर्वोत्तम वैद्य कहा है[22] तथा जल को दूषित करना पाप माना है। जल तथा औषधियाँ मित्र के समान है[23], क्योंकि जल समस्त प्रदूषण का निवारण करता है जिससे मनुष्य गतिशील हो जाता है वेदों में समुद्र एवं नदियों को देवतुल्य पूज्य मानकर यह कामना की गई है कि नदियाँ जल से पूर्ण हों तथा हमें किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाते हुए मधुर जल दें अन्यत्र भी निर्विश अर्थात् प्रदूषणरहित जल प्रदान करने हेतु प्रार्थना है। अतः वैदिक ऋषि स्वच्छ जल के प्रति पूर्णतया सजग थे, जल के औषधीय गुणों एवं उसके महत्व को दृष्टि में रखते हुए 'माऽपो हिंसीः[23]' कहकर उसे दूषित न करने का निषेध करते हैं।

पर्यावरणीय अवयवों में पृथ्वी पर विचार करें तो हम देखते हैं कि आज मानव पृथ्वी का निरन्तर दोहन करने में संलग्न है, जिसके परिणामस्वरूप स्थल मण्डल में असन्तुलन व्याप्त हो गया। पृथ्वी पर रासायनिक खादों का अत्यधिक प्रयोग, कीटनाशकों

का अनुचित प्रयोग उसकी उर्वरता को प्रभावित कर रहा है, साथ ही विभिन्न अन्वेषण एवं अविवेकपूर्ण हस्तक्षेप ने भूकम्प, भूस्खलन, ज्वालामुखी इत्यादि त्रासदियों में वृद्धि की है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि इस संन्दर्भ में भी चिन्तनशील थे। उन्होंने रत्नगर्भा एवं आश्रयदा पृथ्वी को प्राकृतिक खाद अर्थात् गोबर (करीष)[24] तथा यज्ञ की राख[25] के प्रयोग के द्वारा उर्वरक एवं पुष्ट बनाने का निर्देश किया है। ऋषि स्वयं को पृथ्वी का पुत्र घोषित करते हैं-

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः (अथर्व0 12.1.12)

क्योंकि पृथ्वी मातृवत् विश्व का भरण-पोषण करने वाली तथा सभी प्राणियों की प्रतिष्ठास्वरूप है। वेद[26] में अनेक स्थानों पर पृथ्वी को माता एवं द्युलोक को पिता कहा है-

भूमिर्माता, भ्रातान्तरिक्षम्, द्यौर्नः पिता (अथर्व0 6.120.2)

पृथिवी माता, धौष्पिता। (यजु0 2.10. 11)

इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने का कारण है कि मनुष्य इनके प्रति आत्मीयभाव एवं श्रद्धाभाव रखते हुए इन्हें हानि पहुँचाने से बचे।[27] पृथ्वी ही अपने अन्तःस्थल में जल को समेटे हुए है तथा विभिन्न औषधियों एवं वनस्पतियों की जननी है - **विश्वस्वं मातरमोषधीनाम्** (अथर्व0 12.1.17)

अन्यत्र कथन है कि द्यु-भू चेतन तत्व तथा हमारे रक्षक हैं, अतः इनको प्रदूषित करने से संकट (निऋति) उपस्थित होंगे[27]। पृथ्वी यदि प्रदूषण आदि से रुष्ट हो जाती है तो अतिवृष्टि, अनावृष्टि इत्यादि आपदाएँ प्रारम्भ हो जाती है[28]। प्रदूषण के कुप्रभाव से समुद्र का जल स्तर बढ़ जायेगा तथा वह पृथ्वी के विभिन्न भागों को जलमग्न कर देगा, अतः यजुर्वेद में प्रार्थना है कि हे पृथिवी! समुद्र तेरा वध न करे[29]। पृथ्वी को समर्पित अथर्ववेद के 12वें काण्ड का प्रथम सूक्त पृथ्वी सूक्त के एक मन्त्र में कथन है कि हे पृथ्वी! मैं तेरे वृक्षों को इस प्रकार काटूँ कि वे पुनः अंकुरित हो जाये। हे विमृग्वरि (विशेष रूप से शोधन करने वाली) मैं तेरे मर्मस्थल पर प्रहार न करूँ।

उपर्युक्त मंत्र में वैदिक ऋषियों के पर्यावरण की समस्या के समाधान हेतु अत्यन्त सुन्दर विचार दृष्टिगोचर होते हैं।

ध्वनि पर भी वेदों में विचार मिलते हैं, तथा उसकी महत्ता वर्णित की गई है[30]।

ऋग्वेद के वाक् सूक्त में वाणी की देवी के रूप में स्तुति की गई है। वेद एवं अनेक धर्मिक ग्रन्थों में मितभाषी एवं मृदुभाषी होने पर बल दिया गया है। एक मन्त्र में ऋषि प्रार्थना करता है कि – मेरी जिह्वा से मधुर शब्द निकले, पूजन करते समय मूल में मधुरता हो[31] इत्यादि। ब्राह्मण ग्रन्थों में शब्द को वज्र[32] तथा सभी रोगों एवं समस्याओं का हल तथा औषधिस्वरूप[33] माना गया है। अतः इसका सदुपयोग करना चाहिए। वेदमन्त्रों के स्वरसहित गायन तथा सामवेद के मन्त्रों का अनिवार्य रूप से सस्वर गान की विधि ध्वनि प्रदूषण को दूर करने का अचूक साधन है। वैदिक ऋषि के अनुसार गायत्री मन्त्र इत्यादि का मधुर स्वर सहित गान पर्यावरण में स्वच्छता एवं ध्वनि सम्बन्धी विकार दूर करने में सक्षम है। इस प्रकार ध्वनि प्रदूषण के निवारण हेतु पर्यावरण चेतना के भी सूक्ष्म अंश वेदों में दृष्टिगत होते हैं।

वेदों में पर्यावरण शोधन हेतु वर्णित अनेक उपायों में यज्ञ का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि यज्ञ कर्मकाण्डीय दृष्टि से किये जाते थे, तथापि इस वैज्ञानिक प्रक्रिया के द्वारा पर्यावरण शोधन तथा सन्तुलन बनाये रखने का भी कार्य किया जाता था। यज्ञ में जल एवं वायुशोधन तथा उसकी राख में भूमि-शोधन की अद्‌भुत शक्ति होती है। यज्ञ के उपादानों में सर्वप्रथम घृत (गोघृत) विषनाशक है, जो अग्नि में पड़कर अत्यधिक शक्ति सम्पन्न हो, प्रदूषण के रोगाणुओं को नष्ट करता है, अतः वैदिक ऋषि घी से द्युलोक एवं पृथ्वीलोक को भर देने को कहते हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ में प्रयुक्त गुग्गलु, केसर, कस्तूरी, अपामार्ग, अगर, तगर, चन्दन, मिष्ठान्न, शक्कर-खाँड इत्यादि सामग्री पर्यावरण शोधक, आयुवर्धक एवं रोगनाशक है। अग्निहोत्र के माध्यन से प्राप्त गूगल औषधि की गन्ध यक्ष्मा आदि रोगों तक से मुक्ति दिलाने में सक्षम है।[35] सामवेद के मन्त्र में ऋषि हवि द्वारा वायु को शुद्ध करने का निर्देश देता है।[36] यज्ञाग्नि सारे संसार को पवित्र करती है[37]। यज्ञ की वैज्ञानिकता के कारण ही तैत्तिरीय उपनिषद् में **'विज्ञानं यज्ञं तनुते'** कहा गया है। डा0 कपिलदेव द्विवेदी ने अपनी पुस्तक **'वेदों में विज्ञान'** में प्रसिद्ध रसायनशास्त्री डा0 सत्यप्रकाश की 'अग्निहोत्र' पुस्तक के एक महत्वपूर्ण अंश पर प्रकाश डाला है। वे कहते है कि डा0 सत्यप्रकाश ने यज्ञ सामग्री में फारमेल्डीहाइड गैस होने की पुष्टि की, जो बिना परिवर्तित हुए वायुमण्डल में व्याप्त हो जाती है। यह गैस एक शक्तिशाली कीटाणुनाशक है[38]। जो जल के वाष्पों के साथ मिलकर ही अधिक प्रभावशाली कीटाणुनाशक है। जो जल के वाष्पों के साथ मिलकर ही अधिक प्रभावशाली होती है। इसी अभिप्राय से यज्ञवेदी के

चारों ओर पानी डाला जाता है। यज्ञ द्वारा अनेक रोगों से भी मुक्ति मिलती है, अतः यजुर्वेद में **'अयक्ष्यं च मे अनामयञ्च... मे यज्ञेन कल्पताम्।** (यजु0 18.6) विश्वस्वास्थ्य के लिए यज्ञ की उपयोगिता नामक निबन्ध में पं0 वीरसेन जी ने लिखा है- यज्ञ के इस अद्भुत प्रभाव से हमने हृदय, वात, श्वास, उन्माद, लकवा, वाक्सामर्थ्यहीनता, रक्तचाप के रोगी, शारीरिक पीड़ा, गलित कुष्ठ, कम्पवात, कैंसर, क्षय, सन्तानहीनता, अशक्ति आदि अनेक रोगों का दूर होना अनुभव किया है। ऋतुपरिवर्तन के समय संक्रामक रोगों को दूर करने हेतु भैषज्य यज्ञ करना अत्यन्त उपयोगी रहता है, ऐसा ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित है -

भैषज्ययज्ञा वा एते, ऋतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते,

ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते। (गो0ब्रा0उ0 भाग 1.19)

इसके अतिरिक्त यज्ञ मेघादि का निर्माण कर वृष्टि हेतु आवश्यक है। इसलिए यज्ञ हो सृष्टि चक्र का केन्द्र (Nucleus) कहा गया है[41]। यज्ञाग्नि से उत्पन्न धूम अन्तरिक्ष में पहुँचकर, वहाँ से जलवृष्टि किया करता है। ऋग्वेद में उल्लेख है कि यज्ञ से मेघ एवं मेघ से वर्षा होती है।[42] यजुर्वेद[43] तथा भगवद्गीता में **'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः।** (भगवद्गीता 3.14) तथा मनुस्मृति में इस आशय की पुष्टि की गई है। महर्षि दयानन्द यज्ञ के लाभ का वर्णन करते हुए कहते है - होम हवन से वायु शुद्ध होकर सुवृष्टि होती है, तथा शरीर निरोग और बुद्धि विशद् होती है, विद्या प्राप्ति होती है। मनुष्य के बाह्य पर्यावरण के अतिरिक्त उसके आभ्यान्तर शुद्धि, पवित्रता, आरोग्यता, आत्मबल की वृद्धि एवं पुष्टि भी यज्ञानुष्ठान द्वारा हुआ करती हैं इसलिए यज्ञ को सर्वरक्षक होने से 'अध्वर' तथा दोषरहित होने से 'मख' कहा जाता है, जो नदी की भांति समस्त दोषों को बहाकर ले जाता है।[44] अग्निहोत्र की राख फसलों, वृक्षों, पौधों एवं वनस्पतियों को परिपुष्ट एवं कीटाणुरहित करने में सक्षम है। अतः यजुर्वेद में कथन है कि - **तू यज्ञ कर जिससे वनस्पतियाँ हवि को ग्रहण कर सकें।**[45] यज्ञानुष्ठान के समय वेदमन्त्रों के सस्वर उच्चारण से उत्पन्न ध्वनि तरंगे ध्वनि प्रदूषण को दूर करके वातावरण को सौम्य एवं आह्लादक बनाती है। इसलिए वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों में यज्ञ की उपयोगिता प्रतिपादित है।

पर्यावरण शोधक तत्वों में सूर्य का भी महत्वपूर्ण स्थान है। सूर्य की प्रातःकालीन किरणें समस्त रोगों को दूर करने में समर्थ हैं, इसलिए वेदों में सूर्य को प्रातःकाल अर्घ्य

देने का विधान है। यह वैज्ञानिक दृष्टि से भी उपयोगी है। सूर्य को अर्घ्य देते समय जल के मध्य से सूर्य को देखने से नेत्र के अनेक विकारों से मुक्ति मिलती है, तथा नेत्र ज्योति बढ़ती है। सूर्य की प्रखर रश्मियाँ प्रदूषण हटाने का कार्य करती है।[46] ऋग्वेद में उदय होते हुए सूर्य को हृदय रोग एवं प्रदूषण का विनाशक कहा गया है।[47] वैज्ञानिक शोध भी सूर्य को विटामिन डी का सर्वप्रथम स्रोत सिद्ध करता है।

वेदों में अग्नि का बहुल वर्णन है। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त अग्नि को समर्पित है। वैदिक मंत्रों में अग्नि को पावक एवं **'पावकशोचिष्'** कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि अग्नि समस्त दोषों एवं अशुद्धियों को दूर करती है। अन्न, जल आदि से हानिकारक रोगाणुओं को नष्ट कर उसको ग्रहण करने योग्य बनाती है। इसी प्रकार पर्वत, नदियाँ, औषधि इत्यादि अनेक प्राकृतिक तत्वों का यशोगान एवं उनमें देवतत्त्व की कल्पना वेदों में की गयी है, जिसका मूल कारण है कि इनका सृष्टि की साम्यावस्था तथा सन्तुलन बनाये रखने में अभूतपूर्व योगदान है।

आज देश-विदेश में पर्यावरण प्रदूषण निवारण हेतु सम्मेलन आयोजित किये जा रहे हैं। रियो-डि-जनीरियो में 1992 में आयोजित हुए पृथ्वी सम्मेलन (Earth Summit) जिसमें प्रदूषण निवारण के उपायों पर चर्चा हुई। आज के मानव की पर्यावरण सम्बन्धी जागरूकता के बीज वेदों में पहले से ही विद्यमान एंव विकसित थे। वेदों में वर्णित पर्यावरण संरक्षण के विविध उपाय एवं ज्ञानराशि वैदिक ऋषियों की पर्यावरण सम्बन्धी चेतना को द्योतित करता है। वेदों में पर्यावरण शोधन एवं दूषण को दूर करने के अनेक निर्देश प्राप्त होते हैं। जिसके अवलोकन, अनुशीलन, आचरण से हम पर्यावरण प्रदूषण की समस्या से मुक्ति पा सकते हैं। पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से वेदों में सम्पूर्ण पर्यावरणीय तत्वों के सन्तुलन हेतु शान्ति की कामना वैदिक मनीषा करती है।

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्मः शान्तिः सर्वं शान्ति शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।

सन्दर्भ

1. डॉ0 जसवीर सिंह मलिक- 'पर्यावरण शिक्षा' पृ-5
2. ऋ0 10/86/5 प्रिया तष्टानि में कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्।
   शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।

3. अथर्व. 18/1/17 त्रीणि च्छन्दांसि कवयों वि येतिरे पुरुरुषं दर्शतं विश्वचक्षणम्। अपो वाता ओषधयस्तान्येक स्मिन् भुवन अर्पितानि।।
4. अथर्व. 13/1/46/ उर्विरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत। तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहित:।।
5. अथर्व. 12/1/27
6. ऋग्वेद 10/146/5
7. ऋग्. 6/48/17
8. ऋग्. 3/20/4
9. अथर्व. 5.4.3 / 5.5.5/ 6.102.3/ 8.6.20
10. अथर्व. 5/4/3
11. अथर्व. 4/17/8
12. अथर्व. 19/38/1
13. अथर्व. 4/37/2,3
14. अथर्व. 2/7/1
15. ऋग्. 10/51/1
16. ऋग्. 10/137/3
17. ऋग्. 10/186/1
18. ऋग्. 10/101/11 (वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्।
19. ऋग्. 10/97/5 यजु. 12/79 अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वापे वसतिष्कृता।'
20. ऋग्. 1/23/22 - इदामप: प्रवहत यत् किञ्च दुरितं मयि।
21. अथर्व 12/1/30- शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरणन्तु।
22. अथर्व 3/7/5 आपो विश्वस्य भेषजी:, तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्।' अथर्व 6/24/2- आप .... भिषजां सुभिषक्तमा:।
23. यजु. 36/23 सुमित्रिया न आप: ओषधय: सन्तु।
24. ऋ. 10/17/10 आपो अस्मान् मातर: शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्व: पुनन्तु। विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरूदिदाभ्य: शुचिरापूत एमि।
25. यजु. 6/22
26. अथर्व 19/31/3 कारीषिणीं फलवतीं स्वामिशं च नो गृहे। औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु में।।
27. यजु. 6/21 पृथिवीं भस्मना आपृण।
28. अथर्व 12/1/6 विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
29. यजु. 13/18 - पृथवीं दृहं पृथिवी मा हिंसी:।
30. ऋ. 10/36/2- धौश्च न: पृथिवी च प्रचेमस: .... रक्षतामंहसो रिष:। मा दुर्विदत्रा निऋति र्न ईशत।।

31. ऋ0 5/43/15- मा नो माता पृथिवी दुर्मतो धात्।
32. यजु 13/16 - ध्रुवासि .... मा त्वाप सतुद्र उद्वधीत्।
33. अथर्व. 5/20/7 अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक ते ध्वनयो यन्तु शीभम्।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतुर्याय स्वर्धी।।
34. अथर्व 1/34/2- जिह्वाया अग्रे मधु में जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदहं क्रतावसो मम चित्तमुपायसि।।''
35. ऐत. ब्रा. 4/1
36. शत. ब्रा. 7/2/428
38. यजु. 5/28- घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथाम्।
39. अथर्व 19/38/1 - 'न तं यक्ष्मा अरूधन्ते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलेः सुरभिर्गन्धो अश्नुते।।''
40. साम. 1/7/1- आ जुहोता हविष मर्जयध्वम्
41. ऋ. 7/13/1
42. Dr. Satyaprakash- A gnihotra, P. 153- वेदालङ्कार के शोध से उध्दृत।
43. यजु. 23/62- 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
44. ऋ0 1/164/51- 'भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति, दिवं जिल्वन्त्यग्नयः।
45. यजु 1/25/26, 36/10
46. मनुस्मृति 3/76- 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृटेन्न ततः प्रजाः।।
47. अथर्व 1/8/1- 'इदं हिवर्यातुधानान् नदी फेनमिवा महत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह सस्तुवतां जनः।।
48. यजु. 21/46- 'देवो वनस्पतिर्जुषतां हविर्होतर्यज्ञ।।''
49. अथर्व 6/52/11 - 'उत् सूर्यो दिव एति पुरो रंक्षासि निजूर्वन्।
आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा।।
50. ऋ0 1/50/11- 'उद्यन्द्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्। हृद्रोगं मन सूर्य हरिमाणं च नाशय।।
51. यजु. 36/17

वैदिक समाज शास्त्र

श्रीमती हिमांचल कुमारी
शोध छात्रा-संस्कृत विभाग
ज.वै.कालूज, बड़ौत

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह जैसे सामाजिक वातावरण में रहता है वैसा हो जाता है। समाज का वातावरण विषाक्त और विकृत होता है तो मानव उसमें विषयी और भ्रष्टाचारी हो जाते हैं। समाज का वातावरण स्वस्थ और स्वच्छ होता है तो उसमें सब सुजन और श्रेष्ठाचारी हो जाते हैं। यदि यह कहा जाए कि समाज शास्त्र ही मानव धर्म है अथवा मानव धर्म का ही अपर पर्यायवाची शब्द समाज शास्त्र है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। सामाजिक वातावरण जब 'सु' होता है तो मानवों में सुष्ठुता, सौजन्य सदाचार की सुस्थिति स्वयमेव सुस्थित रहती है।

सृष्टि की वास्तविक रचना और उसका उपयोग करने की वास्तविक विधियों का ठीक-ठीक पता लगाना मनुष्य बुद्धि के बाहर है। उसका सच्चा ज्ञाता तो परमेश्वर ही है वही आदि में मनुष्यों को सब भेद और विधियाँ बतलाता है संसार में सभी गुरुओं का भी महागुरु ईश्वर ही है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है- पूर्वेषामपि गुरू: कालेनानवच्छेदात्' उस परमात्मा के द्वारा बतलाए हुए रहस्यों और विधियों का संग्रह वेदों में है इसलिए जब तक मनुष्य अपना धर्म, समाज और राष्ट्र वैदिक विधि के अनुसार निर्माण न करे तब तक वह स्थाई रूप से सुखी नहीं रह सकता है। वेद मानवमात्र के कल्यादणार्थ सृष्टि के आदि में प्रदत्त सार्वभौमिक व सार्वकालिक ज्ञान के मूल उत्स हैं और भारतीय जनमानस तो वेदों को कभी विस्मृत नहीं कर सकता। सृष्टि के आदि काल से प्रलय पर्यन्त वह वेदों को अपना पथ प्रदर्शक मानता रहेगा। वेदों में जहाँ अध्यात्म, नैतिकता, कर्मकाण्ड, राजा-प्रजाधर्म, सृष्टि उत्पत्ति-विषय आदि गम्भीर एवं ज्ञातव्य विषयों का वर्णन है वहीं समाज-विज्ञान (मानव धर्म) पर प्रचुर निर्देश प्राप्त होते हैं।

मनुष्य को अपना निर्वाह या जीवन यापन करने के लिए अन्य साथियों की आवश्यकता है, यही कारण है कि मनुष्य ग्राम, नगर या महानगर बसाकर रहते हैं वे परस्पर सहयोग और सहानुभूति से रहना चाहते हैं। मिलकर विचार करना, मिलकर बोलना, संगठित होकर चलना रुचिकर होता हैं। इस प्रकार एक होकर सोचने, बोलने और चलने वाले सदस्यों की संख्या को ही समाज कहते हैं। 'सममजन्ति जना: यस्मिन् स समाज:।''[1] स्वयं भगवती श्रुति ने भी कहा है कि जब पहले पहल मनुष्यों ने स्वराज्य की स्थापना के

लिए प्रयत्न किया तो उन सभी मनुष्यों की गति अथवा चाल एक हो गयी थी तब कहीं धरती पर मनुष्य प्राणी का स्वराज्य स्थापित हो सका था।[2] मानव समाज के विभिन्न घटकों में परस्पर उसी प्रकार का सहयोग और सहानुभूति होनी चाहिये। जिस प्रकार शरीर के अंगों में होती है। जैसे सभी अंग मिलकर कार्य करते हैं उसी प्रकार समाज के सभी मनुष्यों को मिलाकर कार्य करना चाहिए। स्वयं वेद भगवान् ने समाज के प्रत्येक व्यक्ति को परस्पर सहयोग और सहानुभुति का सामाजिक जीवन बिताने के लिए पुरुष शरीर से उपमा दी और समाज को भी पुरुष रूप में ही चित्रित किया। उसके मुख, बाहु, उरू और चरण बताकर उसका स्पष्ट वर्णन भी कर दिया। अथर्ववेद के शब्दों में यही कहा गया था कि भूमि ही जिसके पांव हैं अन्तरिक्ष ही जिसका उदर है, द्युलोक जिसकी मूर्धा है'' इत्यादि। वेद के पुरुष सूक्त में मनुष्य समाज को चार विभागों में विभाजित करते हुए कहा गया है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्य कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥[3]

इस मन्त्र का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में उचित ही किया है। (ब्रह्मणोऽस्य मुखामासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या सत्यभाणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मो से ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न होता है वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहलाता है। (बाहू राजन्य कृतः) और ईश्वर ने बल पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊरू तदस्य) खेती व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है। (पद्भ्या शूद्रों0) जैसे पग सबसे नीचे अङ्ग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों के कारण शूद्र वर्ण सिद्ध होता है।[4] ऋषि दयानन्द इसी ग्रन्थ में लिखते हैं कि मनुष्य जाति सबकी एक है सो भी वेदों से सिद्ध है।[5] उक्त वर्ण व्यवस्था समबन्धी मन्त्र को लेकर आधुनिक प्रगतिवादी समाज शास्त्री वेद पर आरोप लगाते हैं कि वेद का यह मन्त्र ब्राह्मण को परमात्मा के मुख से उत्पन्न, क्षत्रिय को भुजाओं से उत्पन्न, वैश्य को जंघाओं से उत्पन्न तथा शूद्र को पैरों से उत्पन्न सिद्ध करता है, जो कि समाज में ऊंच नीच का भेद पैदा करने के लिए उत्तरदायी है। दिनांक 1 फरवरी 2007 के दैनिक जागरण के सम्पादकीय पृष्ठ पर प्रसिद्ध समाजशास्त्री व लेखक डॉ0 महीप सिंह ने जातियों का घना जंगल शीर्षक से एक लेख लिखा जिसमें भारतवर्ष की जातियों उपजातियों पर चर्चा करते हुए वे लिखते हैं- सामान्यतः ऋग्वेद के पुरुष सूक्त को ही वर्ण भेद का मूल मानते हैं। जिसमें कहा गया है- उस प्रजाति के मुख से ब्राह्मण भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पदों से शूद्र उत्पन्न हुए है। डॉ0 महीप सिंह अकेले नहीं है जो वैदिक वर्ण व्यवस्था को जन्माधारित मानते हुए

है। जातिगत भेद भाव का मूल मानते है। कारण है वेद की अपव्याख्याएं। महर्षि दयानन्द से इतर व्याख्याकारों ने वेद की इसी तरह की व्याख्याएं की जिससे वेद की सार्वजनीन हित की भावना को गहरा आघात लगा। इसी जन्माधारित वर्णव्यवस्था ने जातिगत विषमताएं, छुआ-छूत व समाज में विघटन पैदा किया इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं परन्तु वेद तो कर्माधारित वर्ण व्यवस्था का पोषक है, जिसके बिना समाज चल ही नहीं सकता कार्य विभाजन के बिना समाज उन्नति सम्भव ही नहीं हैं।

वेद की मान्यता है कि इस विशाल ब्राह्माण्ड का संगठन एक परिवार के रूप में है परमात्मा उसका स्वामी है। संसार की विविध शक्तियां उसके अंशरूप है। वेद की ऋचा कहती है-जिस महान् विराट् ब्रह्म के सूर्य एवं चन्द्र नेत्र तुल्य हैं, अग्नि मुख तुल्य है उस परमब्रह्म को हमारा श्रद्धापूर्वक अभिवादन है। वहीं चेतन जगत् में मानव में भी समाजवाद की व्याप्ति बताने के लिए मानव को अपने शरीर में अंगरूप में प्रतिपादित करके एक संगठन में रहकर समाजवाद की प्रेरणा दी है। जिस मन्त्र (ब्राह्मणोऽस्य0) की चर्चा प्रारम्भ में आयी है।

वेद ने समाज को सुगठित करने के लिये मानव बनने की आज्ञा दी -मनुर्भव हे मनुष्य ! तू इस मानव देह को प्राप्त कर मनुष्य बन। मननशील बन। जिन मनुष्यों में जितनी अधिक उत्तम सामाजिक भावनाएं जाग्रत की जायेगी उनमें उतना ही उत्तम सामाजिक जीवन विकसित हो सकेगा। वैदिक समाज का प्रारम्भ ही इस धारणा से होता है कि मनुष्य का सम्बन्ध केवल अपने-आपे से नही प्रत्युत उसका सम्बन्ध दम्पत्ति, कुटुम्ब, जाति समाज और संसार के समस्त मनुष्यों तथा संसार के समस्त प्राणिमात्र से है इसलिए उसे सबके साथ प्रेम, दया और सहानुभूति से वर्तना चाहिए। वेदमाता कहती है- जो दम्पत्ति एक मन होकर यज्ञ अर्थात् उत्तम कार्यो के लिए साथ दौड़ते हैं और नित्य परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं वे देवता हैं।[7] इसको आगे बढ़ाते हुए कौटुम्बिक व्यवहार का उपदेश दिया - पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता का इच्छाकारी हो तथा स्त्री पति से मधुर और शान्त वाणी से बातचीत करें।[8] भाई-भाई से द्वेष न करें न बहिन से बहिन ही ईर्ष्या करें। सब लोग अपने व्रत अर्थात् मर्यादा में रहकर सदैव आपस में भद्र भाषा से ही बातचीत करें। इस कौटुम्बिक व्यवहार में ही बड़े-बूढ़ों की सेवा से पवित्रता मानने का उपदेश देते हुए वेद में आया है सौम्य पिता मुझे पवित्र करें, सौम्य पितामह मुझे पवित्र करें, सौम्य प्रपितामह मुझे पवित्र करें जिससे मैं सौ वर्ष जीने वाला होऊँ।10 कुटुम्ब के उपरान्त मित्रों के धन के साथ व्यवहार का उपदेश-मित्र के सहवास और यश से सब आनन्दित होते है। मित्र धन देकर समाज के पापों को दूर करता है और सबका हितकारी होता वह है। सखा अर्थात् मित्र नहीं है जो धनवान् होकर अपने मित्र की सहायता नहीं करता है। उसका घर सच्चा घर नहीं है उसके

पास से तो सदैव दूर ही भागना चाहिए।[11] मित्र के साथ कैसा व्यवहार किया जाए? इसका सुन्दर वर्णन वेद में आया है। इसके आगे समस्त आर्य जाति व मनुष्य जाति के साथ व्यवहार का उपदेश है मुझे ब्राह्मणों में प्रिय कीजिए, क्षत्रियों में प्रिय कीजिए, वैश्यों में प्रिय कीजिए और शूद्रों में प्रिय कीजिए।[12] ''तुम सब मनुष्यों के जन्म स्थान एक समान हों और तुम सब अन्न को एक समान बांट कर उपभोग करो, मैं तुमकों एक ही कौटुम्बिक बन्धन से बाँधता हूँ इसलिए तुम सब मिलकर कर्म करों। जैसे रथचक्र के सब ओर एक ही नाभि में लगे हुए 'अरे' कर्म करते हैं।[13]

वेद में सभी को साथ लेकर चलने, बोलने व कर्म करने का जो उपदेश है वह सामाजिक समरसता का सूत्र है। वेद की यह भावना वर्तमान सामाजिक जीवन की शिक्षा के मूल में होनी चाहिए। सबके प्रति कल्याण की भावना जाग्रत हुए बिना हम आदर्श समाज का निर्माण कैसे कर सकते हैं। वैदिक संस्कृति में मानवों की रक्षा का दायित्व मानव पर ही है।

पुमान्पुमांस परिपातु विश्वतः।[१४]

मानव-मानव की सब प्रकार से सब ओर से सब साधनों से प्रीतिपूर्वक अच्छी प्रकार रक्षा करने की भावना बनाए। वेद के इस महावाक्य का कार्य के प्रत्येक क्षेत्र मं सदा स्मरण कर अपने व्यवहार को उत्तरोत्तर परिष्कृत कर मानवता के निर्माण एवं उन्नति में लगना चाहिए। और प्रत्येक की रक्षा की भावना के साथ सद्भावना से कार्य करना चाहिए। इस भावना की दृढ़ता के लिये वेद ने कहा-

''मा हिंसीः पुरुषं जगत्''[१५]

मानव समाज की, पुरुष की, हिंसा मत मरो। यह रक्षणीय है, पालनीय है। संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है विद्या एवं विज्ञान का यह कोश है। कला कौशल का अद्भुत सर्जक है। परमात्मा के पश्चात् यही इस सृष्टि का स्वामी है। इसमें अपूर्व पुरुषार्थ है। इसमें अद्भुत चिन्तन शक्ति है। इसमें महान् देवत्व है। यह कल्पना से इस संसार में विविध प्रकार की सृष्टि का सर्जन करता है। यह हत्या करने योग्य नहीं है क्योंकि इसकी रक्षा से जगत् का कल्याण है।

सत्य से समाजवाद का विकासः- समाज निर्माण के लिए शुभ मन की आवश्यकता होती है। खराब मन ही संसार में अशान्ति, रोग दुःख आदि उत्पन्न करता है, और सत्य के पालन से ही मन शिव संकल्प वाला बनता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है कि व्यवहार सत्यपूर्ण होना चाहिए। बिना सत्य व्यवहार के हम एक दूसरे की

रक्षा नहीं कर सकते। यदि समाज में व्यक्तियों का व्यवहार सत्यपूर्ण नहीं होगा तो परस्पर प्रेम, विश्वास और रक्षा की भावना जाग्रत न हो सकेगी। वेद इस सत्य, सनातन, ध्रुव, सिद्धान्त के बारे में कहता है कि असत्य में कभी श्रद्धा, प्रेम विश्वास आदि नहीं हो सकते। सत्य में ही श्रद्धा, प्रेम विश्वास होते हैं। यदि कोई व्यक्ति असत्य में श्रद्धा करता भी है तो वह भी उसे असत्य जानकर श्रद्धा नहीं करता अपितु सत्य समझकर ही श्रद्धा, प्रेम और विश्वास करता है। वेद ने कहा- इस जगत् में प्रजापति ने असत्य और सत्य का भेद करके श्रद्धा को सत्य में स्थापित किया और अश्रद्धा को असत्य में स्थापित किया।16 अतः समाज शास्त्र का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि सत्य के ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सदा उद्यत रहना चाहिए। इसका बहुत ही आदर एवं उदारता से, स्वार्थ भावनाओं को त्यागकर प्रचलन करना चाहिए।

सदाचार युक्त समाज का निर्माण :- सदाचार के बिना सामाजिक व्यवहार उत्तमता से निभ नहीं सकते। सदाचारी मनुष्य ही समाज में सुख से रह सकता है। सत्यता, शुद्धता, चरित्रशीलता, और 'व्रत' आदि के बिना मनुष्य समाज में सहज व सुखी जीवन नहीं बिता सकता। इसलिए सदाचार से सम्बन्ध रखने वाले अनेक उपदेश वेदों में दिये गये हैं। वेद का आदेश है। ''व्रत करो, जीवन में व्रतों को धारण करो।''[17] जिससे सभी प्रकार के शुभ गुणों की अपने अन्दर स्थापना निरन्तर होती रहे। नियमों व व्रतों का सार्वजनिक एवं सर्वहितकारी रूप समाज का प्राण है। वेद में अग्नि को व्रतों का पालन करने वाला बताया है।18 वेद में वर्णन है- हे व्रतपते अग्ने! आप जिस प्रकार से अन्धकार को दूर करके सत्य का प्रकाश करने वाले है उसी प्रकार मैं भी जन समाज के अज्ञानान्धकार को दूर कर सत्य के प्रकाश का, अविद्या के नाश और विद्या की वृद्धि का, असद्व्यवहार को दूर और सद्व्यवहार के प्रचार का व्रत लेता हूँ।[19] जब समाज का प्रत्ये व्यक्ति उक्त व्रतों का जीवन का अङ्ग बना लेगा और प्रत्येक व्यवहार में सार्वजनिक हित को लक्ष्य में रखकर शुभगुणों के ग्रहण के लिए सदाचार एवं व्रतों का पालन करता रहेगा तो ऐसा समात आदर्श बन जाएगा। वैदिक समाज में मर्यादा का पालन व पाप से निवृत्ति पर अधिक बल दिया गया है। वेद का उपदेश है हिंसा, चोरी, मद्यपान, जुआ, असत्यभाषण और इन पापों के करने वाले दुष्टों के सहयोग का नाम सप्त मर्यादा है। इनमें से जो एक भी मर्यादा का उल्लंघन करता है अर्थात् एक भी पाप करता है वह पापी होता है, और जो धैर्य से इन हिंसादि पापों को छोड़ देता है वह निस्सन्देह जीवन का स्तम्भ (आदर्श) होता है।[20] गुरुड के समान मद (घमण्ड) गृध्र के समान मोह (मूर्खता) और भेड़िये के समान क्रोध को मार भगाइए।[21] हे मेरे मन पापो! तुम मुझसे दूर हो जाओ। मुझसे बुरी बाते क्यों करते हो? मैं तुमको नहीं चाहता इसलिए मेरे पास से दूर हो जा और जहाँ वनवृक्ष है वहाँ चला जा। क्योंकि मैं। अपने शरीर इन्द्रिय

और मन में चित्त लगा रहा हूँ।[22] इस प्रकार पापों से निवृत्ति व सदाचार का पालन समाज को सुखी बनाता है।

पुरुषार्थ प्रधान समाजः- वेद हमें कर्तव्य पालन की व पुरुषार्थ की निरन्तर प्रेरणा दे रहा है। जीवन में निरन्तर कर्म करते हुए जीने की इच्छा करो। अकर्मण्य तथा आलसी बनकर जीने की इच्छा कभी मत करो।[23] आराम या आलस्य कर्तव्य परायणता का शत्रु है। ऐसे आलसी व्यक्तियों की अकर्मण्यता से समाज में जिन दुष्प्रवृत्तियों का जन्म होता है, वे समाज के लिए महान् अनर्थकारी होती है। पुरुषार्थी व्यक्ति ही सन्तोष का अर्थ जानकर शान्ति प्राप्त कर सकता है, अकर्मण्य व्यक्ति ही छल से दूसरे के धन का हरण करना चाहता है। वेद दूसरे के धन की इच्छा न करने का आदेश देता है।[24] समाज का कोई व्यक्ति किसी के धन का, किसी के स्वत्व का, किसी के अधिकार का अपहरण करने की इच्छा वाला भी न हो। दूसरे के धन या अधिकार पर लोभदृष्टि, उसके हरण के उपाय एवं प्रयत्न समाज के शान्त मन को अशान्त कर देते हैं। परमात्मा ने भी इस सृष्टि को श्रम से रचा और न्याय रूप सत्य धर्म के आश्रित वित्त धनादि को परमात्मा ने दिया है।[25]

वैदिक समाजवाद में वर्ण व आश्रम का महत्त्वः- 'वर्ण' व्यवस्था पर संक्षिप्त चर्चा प्रारम्भ में भी हुई है पुनरपि कर्माधारित वर्ण व्यवस्था मानव समाज के लिए आवश्यक है। कर्माधारित वर्ण व्यवस्था से समाज में समरसता व सौहाद्र उत्पन्न किया जा सकता है। साथ ही मनुष्य की आयु 100 वर्ष मानकर चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। आश्रम शब्द स्वयं श्रम का सन्देश देता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्योपार्जन कर ज्ञान विज्ञान से सुदृढ़ जीवन की नींव बनती है, गृहस्थाश्रत में उत्तम सन्तान का निर्माण व धन सम्पत्ति अर्जन का दायित्व निर्वाह होता है, वानप्रस्थाश्रत में संसारिक मोह को त्याग कर आत्मोन्नति के साधन स्वाध्याय तप आदि का पालन व संयास आश्रम में संसार के कल्याण की भावना को लेकर जागृति का कार्य करते हुए परिव्राजक बनना वैदिक समाज की त्यागमयी संस्कृति का परिचय देता है।

वैदिक समाजवाद की भव्य इमारत परस्पर प्रेम, सहयोग, रक्षा व निस्वार्थ की नींव पर खड़ी हुई है जिसमें त्यागवाद उसकी आत्मा है। आज संसार में मनुष्य अनेक प्रकार के वादों-वर्गवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि में विभक्त हो गया है। एक वर्ग दूसरे वर्ग पर, एक जाति दूसरी जाति पर, एक विचारधारा के व्यक्ति दूसरी विचारधारा के व्यक्तियों पर, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अपना सामाजिक, जातिगत, भौगोलिक, राजनीतिक, वैचारिक एवं साम्प्रदायिक आधिपत्य स्थापित करने के लिए दूसरे के प्रति अविश्वासी, द्रोही, क्रूर हिंसक और निर्लज्ज बनकर कौन-कौन सी कुटिलता,

पाशविकता, बर्बरता, असभ्यता और अन्याय नहीं कर रहा? अपने को सर्वाधिक सभ्य और सुशिक्षित मानने वाले सभी राष्ट्र अपने हठ व दुराग्रह को दूसरे राष्ट्रों पर लादने और स्वार्थ सिद्धि के लिए रक्त की नदियाँ बहा रहे हैं। हिंसा से शान्ति का स्वप्न लेने वाले समाज में कभी प्रेम का साम्राज्य और एकत्व की भावना जाग्रत नहीं कर सकते इसलिए ऐसी भयावह स्थिति में केवल वैदिक समाज दर्शन ही शान्ति व एकता स्थापित कर समग्र विश्व का कल्याण कर सकता है।

पाद - टिप्पणी

1. समाज का कायाकल्प (आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति पृ0 1)
2. यद् अजः प्रथम संवभूव स हतत् स्वराज्यमियाया।
3. ऋग0 10-90-12 एवं यजु0 31-11
4. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका- सृष्टिविद्याविषय मं0 11 का भाष्य।
5. ऋ0 भा0 भूमिका - वर्णाश्रम विषय पृ0 247।
6. यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्नवः।
   अग्नि यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। अथर्व 10-7-37
7. या दम्पती समनसा सुनुत बआ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा ।। ऋ0 8-31-5
8. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया। पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्ति वाम्।। अथर्व0 3-30-2
9. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। अथर्व 3-30-3
10. पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः।
    पवित्रेण शतायुषा0। यजु0 19/37
11. सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्ये सखायः।
    किल्विषस्पृत्पितुषणिहर्येषामरं हितो भवति वाजिनाय।। ऋ0 10-71-10
    न स सखा यो न ददाति सख्ये। सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
    अपास्माप्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।। ऋ0 10-117-4
12. प्रियं या कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
    प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।। अथर्व 19-62-1
13. समानो प्रपा सह वोऽन्न भागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
    सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतार नाभिमिवाभितः। अथर्व 3-30-6

14. यजु0 29-51

15. यजु0 16-3

16. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।। यजु 19-77

17. व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत। यजु0 4-11

18. अग्ने व्रतपाः। यजु0 50-6

19. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहनृतात् सत्यमुपैमि। यजु0 1-5

20. सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरोगात्।
आप्पोर्हस्कम्भ उपमस्य नीके पथां विसर्गे धरूणेषु तस्थौ। ऋ0 10-5-6

21. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहिश्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र।। ऋ0 7-104-22

22. परोपेहि मनस्पापः किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः।। अथर्व0 6-45-1

23. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजु0 40-2

24. मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। यजु0 40-1

25. श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता। अथर्व 12-5-0

गीतिकाव्य तथा मेघदूत

मुकेश कुमार मिश्र
शोधार्थी
दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली

'गै' धातु से गान अर्थ में 'सापा-गा-या-पचो भावे' सूत्र से स्त्रीत्व की विविक्षा में क्तिन् प्रत्यय लगकर गीति शब्द सम्पन्न होता है।[1] आप्टेकृत संस्कृत हिन्दी कोश, शब्दकल्पद्रुमकोश जैसे कोश ग्रन्थों में भी गीति शब्द सामान्य गीत अर्थ में ही प्रयुक्त मिलता है। वैदिक वाङ्मय में भी गीत के लिए प्रयुक्त शब्दावलियों यथा गीत, गाथा, गायत्र, गीति सामादि में गीति शब्द भी व्यवहृत है।[3] वैदिक साहित्य के साथ-साथ लौकिक साहित्य में भी गीति का गायन अर्थ में प्रकटीकरण कई स्थलों पर मिलता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् की प्रस्तावना में सूत्रधार गीत की प्रशंसा करते हुए कहते हैं - तवास्मि गीतं रागेण हरिणा प्रसभं हृतं।[4] इसी ग्रन्थ के पंचम अंक में विदूषक एवं राजा परस्पर वार्तालाप में गीति शब्द का प्रयोग करते हैं - विदूषक (कर्णदत्वा) भी वयस्य। संगीतशालान्तरे अवधानं देहि। कलविशुद्धाया: गीते: स्वरसंयोग: श्रूयते। ज्ञाने तत्रभवती हंसपादिका वर्णपरिचयं करोति इति। इसी क्रम में राजा आगे पुन: कहते हैं- राजा अहो रागवि गीति:।[5] दोनों ही स्थलों पर प्रयुक्त क्रमश: गीत एवं गीति शब्द समान रचना को ही प्रकट करता है। इसी प्रकार कुमारसम्भव के तृतीय अंक में[6] किरातार्जुनीयम् के प्रथम अंक में[7] तथा अन्य ग्रन्थों में आये गीति शब्द गायन अर्थ में ही प्रयुक्त हैं। संगीत रत्नाकर में गीत की विशिष्टता का प्रतिपादन करने के क्रम में कहा गया है कि ब्रह्मा सामगीति में रत रहते हैं।[8] यहाँ भी गीति गान अर्थ को ही प्रकट करता हैं संगीतरत्नाकरकार ने विशिष्ट प्रकार की गान क्रिया को गीति शब्द से अभिहित किया है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत ने भी विशिष्ट प्रकार के गान अर्थ में गीति शब्द का प्रयोग करते हुए गीति के परम्परागत चार प्रकारों पर प्रकाश डाला है।[9] नाटकों में भावपूर्ण छन्दोबद्धरचनाएँ ही गीति कहलाती हैं।

छन्द:शास्त्र में मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत सर्वाधिक प्रचलित आर्या छन्द के नौ भेदों में से एक भेद गीति भी है। नौ भेद हैं- पथ्या, विपुला, चपला, मुखचपला, जघनचपला, गीति, उपगीति, उद्गीति, आर्यागीति।[10]

अंग्रेजी में गीति अथवा गीत को लिरिक कहा जाता हैं जो यूनानी शब्द लायर का विकसित रूप है। वस्तुतः लायर एक विशेष प्रकार का वाद्य यंत्र था जिस पर एक व्यक्ति द्वारा गाये जाने वाले गान को लिरिक कहा गया।[12] 1586 में विलियम बेब नामक व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत गीति नामक स्वतंत्र काव्यविधा से यूरोपवासियों का जब परिचय हुआ उस समय तक भारत में काव्यशास्त्रीय विवेचना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी।[13] इस भारतीय विचेना में आत्मनिष्ठता या वैयक्तिकता जैसी यूरोपीय अवधारणाओं से भिन्न रस ध्वनि को परमतत्व के रूप में अंगीकृत एवं परिनिष्ठित किया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में गीतिकाव्य के नामस किसी स्वतंत्र विधा का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु यह भी सत्य है कि संस्कृत गीतिकाव्य रूपी निर्झरणी की झंकृति सार्वदेशिक एवं सर्वाकालिक रूप में भारतीय मानस को झंकृत करती रही है। गीतिरहित काव्य की कल्पना भारतीय काव्यकारों के लिए असम्भव है। वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय काव्यजगत् ही गीतिमय हैं जिसका निदर्शन हमें काव्योचित संगीत अर्थात् छन्दोबद्ध रचना के रूप में होता है।

भारतीय ज्ञान की अविरल, अजस्र एवं असंख्य धाराएँ ऋग्वेद रूपी ज्ञानसागर से निःसृत एवं प्रताहमान होती हुई विविध कालों एवं दिग्विगन्तरों में व्याप्त अपने ज्ञान-पिपासुओं की पीपासा का शमन करती रही हैं। न केवल गीति का बीजरूप बल्कि उसका विकसित रूप भी हमें ऋग्वेद में दिखाई देता है। किन्तु भारतीय संगीत सरित् के अनादि स्रोत के दृश्य स्वरूप वा शास्त्रीय स्वरूप की प्रथम अभिव्यञ्जना सामवेद में प्राप्त होती है। कहा भी गया है - गीतिषु सामाख्या।[14] यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण साहित्य, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों में भी किसी न किसी रूप में गीति क दर्शन होते हैं। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, पुराणों तथा प्राचीन मध्यकालीन एवं आधुनिककालीन कवियों की रचनाओं में गीति का सुन्दर निदर्शन मिलता है। रामायण का गान होता था और आज भी हो रहा है। यह बात किसी से छिपी नहीं है। स्वयं महर्षि वाल्मीकि ने भी अपने ग्रंथ में इस बात को स्वीकार किया है। 'यत्रेहस्ति न तत्वचित्' के उद्घोषक महाभारत भी गीति के अनेकानेक उदाहरणों से भरा पड़ा है। पुराणों में विशेषतः श्रीमद्भागवत में वेणुगीत, गोपी गीत, युगल गीत, भ्रमर गीत, गोपिका विरह गीत, भिक्षु गीत, ऐल गीत और भूमि गीत जेसे काव्यगान में गीति का सशक्त रूप दिखाई पड़ता है। कालिदास, घटकर्पर, भर्तृहरि, अमरूक, जयदेव प्रभृति कवियों की रचनाओं में गीति पर्याप्त रूप से पल्लवित एवं

पुष्पित दिखाई पड़ती है। संस्कृत भाषा के साथ-साथ प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि भाषाओं में भी गीति के विकसित रूप हमें प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए प्राकृत में रचित सातवाहन शासक हालकृत गाथा सप्तशती, पाली भाषा में रचित थेर एवं थेरी गाथाएं, अपभ्रंश में रचित सन्देशरासक जैसे ग्रन्थ। दक्षिण भारत के आलवार एवं नयनार जैसे भक्तसन्तों, अनेक मध्यकालीन एवं आधुनिककालीन भक्त सन्तों एवं कवियों की रचनाओं में गीति का सुन्दर एवं जीवन रूप दिखाई पड़ता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ऋग्वेद से विकासोन्मुखी होती हुई सामवेद में शास्त्रीय स्वरूप धारण करती हुई गीति सदियों से सिद्ध कवीश्वरों के हाथों सजती संवरती हुई सहृदय पाठकों के हृदय की रागात्मक भावनाओं को अपनी रसाम्मकता, छन्दोमयता, गेयात्मकता, ध्वन्यात्मकता, प्रभावोत्पादकता एवं हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति के द्वारा हृदयानुरन्जन करती रही है। लालित्य एवं माधुर्य से संवलित प्रेम और सौन्दर्य से लेकर धर्म एवं अध्यात्म तक की विविध भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति गीतिकाव्य में होती है।

अर्नेस्ट राइस, हडसन, हीगेल, अल्फ्रेड ... जैसे पाश्चात्य एवं अनेक प्राच्यविदों के विचारों पर दृष्टिपात करने के उपरान्त गीति के विषय में कुछ तत्व उभरकर सामने आते हैं-

1. रसात्मकता अथवा रसव्यञ्जकता गीतिकाव्य का प्राणतत्व है। भारतीय आचार्यों का विशेष बल इसी पर हैं।

2. गीति के गीतकार की वैयक्तिकता अभिव्यक्त होती है। अर्थात् गीतकार के निजी सुख-दु:ख की अनुभूति क्षणों की रागात्मिका अभिव्यक्ति गीत बन जाती है। पाश्चात्य विद्वानों का विशेष बल इसी आत्मवादिता पर है। संस्कृत गीतिकाव्य में वैयक्तिकता के अन्तर्गत व्यक्ति विशेष के स्थान पर मानवमात्र का ग्रहण होता हैं। वस्तुत: यहाँ इस के प्रमुख कारण होने के कारण भावनाओं का साधारणीकरण हो जाता है जिसमें वैयक्तिक भावनाओं का स्थान सर्वसाधारण की भावनाएं ले लेती हैं।

3. गीति को आकार में संक्षिप्त होना चाहिए जिसमें उसे गाने में अधिक श्रम नहीं करना पड़े और उसका प्रभाव अधिक समय तक जनमानस में बना रह सके।

4. गेयता गीतिकाव्य का प्रमुख तत्व है। गेयता के साथ उसकी अभिव्यक्ति में लयात्मकता का होना भी अनिवार्य है क्योंकि यही लचयात्मकता उसे संगीत से जोड़ती है। संस्कृत गीतिकाव्य में गेयता से अभिप्राय शास्त्रीय संगीत से नहीं है। यहाँ छन्दोबद्धता ही

गेयता है। छन्दोबद्ध गान रसहित काव्यबिम्बों में निमग्न रहता है।

5. गीति जीवन की किसी एक भावदशा का चित्र प्रस्तुत: करती है। वस्तुत गीति का केन्द्रबिन्दु वह भाव ही होता है जिसको विश्लेषित एवं विस्तरित कर गीति का कलेवर निर्मित होता है।

6. भावसान्द्रता की चरमता गेयता के रूप में अभिव्यक्त होती है अर्थात् जब कोमल भावों की अनुभूमि पराकाष्ठा को प्राप्त करती है। तब गीति स्वत: प्रस्फुटित हो जाता है यहाँ कवि की अन्तर्वृति वस्तु एवं विषय के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है जिससे विषय तथा विषयी के भेद स्वत: तिरोहित हो जाते हैं। यही कारण है कि गीतकार के अनुभव गम्य तत्व हमारे हृदय के साथ रागात्मक भाव से जुड़ जाते हैं। अगर गीतकार की अनुभूति में सच्चाई है तो उसकी हंसी संसार को हंसा देती है और उसके आंसू संसार को रूला भी देते हैं।

7. यहाँ अनुभूति की अनिवार्यता के साथ चिन्तन अर्थात् चर्वणा प्रक्रिया का समावेश भी आवश्यक है। जब भावानाओंका उद्रेक होता है। तब बोधवृत्ति गौण बनकर उसके विकास में सहायक होती है।

8. पाश्चात्यों ने कवि की अन्त:प्रेरणा के सहज समुच्छ्वसित रूप को एक प्रमुख गीतितत्व स्वीकार किया है।

9. सरलता, स्वाभाविकता, मार्मिकता, चित्रात्मकता, लालित्य, माधुर्यता आदि गुणों का समावेश गीतिकाव्य में परमावश्यक है। भावसौन्दर्य और कला सौन्दर्य का समुचित सामञ्जस्य यहाँ अपेक्षित है।

10. श्रृंगार, नीति, वैराग्य, भक्ति, प्राकृतिक दृश्यों आदि विविध विषयों का चित्रण यहाँ मिलता है।

आचार्यों ने गीतिकाव्य के दो प्रकार बतलाये हैं - (1) प्रबन्ध गीति और (2) मुक्तक। प्रबन्ध गीति में कथातत्व का सूक्ष्म संक्षिप्त आवरण होता है। जिसके द्वारा जीवन के विविध पक्षों में से किसी एक उज्ज्वल पक्ष को प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित किया जाता है। भावसान्द्रता, भावगाम्भीर्यता, भावनाओं का मार्मिक चित्रण, पदों की अन्योन्याश्रितादि गुण यहाँ स्पष्ट परिलक्षित होते है। वर्णनातिक्रान्तता से मुक्त रहने एवं भावोच्छ्वास की

विद्यमानता के कारण घटनाओं का पर्यावसान इस गाम्भीर्य में होना स्वाभाविक ही है। फलतः कथानक के साथ साथ पाठक स्वतः रसगाम्भीर्यता में निमग्न हो जाते हैं। मुक्तक से भिन्न यहाँ रसात्मक चमत्कृति अथवा काव्यानन्द की प्राप्ति सम्पूर्ण काव्य द्वारा ही होती है।

काव्यशास्त्रियों ने जिसे खण्डकाव्य कहा है वह वस्तुतः प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य ही है। अतः खण्डकाव्य में गीतिकाव्य अन्तर्भूत नहीं है बल्कि गीतिकाव्य के एक भेद प्रबन्ध गीति के रूप में खण्ड कावय गीतिकाव्य के अन्तर्भूत है। वस्तुतः विस्तार की दृष्टि से प्रबन्ध शैली के अन्तर्गत काव्य दो प्रकार के बतलाये गये हैं- महाकाव्य एवं खण्डकाव्य। महाकाव्य की कथावस्तु का कलेवर विशद होता है। जिसमें जीवन के विविध पक्षों का विस्तृत विवेचन होता हैं इसके अन्तर्गत कुछ मार्मिक स्थलों पर गीति के भी दर्शन होते हैं। जो अन्ततः रसयोजना को ही सम्पुष्ट करती है। यह भी सम्भव है कि महाकाव्य गीत्यात्मक हो, किन्तु केवल इसी आधार पर महाकव्य गीतिकाव्य नहीं हो सकता और न ही गीतिकाव्य महाकाव्य हो सकता है। दूसरा भेद खण्डकाव्य है। जिसमें जीवन के किसी एक पक्ष का विवेचन समाहित होता है। यह खण्डकाव्य प्रबन्ध गीति है। कालिदास कृत मेघदूतम् इसी खण्डकाव्य या प्रबन्धात्मक गीति का उदाहरण हैं।

गीतिकाव्य का दूसरा भेद मुक्तक है। मुच् धातु से क्त प्रत्यय लगकर निष्पन्न मुक्त शब्द का अर्थ होता है- छोड़ा हुआ अथवा स्वतंत्र। मुक्त शब्द से संज्ञा अर्थ अथवा ह्रस्वार्थ में कन् प्रत्यय लगकर मुक्तक शब्द बनता है। जिसका अर्थ है एक पृथक्कृत श्लोक जिसका अर्थ स्वयं अपने में पूर्ण हो। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य में रसास्वादन के लिए पूर्वापर प्रसंग का ज्ञान अपेक्षित होता है। इसी प्रकार के पूर्वापर प्रसंग के ज्ञान की अपेक्षा मुक्तक में नहीं होती। मुक्तक में प्रत्येक पद्य अपने आप में पूर्ण होते हैं। लोचनकार का कहना है कि दूसरे से अनालिङ्गित एवं असम्पृक्त मुक्त होता है और यहाँ संज्ञा अर्थ में कन् प्रत्यय से सम्पन्न मुक्तक का अर्थ उनके द्वारा वह पद्य बतलाया गया है जो पद्य पूर्वापर निरपेक्ष होकर भी रसास्वादन कराने में समर्थ होता है। आचार्य विश्वनाथ का भी कहना है इतर पद्य से निरपेक्ष मुक्तक होता है। इन दोनों आचार्यो से पूर्व ध्वनिकार मुक्तकों में रसबन्धाग्रही कवि के लिए रसाश्रितौचित्य की बात करते हुए उद्घोष करते है कि प्रबन्ध काव्यों के समान मुक्तकों में भी रस का अभिनिवेश करने वाले कवि पाये जाते हैं। जैसे अमरूक कवि के आमरुकशतक प्रसिद्ध हैं। संस्कृत गीतिकाव्य का अधिकतम भाग

मुक्तक रूप में रचित हें क्षणिक भावावेश में प्रसूत गीति को बद्ध करने के लिए गुण की दृष्टि से मुक्तक समर्थ होते है। अल्प समय में नगण्य सी सामग्री द्वारा रससृष्टि का अद्‌भुत कार्य इसकी विशिष्टता है। मुक्तक के प्रत्येक पद्य एक दूसरे से सर्वथा मुक्त रहते हुए भी रस और चमत्कोरोत्पादक समग्र विशेषताओं से युक्त होता है। अन्ततः मुक्तक के अन्तर्गत निम्न विशिष्टताओं के दर्शन होते हैं-

1. मुक्तक में प्रत्येक पद्य परस्पर निरपेक्ष होते हुए भी पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है।

2. चमत्कार, गुम्फनवैशिष्ट्‌य तथा ध्वनिगत विशेषताओं से समन्वित होते हुए यह रमणीय होता है।

3. रसचर्वणा काल में रसानुभूति द्वारा हृदययुक्तता के गुण से यह युक्त होता है।

अब गीतिकाव्य के पूर्वोक्त तत्वों को हम मेघदूत के सन्दर्भ में देखते हैं। अलका का यक्ष कुबेर का अनुचर है। कुबेर ने उसे शिवपूजन के लिए कमलपुष्प जुटाने के काम में नियुक्त किया था, जिसमें उसने प्रमाद किया। फलतः उसे दण्डस्वरूप एक वर्ष की विरह यातना भुगतने का आदेश मिला। उसे अलका से सुदूर दक्षिण रामगिरि पर जाना पड़ा जहाँ सजा का एक वर्ष वह अत्यन्त कष्ट के साथ व्यतीत कर रहा हैं। यक्ष की उसी विरहजन्यव्यथा को कालिदास ने मेघूदतम् में अत्यन्त संवेदनशील स्वर दिया है। विरह व्यथाकाल में ही यक्ष को आषाढ़ के नीर भरे मेघ दिखाई पड़ते हैं। जिसके सामने वह किसी तरह खड़ा होकर उसकी ओर देख रहा है। आंखे डबडबा आयी हैं, कण्ठ रुंध गया है। यक्ष की विरह व्याकुलता बड़ी चिन्तनीय है। एक ओर यक्ष की विरह व्याकुलता है तो दूसरी ओर उन्मत्त मेघ रामगिरि के शिखरों पर उतर आये हैं। बड़ी विषम परिस्थिति है। ऐसी परिस्थिति को देखकर तो सुखी जनों के चित्त भी चंचल हो जाते हैं। संग सुख की कामना लहरें मारने लगती है तो फिर उसका क्या पूछना जो प्रिया के गलबाँही का आकांक्षी है मिलन की प्रतिक्षा में विगलित हो रहा है और साथ-साथ वियोगी भी है। वियोग, आलिंगन की आकांक्षा और मिलन की आतुरता से यक्ष की जिन्दगी मानो तमाशा बन गयी है। उसके सामने सब कुछ सूना है। कहाँ जाएँ? क्या करें? उसे कुछ नहीं सूझता। बैचेनी की इस बेला में आश्रय ढूंढता हुआ वह मेघ के प्रति विनयी विनीत प्रार्थी बना हुआ है। यज्ञ को पता है कि मेघ प्राकृतिक पदार्थों के संघात है पर विरह का चरमता ने उसे

इस स्थिति में पहुँचा दिया है कि उसका चेतनाचेतन विवेक ही खो गया है। यही कारण है कि वह मेघ को अपने सन्देश प्रेषण के सर्वसमर्थ दूत मान लेता है। मेघ के समक्ष अपनी निरूपायता प्रदर्शित करता हुआ गिड़गिड़ाहट के साथ प्रिया तक अपने सन्देश भेजने के इच्छुक वह यक्ष निवेदन करते हुए कहता है कि आप भुवन में विख्यात पुष्कर और आवर्त्तक नामक श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हैं, कामरूप हैं, इन्द्र के प्रकृति पुरुष हैं अर्थात् सर्वगुण सम्पन्न हैं दूसरी ओर इस समय भाग्य की विडम्बना से दूरस्थित पत्नीवाला मैं आपका याचक हूँ। अत: आप जैसे व्यक्ति के प्रति की गयी याचना निष्फल नही हो सकती और यदि निष्फल भी हो जाए तो भी अधम के प्रति की गई सफल याचना की अपेक्षा वह निष्फल याचना भी सफल समझी जाएगी। मैं आपके प्रति यह याचना इसलिए भी कर रहा हूँ क्योंकि आप सन्तप्त जनों के रक्षक हैं। इसलिए अलका नामक नगरी में रहने वाली मेरी प्रियतमा तक मेरे सन्देश को पहुँचा दें। वह यक्ष मेघ की पहुँच अपनी प्रेयसी तक बनाने के लिए उसे अपना छोटा भाई बना लेता है और कहता है कि वह यक्षिणी इसलिए जीवित है क्योंकि आशा की डोरी से उसका प्यार भरा हृदय बंधा हुआ है नहीं तो वह फूल सा कोमल हृदय कबका टूट गया होता। अनन्तर यक्ष मेघ के समक्ष अलकापुरी तक पहुँचने के मार्ग, अलकापुरी की विशिष्टताओं, यक्षिणी की मनोदशा, यक्षिणी की मनोदशा, यक्षिणी के पास भेजे जाने वाले सन्देशों आदि का सरल, स्वाभाविक एवं मनोरम चित्रण प्रस्तुत करता है।

मेघदूत की विरह भावना इतनी स्वाभाविकता एवं सहजता के साथ अभिव्यक्त हुई है कि लगता है कि महाकवि का निजी विरह ही अभिव्यक्त हो रहा हो। इस अभिव्यक्ति में अनुभूतिगत तीव्रता के दर्शन होते हैं। भाव इस तरह उमड़े हैं कि कहीं भी कृत्रिमता नजर नहीं आती है। मेघदूत के कथानक पर तो महाकाव्य खड़ा हो सकता था किन्तु महाकवि ने इसकी संक्षिप्तता इसलिए दृष्टिकोण में रखी होगी क्योंकि अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावशाली बनाना था। सारा मेघदूत लयात्मकता से ओत-प्रोत है। वातावरण काव्य संगीत से भरा पड़ा है। सारी प्रकृति यक्ष के हाहाकार के साथ संवेदनशील हो उठी है। यही कारण है कि यक्ष सहानुभूति का पात्र बन गया है। काव्य का अंगीरस विप्रलम्भ श्रृंगार है। यहाँ विप्रलम्भ की मार्मिकता एवं चरमता हमारी हृत्-तन्त्री के तारों को झंकृत कर देती है। विरही यक्ष द्वारा विरहणी प्रियतमा के पास भेजा जाने वाला सन्देश प्राणों को प्राणों से भेजा जाने वाला सन्देश प्रतीत होता है। इन सन्देश की सान्द्र अभिव्यक्ति के द्वारा

यक्ष की आत्मा सभी प्रकार की भौतिक दूरियों की सीमाओं को तोड़कर प्रियतमा की आत्मा से जा मिलती है। कल्पनापक्ष और भावना पक्ष की प्राचुर्यता यहाँ दिखाई पड़ती है। सम्पूर्ण काव्य मन्दाक्रान्ता छन्द में विरचित है जिसकी मन्द मन्थर गति विप्रलम्भ शृंगार के करुण कोमल भावों की अभिव्यक्ति में विशेष सहायक सिद्ध हुई है। अर्थान्तर न्यास उपमादि विविधालंकारों की पुष्टता यहाँ प्रदर्शित हुई हैं। इस प्रकार अनुभूतिगत तीव्रता, भावसान्द्रता, स्वाभाविकता, संक्षिप्तता, रससौष्ठवता, रमणीयता, माधुर्यता, सरलता एवं सुकोमल संगीतमयता आदि गुणों के दृष्टिगोचर होने से निश्चितरूप से यह कहा जा सकता है कि इसमें प्रबन्ध गीति के सम्पूर्ण लक्षण परिलक्षित होते हैं और यह प्रबन्धात्मक गीति का अनुपम, अप्रतिम तथा चूडान्त निदर्शन है जिसको आधार बनाकर कालान्तर में अनेक सन्देश काव्य लिखें गये एवं लिखे जा रहे हैं। इस प्रकार यह प्रबन्धात्मक गीति संस्कृत साहित्य ही नहीं अपितु विश्व साहित्य की अमूल्य धरोहर है।

कुछ आचार्य मेघदूतम् को करुणगीति या एलेजी मानते हैं। किन्तु एलेजी प्रायः निकटस्थ प्रिय पात्र की मृत्यु पर अभिव्यक्त शोकगीत होता है जैसे वर्डसवर्थ की रचना । Slwnler did my spirit seal' जो लूसीशृंखला की रचित कविताओं में लूसी की याद में एक शोकगीत के रूप में है। किन्तु मेघदूत में मृत्युजनित शोक या करुणगीत नहीं है। पक्ष विरह जनित करुण व्यथा विप्रलम्भ शृंगार का अंग मात्र है। मेघदूत का अंगीरस शृंगार है करुणा नही। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मेघदूत वह प्रबन्धात्मक अमर गीति है जिसमें यक्ष का वियोग सजीव हो उठा है। साथ ही इसके माध्यम से उस समय दी गई आज की भौगोलिक जानकारी हिप्पालस एवं पेरिपलुस ऑफ द एरिथ्रियन सी के रचियता जैसे यूनानी भूवेत्ताओं द्वारा प्रदत्त जानकारी से किसी तरह न्यून नहीं है।

संदर्भ संकेत

1. स्था-गा-पा-पचो-भावे 3.3.95
2. आप्टेकृत संस्कत हिन्दी कोश पृ0 345, शब्दकल्पद्रुम कोश पृ0 332
3. भारतीय संगीत का इतिहास पृ0 19
4. अभिज्ञानशाकुन्तलम् प्रस्तावना, प्रथम अंक, पृ0 58
5. वही, पंचम अंक, पृ0 343-345
6. श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव। आत्मेश्वराजा न हि........

भवन्ति। कुमार सम्भव 3.40, पृ0 80

7. पुराधिरूढ़: शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः। किरातार्जुनीयम् 1.38, पृ0 90

8. गीतेन प्रीयते देवः सर्वज्ञः पार्वतीपतिः,

गोपीपतिरनन्तोऽपि वंशध्वनिवशं गतः।

सामगीतिरतो ब्रह्मा वीगासक्त सरस्वती

तस्य गीतस्य महात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।

धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवैक......साधनम्।। सगीत रत्नाकर, खण्ड - 1, अध्याय 1, पृ0 16

9. नाट्यशास्त्र 29वां अध्याय

10. काले कृत हायर संस्कृत ग्रामर, पृ0 473-474

11. संस्कृत गीतिकाव्य का विकास पृ0 5

12. वही पृ0 5

13. वही पृ0 9

14. वैदिक साहित्य का इतिहास पृ0 87

15. खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ0 608

16. खण्डकाव्य यथा मेघदूतादिः। वही पृ0 608

17. आप्टेकृत संस्कृत हिन्दी कोश पृ0 803

18. वही पृ0 803

19. मुक्तकम् अन्येन नालिङ्गिनम्। तस्य संज्ञायां कन्। पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। वही पृ0 764

20 छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेनमुक्तकम्। साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ0 602

21. तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयनोचित्यन्। मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ0 182

22. संस्कृत गीतिकाव्यानुचिन्तनम् पृ0 25

23. कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा......................रामगिर्याश्रमेषु।। मेघदूतम्, पूर्वमेघ, प्रथम श्लोक, पृ01

24. तस्मिन्नद्रौ........गजप्रेसणीयं ददर्श।। वही, द्वितीय श्लोक, पृ0 3
25. तस्य स्थित्वा...........किं पुनर्दूरसंस्थे। वही, तृतीय श्लोक, पृ0 4
26. प्रत्येकासन्ने नमसि- स्वागतं व्याजहम् वही चतुर्थ श्लो. पृ0 5
27. धूमज्योतिः..........चेतनाचेतनेषु।। वहीं, पंचम श्लोक पृ0 7
28. ज्ञातं वंशे.........नाधमे लब्धकामा । वही, षष्ठ श्लोक, पृ0 8
29. सन्तप्तानां.........चन्द्रिकाद्यौतहर्म्या। वही, सप्तम श्लोक, पृ0 9
30. तां चावश्यं............विप्रयोगे रूणद्धि।। वही, नवम श्लोक, पृ0 12

****

Science and Spirituality : A Realm of Supraphysics

Mrs. Neeta Agnihotri and Dr. Sita Tripathi
Ex- Principal, Brahaspati Mahila Mahavidyalya, Kidwai Nagar, Kanpur Nagar
Lecturer, B.Ed Deptt. Akbarpur Degree College, Akbarpur, Kanpur Dehat

Religion, of which spirituality is considered an essential trait, has in the past come into conflict with some of the theories and conclusions of science.Three major areas of conflict are the time of creation, the manner of creation, and the constitution of the human begins, particularly with regard to the question of whether there is anything in the human beging, such as the soul, which survives the death of his physical body. The most conspicuous instance of this conflict is that between creationism and evolution.

Some religions in particular Hinduism, Buddhism and Taoism (and perhaps also Confucianism) have at least sometimes, claimed to have no particular conflict with science, particularly in the areas of the origins of creation and the manner in which it occurred. Hinduism is quite compatible with the idea of evolution, although it would allow that creation takes places out of some primeval matter at the beginning of each cycle of creation sustenance dissolution. These religions are also quite comfortable with science in the matter of the age of the universe.

However these issues are settled between religion and science, there is another area of contact between the two which seems more attractive and amenable to mutual interest and investigation and that is the interface area between science and spirituality. The points of contact here seem to be much closer and more intimate.[1]

Particularly in physics, the search for the singularity' before time as in the physical theories of Stephen Hawking, is an expression of this searh for unity, just as the super implicate order. Professor Bohm claims that the quantum mechanical field theory implies some such notion as his superimplicate order. In his view, the relationship between what he calls the super implicate order and what he calls the implicate order is similar to the relationship between consciousness and matter.

It is our view that, inasmuch as we are studying the mathematical order of the universe, and inasmuch as mathematics is meaning and meaning is a property of consciousness, the scientist is ultimately, like the mystic studying consciousness.

'Copenhagen Interpretation' of Quantum mechanics states, we do not

actually study reality but only our interpretation of reality. It's just that no matter what theory a physicist arrives at it must as a theory preclude the person of the scientist as part of the unity. A theory is a thought, and as a thought, it must preclude the thinker. It is precisely this separation that the mystic is trying to transcend. Generally speaking, religion has problems in accepting the current hypotheses (and implications) of science concerning the constitution of the human being. While science does not explicitly deny any specific teaching of religion (nor is it interested in investigating religious claims) its investigations of the human being are limited to the physical, biological psychological and social or cultural aspects of man. Science does not easily lend itself to a belief in anything else, particularly in a soul which may survive the death of the body.[2]

The belief that a soul is in existence seems to be essential to most religions for a simple reason : besides a commitment to a belief in some supernatural being religion is also committed to a belief in personal morality, with its implications of personal sin and redemption. Without the idea of salvation or liberation and some blessed state that would be associated with it religion would probably not have much appeal. Science is generally resistant to the idea that in the human being there could be a soul above and beyond the body or some entity besides the body and its structures an entity which survives the death of the body for the fundamental reason that scientists cannot conceive of any memory or personality traits existing without the support of the brain of the body. Whatever is psychological (or spiritual) in man must seem to be rooted in the physical. After all physics is the most basic of all the sciences.[3]

Report Sheldrake however is one of the few contemporary scientists who maintain that such a survival of something beyond the body is possible on the ground that it is possible for memory to exist without the support of the brain. Sheldrake argues that just because we do not know of memory without the brain it does not follow that can act as a cannot be any memory outside the brain. For all we know the brain can act as a conduit through which memory (or consciousness) manifests itself munch like the antenna and the wiring in a radio act as conduits for electromagnetic waves to be manifested as sound.

References :

1. Krishnamuriti, U.G.: Mind is a Myth. Dinesh Publications, Goa, 1988. (MM)

2. Weber, Renee: Dialogues with Scientists abd Sages. Routledge and kegan Paul, London and New York, 1987

3. Rishi Kumar Mishra, Mind Power Energy, Published by Rupa and Co.n Dariya Ganj New Delhi.